महाभारत का धर्मसंकट

सूर्यकान्त बाली

आर्थिक समृद्धि और टेक्नोलॉजी के वैभव के साथ समाज में मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण में लाजमी बदलाव आता है। यानी जिन्हें हम सामाजिक मूल्य कहते हैं, सामाजिक मर्यादाएँ मानते हैं, मानवीय आदर्श भी कह देते हैं, अर्थ और टेक्नोलॉजी के वैभव से परिपूर्ण समाज में ऐसे मूल्यों, ऐसे आदर्शों और ऐसी मर्यादाओं के प्रति आग्रह में निर्णायक कमी आती है। इस कमी से आज का अमेरिका ध्वस्त हो रहा है, पश्चिमी यूरोप इसी कमी से त्रस्त हो रहा है तो वैसा बनने को आतुर अपना भारत इस कमी की संभावना से भयग्रस्त हो रहा है। महाभारत कालीन समाज के हमारे 5,000 वर्ष पहले के पूर्वज आर्थिक समृद्धि और टेक्नोलॉजिकल वैभव की विपुलता से पैदा हुई इसी मूल्य-विहीनता और मर्यादा-भंग से ग्रस्त, त्रस्त और ध्वस्त रहे तो इसे आप अस्वाभाविक कैसे मान सकते हैं? मूल्यों और मर्यादाओं की हीनता के परिणाम स्वरूप समाज तनावों की जिस कोख का निर्माण खुद अपने लिए कर लेता है, उस कोख में से महाभारत जैसा महाभयानक महासंग्राम ही जन्म ले सकता था। यह पुस्तक उस महाभारत कालीन समाज पर, उसके तनावों पर और नए व्यक्तित्व की खोज की उस समय के समाज की कोशिशों पर ही एक आलेख है।

संदेश यह भी है कि आज हम ह्यह्यतरह के जिन तनावों को झेल रहे हैं, उनसे पार पाने के लिए क्या हम वैसी ही गहरी कोशिशें कर रहे हैं जैसी कोशिशें हमारे महाभारतकालीन पूर्वजों ने की थीं?

महाभारत
का
धर्मसंकट

महाभारत
का
धर्मसंकट

सूर्यकान्त बाली

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–110002

संस्करण • प्रथम, 2014
मूल्य • तीन सौ रुपए
मुद्रक • भानु प्रिंटर्स, दिल्ली

MAHABHARAT KA DHARMASANKAT

by Suryakant Bali Rs. 300.00
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
e-mail: prabhatbooks@gmail.com ISBN 978-93-5048-581-1

मातृहृदया, ममतामयी
बहन **महिमा** को
मानपूर्वक

पूर्वकथन

जिन्होंने महाभारत ग्रंथ संपूर्ण रूप से पढ़ा है, वे इस बात से सहमत होंगे; जिन्होंने महाभारत ग्रंथ पढ़ा तो नहीं, पर उसे संपूर्ण रूप से या अधिकांश रूप से देखा है, बी.आर.चोपड़ा के टी.वी. धारावाहिक रूप में, वे भी इस बात से सहमत होंगे और जिन्होंने महाभारत कथा के बारे में परंपरावश सुना व जाना और समझा है, वे भी इस बात से सहमत होंगे कि महाभारत कालीन समाज में आर्थिक वैभव अपने शिखर पर था और टेक्नोलॉजी का विकास उस समाज में हैरान कर देनेवाली सीमाएँ छू चुका था।

वैसे टेक्नोलॉजी का विकास और आर्थिक वैभव एक-दूसरे का कारण हैं तो एक-दूसरे का परिणाम भी हैं। आज का अमेरिका देख लीजिए, आज का पश्चिमी यूरोप देख लीजिए या फिर अपना आज का भारत—अमेरिका और यूरोप को मानदंड मानकर उनके जैसे जीवन की प्राप्ति की ओर बढ़ता अपने व्यक्तित्व से विमुख आज का भारत—देख लीजिए, कारण और परिणामवाला यह फॉर्मूला हर स्तर पर लागू होता नजर आता है।

इसे प्रकृति का विधान कहिए या फिर प्रकृति की विडंबना, या फिर कुछ भी कहिए, पर हर उदाहरण का निष्कर्ष यही है कि आर्थिक वैभव और टेक्नोलॉजी के वैभव के साथ समाज में मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण में लाजमी बदलाव आता है। यानी जिन्हें हम सामाजिक मूल्य कहते हैं, सामाजिक मर्यादाएँ मानते हैं, मानवीय आदर्श भी कह देते हैं, अर्थ और टेक्नोलॉजी के वैभव से परिपूर्ण समाज में ऐसे मूल्यों, ऐसे आदर्शों, ऐसी मर्यादाओं के प्रति आग्रह में निर्णायक कमी आती है। इस कमी से आज का अमेरिका ध्वस्त हो रहा है, पश्चिमी यूरोप इसी कमी से त्रस्त हो रहा है तो वैसा बनने को आतुर अपना भारत इस कमी की संभावना से भयग्रस्त हो रहा है। महाभारत कालीन समाज के हमारे 5,000 वर्ष पहले के पूर्वज इसी मूल्य-

विहीनता और मर्यादा-भंग से ग्रस्त, त्रस्त और ध्वस्त रहे तो इसे आप अस्वाभाविक कैसे मान सकते हैं?

मूल्यों और मर्यादाओं की हीनता के परिणामस्वरूप समाज तनावों की जिस कोख का निर्माण खुद अपने लिए कर लेता है, इस कोख में से महाभारत जैसा महाभयानक महासंग्राम ही जन्म ले सकता था। हम जानते हैं कि भारत के समंतपंचक क्षेत्र में, यानी धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जैसा महासमर हमारे पूर्वजों ने लड़ा, वैसा और उस स्तर का महाविनाश उसके बाद इस देश ने फिर कभी नहीं झेला, जब महज 18 दिनों में 20 लाख लोग मारे गए थे। पशुओं और संपदा का महाविनाश इसके अलावा था।

तो, महाभारत काल के मर्यादाहीन और मूल्य-विमुख समाज ने जब इस हालत पर त्राहि-त्राहि की (और यकीनन की) और महासमर के महाविनाश पर जब हमारे पूर्वज बिलख-बिलखकर रो पड़े (और यकीनन रो पड़े, खुद वेदव्यास तक रो पड़े) तो प्रतिक्रिया-स्वरूप क्या हुआ? समाज ने फिर किन मर्यादाओं की ओर कदम बढ़ाया? चिंतन की किस दिशा में मानसिक शांति और बौद्धिक विश्राम की खोज की?

मेरी यह पुस्तक उस महाभारत कालीन समाज पर, उसके तनावों पर और नए व्यक्तित्व की खोज की उसकी कोशिशों पर ही एक आलेख है। मुझे आज से करीब सोलह-सत्रह साल पहले इस विषय ने झकझोरा था। तब 'नवभारत टाइम्स' अखबार में छपी अपनी एक लंबी लेखमाला के कुछ लेखों में इस विषय को मैंने प्रारंभिक तौर पर रखा था। फिर इसी थीम को केंद्र में रखकर कुछ समय बाद 'हिंदुस्तान' अखबार में मेरे 18 लेख छपे। फिर एक लघु-पुस्तिका 'महाभारत पुनःपाठ' इसी थीम को लेकर छपी थी। प्रस्तुत पुस्तक में उस संपूर्ण सामग्री का यथावसर और यथासंभव उपयोग किया गया है। पुस्तक की शक्ल देने के बाद अब मुझे लगता है कि जिस विषय से करीब सत्रह साल पहले मेरा सामना हुआ था, इस लंबे आलेख में उसका परिपाक जैसा हो गया है।

इस विषय-परिपाक में मेरे दोस्त अवनिजेश अवस्थी ने मेरी लगातार मदद की है तो मुझे इस काम में लगे रहने लायक बनाए रखने में जो योगदान मेरे ही दोस्त राजकुमार भाटिया का रहा है, उस पर क्या कहूँ! आभार प्रकट करूँगा तो दोनों दोस्त नाराज हो जाएँगे। आभारी नहीं होऊँगा तो मन पर बोझ रहेगा। इसलिए आभार तो है ही, बिना कहे ही।

—सूर्यकान्त बाली

अनुक्रमणिका

अर्थ और टेक्नोलॉजी की समृद्धि का शिखर काल

अगर किसी व्यक्ति का कद छह फीट हो और डेढ़-दो फीट का कोई आदमी बार-बार कोशिश कर उसे भी अपने बराबर या अपने से थोड़ा छोटे कद का साबित करने की कोशिश करे तो बताइए, अपनी इस कोशिश में उस बौने को कितनी सफलता मिलेगी? बस, इतनी ही कि पहले लोग उसकी बात सुनेंगे, हँस पड़ेंगे, फिर उसकी बात सुनना ही बंद कर देंगे। पर क्या कभी आपने ऐसा कद्दावर व्यक्ति भी देखा है, जो बौने के तर्कों से प्रभावित होकर खुद को इस बौने से भी छोटे कद का मानना शुरू कर दे?

नहीं सुना न? आइए, हम आपको बताते हैं कि हम भारतीय लोग वैसे ही कद्दावर व्यक्ति हैं, जिन्होंने 'महाभारत' नामक प्रबंध काव्य जैसी पूँजी के अपने पास रहते हुए भी पश्चिमी विद्वानों के कुप्रचार के कारण खुद को दरिद्र और निर्धन मानना शुरू कर दिया। हमारे पास एक प्रबंध काव्य है, जिसका नाम है महाभारत। उसमें एक लाख से ज्यादा श्लोक हैं, जो अठारह पर्वों में बँटे हैं। इस महाभारत में मुख्य कथा कुरुक्षेत्र के उस महासंग्राम की है, जो हस्तिनापुर के सिंहासन के लिए कौरवों और पांडवों के बीच लड़ा गया और जो भारत के 10,000 वर्ष के ज्ञात इतिहास का (अर्थात् महाभारत तक के 5,000 साल के इतिहास का) चौथा बड़ा युद्ध था। इससे पहले परशुराम-हैहयों के बीच, राम-रावण के बीच और दाशराज युद्ध नाम से तीन महासंग्राम हो चुके थे। भारतवर्ष के इस चौथे महासंग्राम के वर्णन

के जरिए महाभारतकार ने भारत के अब तक के इतिहास को कई तरह से वहाँ अंकित कर दिया है। कई कथाओं-उपकथाओं के जरिए इस महाग्रंथ में देश के आचार-विचार का, दर्शन और समाजशास्त्र का पूरा विवरण मानो दे दिया गया है। इस देश की माइथोलॉजी, तीर्थ-त्योहार और व्रत-पर्व आदि को भी जगह-जगह प्रस्तुत कर दिया गया है। 'महाभारत' नामक इस अद्‌भुत प्रबंध काव्य में भारत के शरीर और भारत की आत्मा का ऐसा विशद वर्णन, विवरण और विवेचन कर दिया गया है कि इसे कई बार 'रामायण' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हमारी परंपरा में मान लिया जाता है। भाषा, छंद, विषय वस्तु को एकदम नए, नए यानी पिछले करीब 2,000 साल की वेदों की काव्य परंपरा से अलग नए ढंग से पेश करने के कारण 'रामायण' को आदिकाव्य और वाल्मीकि को आदिकवि माना जाता है। पर महाभारत को तो न केवल रामायण के जैसा राष्ट्रीय प्रबंध काव्य माना ही गया है, अपितु धर्मशास्त्र और 'पाँचवाँ वेद' कहकर एक ऐसे सिंहासन पर बिठा दिया गया है कि वैसे सिंहासन पर दूसरे किसी ग्रंथ को आज तक बिठाया नहीं जा सका।

पर अपने उसी महाग्रंथ को और इस महाग्रंथ के कारण मिले अपने ऊँचे कद को हमने अचानक शक और शंका के गड्ढे में इसलिए धकेल दिया, क्योंकि ये शक और ये शंकाएँ पश्चिमी विद्वानों ने पैदा कर दी थीं। पश्चिमी विद्वानों ने पहले कह दिया कि महाभारत युद्ध कभी हुआ ही नहीं था। यह बात नहीं चली तो कहा कि युद्ध तो हुआ था, पर वह एक छोटा सा युद्ध था (मानो कि जैसे गली के दादा अपनी-अपनी गैंग के साथ एक-दूसरे से भिड़ गए हों) और वेदव्यास ने उसे एक महायुद्ध का काव्य-आकार दे दिया। तर्क यह दिया गया कि जिस तरह के हथियारों का और युद्ध-शैली का वर्णन मिलता है, वे सब काल्पनिक ही हो सकते हैं; क्योंकि उन दिनों इतनी विकसित युद्ध कला संभव नहीं थी। फिर एक कुप्रचार यह किया गया कि महाभारत युद्ध और उस पर लिखा महाभारत ग्रंथ रामायण से पहले के हैं, क्योंकि सामाजिक मूल्यों के विकास के हिसाब से महाभारत का यथार्थवादी समाज रामायण के आदर्शवादी समाज से पहले का ही हो सकता था। जब इनमें से कोई कुतर्क और कुप्रचार नहीं चला तो तय कर दिया गया कि महाभारत काल सातवीं सदी ई.पू. है, यानी सिकंदर से 250 साल पहले महाभारत हुआ और महाभारत ग्रंथ 400 ई.पू. में लिखा गया।

क्या आपको ये सभी बातें मानने लायक नजर आती हैं? नहीं न! पर एक फर्क है। पश्चिमी विद्वानों के महाभारत संबंधी किसी भी कुतर्क और कुप्रचार को लोगों के बीच कोई सम्मान तो क्या, कोई जगह भी नहीं मिली। पर हमारे देश के

इतिहासकारों और शोधकर्ताओं ने सभी कुतर्कों को महत्त्वपूर्ण मान लिया और उस पर ऐसी विद्वत्तापूर्ण बहसें शुरू कर दीं कि वे अपने छह फीट के कद को भी पश्चिमी बौनों के प्रभाव में आकर चार-साढ़े चार फीट का मानने लग गए। अब-जब परंपरा और इतिहास को सशक्त और अकाट्य तरीकों से लोगों द्वारा माना गया है तो पश्चिमी विद्वानों के मानसपुत्रों और हमारे भारतीय संशोधकों को भी समझ में आने लगा है और वे भी मानने लगे हैं कि हाँ, आर्य नामक कोई जाति नहीं थी, कि हम भारतीय अपने देश में कहीं बाहर से नहीं आए, कि महाभारत युद्ध और ग्रंथ आज से 5,000 साल पहले के हैं कि रामायण ग्रंथ और राम-रावण युद्ध आज से 6000 साल पहले का है, कि वैदिक मंत्रों की रचना मनुमहाराज के साथ ही 8000 वर्ष पहले शुरू हो चुकी थी।

परंतु पश्चिमी कुप्रचार और उससे प्रभावित भारतीय संशोधकों को एक बात बताना अभी भी बाकी है। प्रचार किया गया कि महाभारत इतना बड़ा ग्रंथ है कि जिसे एक व्यक्ति लिख ही नहीं सकता। इसका सदियों में क्रमशः विकास हुआ है। पश्चिमी विद्वानों की एक शैली रही है कि भारत के बारे में पहले एक कल्पना करो, फिर कल्पना को सच बताकर, उसके लिए सच्चे-झूठे प्रमाण जुटाकर उसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में पेश कर दो। आर्य नामक जाति की कल्पना को भी कभी इसी तरह ऐतिहासिक तथ्य जैसा बना दिया गया था। हम भारतीयों के वैदिक कालीन पूर्वजों को भी भारत से कहीं बाहर दूसरे देश से आने की कल्पना (यानी झूठ) को इसी तरह सच बनाकर हमें कभी परोस दिया गया था। यही हाल महाभारत का किया गया। कहा गया कि महाभारत तीन अवस्थाओं में क्रमशः विकसित हुआ है। पहली अवस्था में ग्रंथ का नाम था 'जय काव्य' और इसमें 8,800 श्लोक थे। दूसरी अवस्था में इसका विकास हुआ तो इसका नाम हो गया 'भारत काव्य' और इसे बढ़ाकर 24,000 श्लोकों का कर दिया गया था। तीसरी अवस्था में यह बढ़कर 1,00,000 श्लोकों का महाभारत हो गया।

क्या दुनिया में कभी किसी किताब का नाम ऐसे तीन बार बदलता और फिर भी समाज में इस कदर मान्यता प्राप्त होता आपने देखा है? नहीं, पर पश्चिमी विद्वानों ने चाहा कि हम ऐसा मानें और इसके लिए उन्होंने 'महाभारत' के अंदर प्रमाण ढूँढने का नाटक भी किया। महाभारत का पहला श्लोक है—'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्, देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्।' अर्थात् नारायण, नरोत्तम नर और देवी सरस्वती को प्रणाम कर जय का उच्चारण करना चाहिए। इस आधार पर कह दिया गया कि महाभारत का नाम शुरू में 'जय' था। महाभारत में

एक जगह (आदिपर्व 1.81) आता है—अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च, अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा। अर्थात् 8,800 श्लोकों के अर्थ के बारे में मुझे (यानी व्यास को) और शुकदेव को तो पता है, पर संजय को शायद उन श्लोकों का अर्थ पता नहीं है। इस पर कह दिया गया कि 'जय' नामक मूल काव्य में 8,800 श्लोक थे। पर पश्चिमी विद्वानों को दो बातें पता नहीं थीं। एक कि यह जय वाला श्लोक भारतीय परंपरा का एक सामान्य मंगलाचरण है, जो कई पुराणों के शुरू में भी आता है और कि ये 8,800 श्लोक महाभारत के कूट श्लोक या कठिन श्लोक हैं, जिनका अर्थ व्यास और शुक तो सहज रूप में जानते थे, पर संजय को जानने में कठिनाई आती थी।

महाभारत के कथित विकास की पहली अवस्था के तर्कों का हाल तो यह है। अब जरा दूसरी अवस्था देख लें। 'महाभारत' के ही एक श्लोक में कहा है—चातुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् (आदिपर्व, 1.102)। अर्थात् भारत में 24,000 श्लोक हैं। इसी पर हल्ला कर दिया गया कि देखो, महाभारत का नाम पहले भारत था और उसमें 24,000 श्लोक थे। पर कैसे समझाएँ पश्चिमी विद्वानों को कि भारतीय परंपरा भारत और महाभारत को वैसे ही एक किताब के दो नाम मानती है जैसे मानस और रामचरितमानस एक ही किताब के दो नाम हैं। और कैसे समझाएँ उन्हें कि ये 24,000 श्लोक उस कथा भाग के माने गए हैं, जो कौरव-पांडवों की है, जबकि शेष श्लोकों में कथा के अलावा वह सामग्री है, जिसके कारण महाभारत को धर्मशास्त्र और पाँचवाँ वेद (भारतं पंचमो वेदः) कहा जाता है (आदिपर्व, 1.101,2,3)।

पर यह सच है कि महाभारत अकेले वेदव्यास ने नहीं, उनकी पूरी टीम ने लिखा है। उसमें कुछ हिस्से कालक्रमानुसार प्रक्षेप के रूप में जुड़े भी हैं। पर उसका अर्थ वह नहीं जो पश्चिमी विद्वान् कहते हैं। तो अर्थ क्या है?

'महाभारत' के बारे में एक अजीब सी अफवाह सारे देश में फैली हुई है और यह अफवाह कोई आज नहीं फैली, बहुत पुरानी है; शायद सदियों से फैली है। क्या है वह अफवाह? यह कि अगर कोई व्यक्ति संपूर्ण 'महाभारत' पढ़ लेगा तो उसके चित्त में विक्षोभ और उसके परिवार में कुछ-न-कुछ अशुभ जरूर होगा। इस अफवाह के डर के मारे हुआ यह कि प्रायः लोग 'महाभारत' का कभी अपने घर में वैसा धार्मिक पाठ या अनुष्ठान नहीं करवाते जैसे अन्य प्राचीन ग्रंथों का करवाया जाता है। अठारह पर्वों वाली महाभारत के अंत में एक बहुत लंबा परिशिष्ट जुड़ा हुआ है, करीब 20,000 श्लोकों का। इस परिशिष्ट का नाम है—हरिवंशपुराण।

इसका नाम तो पुराण है, पर अठारह महापुराणों में इसकी गिनती नहीं होती। परिशिष्ट तो यह बेशक महाभारत का है, पर शेष 'महाभारत' से अलग इसको स्वतंत्र धार्मिक मान्यता मिली है और जीवन के कुछ विशेष कष्टों, खासकर निस्संतान होने के कष्ट, को दूर करने के लिए 'हरिवंशपुराण' के पाठ और अनुष्ठान का विधान कर दिया गया है। और लोग इस पर आचरण भी करते हैं।

सवाल है, महाभारत के बारे में ऐसी अफवाह क्यों फैली है? क्यों नहीं इसके धार्मिक अनुष्ठान और पाठ का वैसा ही विधान कर दिया गया जैसा उसी के अंगभूत अंश 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' का और इसके परिशिष्ट 'हरिवंशपुराण' का किया गया है? विडंबना यह है कि महाभारत को धर्मशास्त्र माना गया है और इसे पाँचवें वेद के श्रेष्ठतम सिंहासन पर बिठाया गया है। पर इसके बावजूद इसे पूरा पढ़ने के बारे में अजीबोगरीब डर पैदा कर दिया गया है। चूँकि इसका कोई विशेष कारण नजर नहीं आता, इसलिए एक ही बात समझ में आती है कि महाभारत बेशक हमारा राष्ट्रीय महाकाव्य है, हमारा धर्मशास्त्र है; फिर भी, सच यह है कि इसकी कथा पढ़कर वैसा सुख नहीं मिलता, वैसी शांति नहीं मिलती, वैसा आराम नहीं मिलता, जैसा रामायण पढ़ने के बाद मिलता है। 'महाभारत' में भयानक युद्ध है। भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्वों में सिर्फ युद्ध है, मार-काट है, त्राहि-त्राहि है। युद्ध तो रामायण में भी है। पूरा लंकाकांड युद्धमय है तो इससे पहले के कांडों में भी, खासकर अरण्य और सुंदर कांडों में युद्ध, संघर्ष और विनाश की कथाएँ लिखी पड़ी हैं। पर एक फर्क फिर भी है और सभी भारतवासी इस फर्क को जानते हैं। 'रामायण' के युद्ध प्रसंगों को पढ़कर एक तसल्ली मिलती है कि दो पक्ष हैं—एक न्याय का पक्ष और दूसरा अन्याय का। दोनों में संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में न्याय के पक्ष की विजय हुई। इसलिए एक श्रेष्ठतम काव्य के रूप में वाल्मीकि रामायण पढ़ने के बाद पाठक को स्पष्ट संदेश मिल जाता है कि राम जैसा बनना है, रावण जैसा नहीं। पर महाभारत के संघर्ष को पढ़ने के बाद क्या वैसा संदेश मिल पाता है? कौरव हारे और पांडव जीते। पर क्या इसके बावजूद पाठक को संदेश मिल पाता है कि धृतराष्ट्र जैसा नहीं, पांडु जैसा बनना है; दुर्योधन जैसा नहीं, भीम जैसा बनना है, दु:शासन जैसा नहीं, अर्जुन जैसा बनना है? पूरे महाभारत में अनुकरणीय पात्र कोई कम नहीं हैं। चार-पाँच तो हैं ही—भीष्म, कृष्ण, युधिष्ठिर, द्रौपदी और विदुर। पर कृष्ण को छोड़ सभी के साथ दो दिक्कतें हैं। एक तो ये सभी बड़े ही कठिन हैं। इतना उलझे हुए हैं कि इन्हें कैसे अनुकरण करें, पाठक को वैसा स्पष्ट नहीं होता जैसा भरत, सीता और हनुमान का अनुकरण करने में पाठक को कोई

खास दिक्कत नहीं आती। और फिर, ये पात्र युद्ध में से निखरकर नहीं आए, जिससे और कुछ नहीं तो इनका विजयी चरित्र ही अनुकरणीय बन जाता। कृष्ण का जीवन और जीवन-दर्शन इतना विराट् व अद्भुत है कि वे तो ईश्वर एवं पूर्णावतार हो गए। पर शेष पात्रों का क्या अपने जीवन में उतारा जाए, यह पाठक को इदमित्थं समझ में नहीं आ पाता। बेशक इन सभी पात्रों का चरित्र, वृत्तांत और घटनाक्रम हमारे मन के तनाव को कम नहीं करता, बढ़ाता जरूर है। कोई भी पात्र (कृष्ण और युधिष्ठिर के अपवादों को छोड़कर) धर्म और मर्यादा का कोई स्पष्ट मानदंड कायम नहीं कर पाता। पूरा महाभारत युद्ध न्याय और धर्म का सीधा संदेश नहीं दे पाता; बल्कि उलझनें ज्यादा पैदा करता है। इसलिए प्रश्न पैदा हुआ होगा कि षड्यंत्रों, कुटिलताओं, पापाचारों, धोखाधड़ियों और मार-काट से भरा 'महाभारत' क्यों पढ़ा जाए? पर चूँकि महाभारत इतना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि इसे पढ़े बिना कोई भारतीय रह नहीं सकता, इसलिए इसे थोड़ा 'गेप' देकर, आगे-पीछे करके पढ़ने की बात कही गई। कहते हैं, महाभारत पूरा लिख देने के बाद खुद वेदव्यास भी इतने उदास हो गए कि वे नारद के पास कुछ उपाय पूछने गए, जिन्होंने उनसे कहा कि कृष्ण के लीला-चरित्र का वर्णन करो तो तुम्हारी उदासी दूर हो जाएगी। (भागवत महापुराण, प्रथम स्कंध, अध्याय 4 तथा 5) इस पर वेदव्यास ने भागवत महापुराण लिखा और उन्हें शांति मिली।

शायद इसी में इस बात का मर्म छिपा है कि क्यों वेदव्यास ने एक शुद्ध महाकाव्य को धर्मशास्त्र और इतिहास ग्रंथ में बदल दिया और महाभारत को वैसा बनाकर अद्भुत कवि वेदव्यास ने जिस नई काव्य-शैली का प्रवर्तन किया, वह इतनी मान्य और लोकप्रिय हो गई कि आगे चलकर सारी पुराण परंपरा ने उस शैली का अनुकरण किया। इतिहास शैली को व्यास ने इस तरह पूरे 'महाभारत' में पिरोया कि जहाँ भी उन्हें बातचीत और घटनाक्रम के दौरान संभव नजर आया, उन्होंने वहाँ प्राचीन इतिहास को, अपने से 3,000 साल पहले हुए मनु के परवर्ती ज्ञात इतिहास को और मनु से पहले के माइथोलॉजी बन चुके इतिहास को पिरो दिया, गूँथ दिया। व्यास बहुत लंबा जीवन जिए थे। इसलिए अचरज नहीं कि महाभारत युद्ध के बाद की भी अनेकानेक घटनाओं को वे अपने प्रबंध काव्य में पिरोते चले गए और ग्रंथ को महत्त्वपूर्ण बनाते चले गए। महाभारत को धर्मशास्त्र बनाने का काम वेदव्यास ने इस तरह से किया कि भारतीय जीवन-मूल्यों को, जीवन-शैली को, यहाँ की विचारधाराओं को उन्होंने अवसर मिलते ही महाभारत में यहाँ-वहाँ लिख दिया। नतीजा यह हुआ कि जहाँ महाभारत में रामोपाख्यान,

नलोपाख्यान, शकुंतलोपाख्यान जैसी कथाएँ उसके इतिहास-चरित्र को निखारती हैं वहाँ शांतिपर्व, अनुशासनपर्व जैसे अंशों से इस प्रबंध काव्य का धर्मशास्त्र चरित्र उभरकर सामने आ गया है। 'गीता' में उस समय की तमाम दार्शनिक विचारधाराओं का अद्‌भुत समावेश कर दिया गया है। इस तरह महाभारत में इतना कुछ समाविष्ट कर दिया गया है कि एक कहावत चल पड़ी कि महाभारत में जो लिखा है, वही बाकी जगहों पर भी लिखा मिल जाएगा और अगर कोई वर्णन महाभारत में नहीं है तो वह अन्यत्र भी कहीं नहीं मिल पाएगा—यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् (स्वर्गारोहणपर्व, 5.50)।

इतने विशालकाय और विराट् महाग्रंथ को देखकर पश्चिमी विद्वानों की बुद्धि ऐसी चकराई कि वे मान ही नहीं पा रहे थे कि इतनी बड़ी किताब किसी एक ही व्यक्ति की रचना हो सकती है। इसलिए वे महाभारत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना में खो गए। जाहिर है कि इतना बड़ा ग्रंथ किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकता। वेदव्यास ने जो 'महाभारत' लिखा, उसका शरीर बढ़ाने में उन्हें अपने साथियों से मदद मिली। वेदव्यास की इस टीम में उनके एक शिष्य वैशंपायन थे। वेदव्यास के पुत्र शुकदेव भी इस टीम के एक अद्‌भुत और महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। जिन संजय ने धृतराष्ट्र को महाभारत युद्ध का पूरा वृत्तांत सुनाया था, वे भी वेदव्यास की महाभारत टीम का एक अंग थे। इन सबने मिलकर 'महाभारत' लिखा और उसमें जोड़ा और उसका कलेवर 1,00,000 श्लोकों से भी ज्यादा तक पहुँचाया। महाभारत में आगे चलकर प्रक्षेप अंश नहीं जोड़े गए, ऐसा हमारा कोई प्रस्ताव नहीं है। पर महाभारत मुख्य रूप से और लगभग पूर्ण रूप से वेदव्यास और उनकी टीम ने लिखा, इसमें भी कोई दो राय नहीं।

पश्चिम के विद्वानों ने जब हमारे देश के सबसे पुराने प्रबंध काव्यों 'रामायण' और 'महाभारत' को पढ़ना शुरू किया तो उन्होंने उनके बारे में दो तरह की राय और भी हमारे दिलों में बिठाने की कोशिश की। एक, कि ये दोनों महाकाव्य इतिहास नहीं, कोरी गप हैं, काल्पनिक कथाएँ हैं और दो, हद-से-हद भारत के लोगों के बीच इनका धार्मिक महत्त्व ही हमेशा रहा है। पश्चिम के विद्वानों की इस दो तरह की राय को हम इस आधार पर स्वीकार कर सकते हैं कि उन्हें ये दोनों कथानक तरीके से समझ ही नहीं आए, जो कि अस्वाभाविक नहीं। इसलिए कि जिसे पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'एपिक' कहा जाता है, उस कसौटी पर कसने के बजाय उन्होंने इन दोनों प्रबंध काव्यों को सीधे-सीधे हमारे धार्मिक मानस से जोड़ दिया। राम और कृष्ण हमारे दिलों में ईश्वर के अवतारों के रूप में प्रतिष्ठित

हैं। कृष्ण के बारे में तो यहाँ तक हो गया है कि हमने उन्हें साक्षात् ईश्वर ही मान लिया है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। इसी भारतीय मानस को ही प्रमुखता देते हुए उन्होंने इन दोनों एपिक काव्यों को हमारे धार्मिक ग्रंथ मान लिया। वैसा मानने का उनका दूसरा कारण शुद्ध राजनीतिक और कूटनीतिक ही हो सकता है। अंग्रेजों की कुटिल नीतियों के सैकड़ों नमूने हमने ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में आने से लेकर सन् 1947 में अंग्रेजों के अपने देश लौट जाने तक देखे हैं। हमारे देश के साहित्य, भाषाओं, ज्ञान, विज्ञान, इतिहास आदि के साथ उन्होंने कैसी-कैसी कूटनीतिक खिलवाड़ें की हैं, यह हम भलीभाँति जानते हैं। इसी इरादे से उन्होंने इन दोनों महाकाव्यों को हमारे धार्मिक ग्रंथ कहकर हमें हमारे इतिहास-बोध से काटने की और दुनिया की निगाह में इन दोनों महाकाव्यों को धार्मिक ग्रंथ मात्र के रूप में जतलाने की कोशिश की हो तो इसमें क्या आश्चर्य?

पर अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शासनकाल के दौर में ही प्रबुद्ध भारतीय विद्वानों ने 'रामायण' और 'महाभारत' को ऐतिहासिक महाकाव्य यानी वास्तव में घटी घटनाओं पर, वास्तव में घटे इतिहास पर लिखे दो ऐतिहासिक प्रबंध काव्यों के रूप में ही इनकी लगातार प्रतिष्ठा की। दूरदर्शन पर जब एक के बाद एक क्रमशः रामायण और महाभारत को धारावाहिक के रूप में दिखाया गया तो भारत के लोगों के मन में इन घटनाओं की ऐतिहासिकता में निष्ठा और मजबूत हो गई। इन दोनों महाकाव्यों के ऐतिहासिक स्वरूप के साथ एक और खास बात जुड़ी हुई है कि ये दोनों ग्रंथ अपने घटनाक्रम की समकालीन रचनाएँ हैं और इनके लेखक इन घटनाओं का महत्त्वपूर्ण हिस्सा अपने-अपने स्तर पर खुद भी रहे हैं। हम 'रामायण' और 'महाभारत' को इसी आधार पर घटित इतिहास की समकालीन रचनाएँ मान रहे हैं, क्योंकि वाल्मीकि और व्यासदेव खुद भी अपने ग्रंथों के वर्णित घटनाक्रम में महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। राम द्वारा वन में भेज दिए जाने के बाद सीता वाल्मीकि के आश्रम में ही रही थीं। लव-कुश की शिक्षा और अस्त्र-शिक्षा खुद वाल्मीकि के आश्रम में हुई थी। सीता के पृथ्वी-प्रवेश की घटना स्वयं वाल्मीकि की आँखों के सामने तब हुई थी, जब वे उन्हें लेकर राम की राजसभा में इस आग्रह के साथ आए थे कि सीता को पुनः अपने पति के घर में रहना ही चाहिए। वाल्मीकि के अपने कथन के मुताबिक, उन्होंने नारद से बात करने के बाद 'रामायण' महाकाव्य तब लिखना शुरू किया था, जब राम का चौदह वर्ष का वनवास और वहाँ युद्ध में रावण का वध हो जाने के बाद अयोध्या में राज्याभिषेक हो गया—प्राप्त राज्यस्य रामस्य (वा.रामा., बालकांड, सर्ग-4)। और जब सीता के निष्कासन में पृथ्वी-

प्रवेश और राम के सरयू-प्रवेश तक का हृदयवेधी घटनाक्रम वाल्मीकि की आँखों के सामने ही घटित हुआ तो उन्होंने अपने महाकाव्य का उत्तरकांड लिखने का संकल्प किया, जबकि उससे पहले वे युद्धकांड तक लिखकर और राम के राज्याभिषेक का वर्णन कर ग्रंथ की समाप्ति के चिह्न स्वरूप फलश्रुति लिख चुके थे। वैसी फलश्रुति उन्होंने उत्तरकांड के अंत में एक बार फिर से लिखी। और व्यास? वे तो हमें 'महाभारत' में कदम-कदम पर मिल जाते हैं।

चूँकि रामायण और महाभारत अपने-अपने समय में घटित घटनाओं पर लिखे समकालीन प्रबंध काव्य हैं, जहाँ उनके रचयिता स्वयं भी पात्र हैं, इसलिए जाहिर है कि वाल्मीकि और व्यास की क्रांतदर्शी आँखों ने अपने समय के समाज को गहरी पारखी निगाहों से देख-परखकर ही घटनाक्रम को महाकाव्य का रूप दिया। सामान्य रूप से घटनाओं पर कविता, बेशक खूब लंबी कविता, लिख देने के बावजूद उसका वैसा असर जनमानस पर पड़ ही नहीं सकता, जैसा असर 'रामायण' और 'महाभारत' का भारतीयों के मानस पर अमिट रूप से, खूब गहरे से पड़ा है। तो क्या थी इन कवियों की दृष्टि? क्या थी इन कवियों की अपने समय पर टिप्पणी? क्या था इन कवियों का अपने समकालीन इतिहास का आकलन? बेशक रामायण और महाभारत दोनों में समाज संपन्न है, पर महाभारत का समाज वित्त और टेक्नोलॉजी की दृष्टि से इतना समुन्नत है कि वह हमें अपने आज के समय जैसा लगता है। अगर एकदम सही भाषा में बोला जाए तो हम कह सकते हैं कि वित्त और अर्थ की दृष्टि से और टेक्नोलॉजी की दृष्टि से महाभारत हमें आज के पश्चिम जैसा या भविष्य के उस भारत जैसा, जिसे हम दोनों दृष्टियों से पश्चिम जैसा बनाने में जुटे हैं, लगता है। तो कैसा था महाभारत का समाज? क्या थी महाभारत कालीन हमारे पूर्वपुरुषों की मूल्य-व्यवस्था? चूँकि हमें लगता है कि महाभारत कालीन समाज हमारी ही तरह आर्थिक दृष्टि से समुन्नत था और उस समय की टेक्नोलॉजी हमारे समय की टेक्नोलॉजी की ही तरह समुन्नत थी, इसलिए आश्चर्य नहीं कि उस समाज में मूल्यों को लेकर वैसा ही संकट था, मूल्यों की मर्यादा के प्रति वैसा ही उपेक्षा का भाव था, मूल्यों की गिरावट वैसी ही थी जैसी हम आज पश्चिम में देख रहे हैं और पश्चिम जैसी आर्थिक और टेक्नोलॉजी संबंधी उन्नति चाहनेवाले अपने देश में भी देखना शुरू हो चुके हैं। महाभारत चूँकि इतिहास है और उसकी हर घटना अपने आप में एक घटना है, कोई कल्पना नहीं, इसलिए महाभारत काल के समाज के सामाजिक मूल्यों का विश्लेषण हम सिर्फ उन्हीं घटनाओं के आधार पर कर सकते हैं, जो घटनाएँ जमीन

पर घटित हुई थीं, बेशक कुछ लोग ऐसी घटनाओं को चमत्कारों या आश्चर्यों के मिर्च-मसाले के साथ मिलाकर लोगों को परोसने का शौक रखते हों, पर अपना वैसा शौक कभी रहा ही नहीं और अगर किसी का वैसा शौक हुआ भी करे तो आज के प्रबुद्ध पाठक उसे भला क्यों स्वीकार करेंगे!

पर एक स्थिति मानने को हम बाध्य हैं। चूँकि चमत्कारों का वर्णन करने में लीन कवि कभी भी व्यास और वाल्मीकि जैसा क्रांतदर्शी नहीं हो सकता, इसलिए हम उन घटनाओं को भी व्यास द्वारा तर्कदृष्टि से लिखी घटनाएँ मानकर ही चल रहे हैं, जो हमें आज के हिसाब से थोड़ा दिमाग के ऊपर से गुजरती नजर आ सकती हैं। कोई भी दो काल-खंड रेल की लाइनों की तरह समांतर और एक सरीखे नहीं हो सकते। उनका स्वरूप और संदेश एक सरीखा हो सकता है; पर घटना की काया भी एक सरीखी हो, जरूरी नहीं। मसलन, आज हमारे पास अणु-अस्त्र, एटम बम है तो उस वक्त उसका समानधर्मा ब्रह्मास्त्र था। दोनों के निर्माण में सामग्री जुदा-जुदा है, होगी ही, क्योंकि दोनों का निर्माण अलग-अलग कालखंड में प्रयोग में लाई जाने वाली अलग-अलग टेक्नोलॉजी की मदद से हुआ है। पर ब्रह्मास्त्र को न तो हम चमत्कार मान सकते हैं, न कोई आश्चर्य ही। उसे सिर्फ युद्ध टेक्नोलॉजी का महाभारत कालीन उत्पाद भर मान सकते हैं और यही व्यास-दृष्टि है। इसलिए यही कहना तार्किक होगा कि कैसे आज की तरह महाभारत काल का समाज आर्थिक दृष्टि से और टेक्नोलॉजी की दृष्टि से परम समुन्नत था और यह स्थापना हम उन्हीं घटनाओं व परिस्थितियों के आधार पर करेंगे, जिनका जैसा वर्णन क्रांतदर्शी कवि व्यासदेव ने अपने प्रबंध काव्य महाभारत में किया है।

वेदव्यास ने अपना प्रबंध काव्य महाभारत इसलिए नहीं लिखा था कि वे अपने समकालीन भावी पाठकों को अपने युग की आर्थिक समृद्धि से परिचित कराएँ। वैसा कराना किसी भी कवि का, खासकर वेदव्यास जैसे क्रांतदर्शी कवि का, उद्देश्य हो भी नहीं सकता। पर कवि जो भी करता है, उसमें उसके अपने समय के संदर्भ आ ही जाते हैं। इतने सहज और स्वाभाविक तरीके से आ जाते हैं कि पाठक उन्हें बिना रेखांकित किए भी उनका आनंद ले सकता है। फिर वेदव्यास ने तो जिस कथानक को आधार बनाकर अपना प्रबंध काव्य लिखा वह तमाम कथानक उनके अपने जीवनकाल में घटे घटनाक्रम पर ही आधारित था और घटनाक्रम भी वह, जिसमें वे स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण, बेशक निर्विकार और निर्लिप्त किस्म के पात्र थे। इसलिए उनके प्रबंध काव्य में उनके अपने समय का समाज अपने पूरे वेग और जीवंतता के साथ रूपायित हुआ है। और समाज

रूपायित हुआ है तो समाज की आर्थिक समृद्धि का यत्र-तत्र वर्णन महाकवि की लेखनी से कैसे छूट जाता?

पर फुटनोट के तौर पर एक बात हमें कतई नहीं भूलनी चाहिए। वेदव्यास जिन पात्रों और चरित्रों द्वारा घटित घटनाओंवाले कथानक को प्रबंध काव्य का आकार दे रहे थे, वे पात्र और चरित्र ग्राम समाज या मध्यवर्गीय शहरी समाज के नहीं थे। वे राजमहलों में रहनेवाले, राजसी ठाट-बाटवाले राजघरानों के पात्र और चरित्र थे, जो एक राजप्रासाद से दूसरे राजप्रासाद की यात्राएँ करते रहते हैं या अपने-अपने राजमहलों में तरह-तरह के यज्ञ और वैसे ही दूसरे आयोजन करते रहते हैं या फिर अपने-अपने अहंकारों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध छोटे-बड़े युद्ध करते रहते हैं। इसलिए महाभारत में गाँवों और शहरों का जितना भी वर्णन है, उससे कहीं ज्यादा वर्णन राजप्रासादों और उनसे जुड़ी घटनाओं का है। और ये राजप्रासाद किस कदर समृद्धि के छोटे-बड़े द्वीप जैसे हमारे सामने आते हैं, वेदव्यास द्वारा किए गए ये तमाम विवरण दिलचस्प और पढ़ने लायक हैं।

'महाभारत' में जो राजप्रासाद सबसे नया-नया बना है, वह है इंद्रप्रस्थ का राजप्रासाद, जिसे मय नामक राजमिस्त्री ने वहाँ बनाया था जहाँ कभी खांडव वन था और जिस खांडव वन को जलाकर समतल जमीन में बदल दिया गया था। महाभारत में पूरे राजप्रासाद का वर्णन नहीं है, राजमहल के भीतर के सिर्फ उस सभास्थल का वर्णन है, जहाँ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शामिल होने के लिए आए अनेक राजा-राजन्य इकट्ठा हुए थे, जहाँ कृष्ण की अग्रपूजा हुई थी और अपनी अग्रपूजा से पहले कृष्ण ने शिशुपाल का वध कर दिया था। वेदव्यास द्वारा किए गए उस सभास्थल के वर्णन से ही आप न केवल पूरे राजप्रासाद के वैभव का अंदाजा लगा सकते हैं, अपितु उस समाज की समृद्धि की एक तसवीर भी आपके दिमाग में खिंच सकती है। वह सभास्थल दस हजार हाथ लंबा-चौड़ा था, दस हजार हाथ! उसी में सभास्थल के अंदर ही वृक्ष लहलहा रहे थे और करीब 8,000 सेवक उस सभास्थल में बैठनेवाले राजन्यों की सेवा में उपस्थित थे। अब 8,000 सेवकों का स्टाफ बैठे-ठाले मुफ्त की रोटियाँ तो तोड़ नहीं रहा होगा। बाकी अंदाज आप खुद ही लगा सकते हैं। वहाँ की सीढ़ियाँ मणि-जड़ित, पानी और जमीन का फर्क खत्म कर देनेवाला फर्श, बीचोबीच एक सरोवर यानी स्विमिंग पूल और सभास्थल के चारों ओर हरे-भरे उद्यान। इस पर भी तुर्रा यह कि मय और उसकी टीम ने सभास्थल समेत पूरे राजप्रासाद का निर्माण चौदह महीने में

पूरा कर दिया था। इसी से आप बनानेवाले की कारीगरी, भवन सामग्री की प्रचुरता और संसाधनों की गति की तीव्रता का अनुमान लगा लीजिए और फिर सोचिए कि वेदव्यास के समय देश में आर्थिक समृद्धि का आलम क्या रहा होगा। (महाभारत, सभापर्व, अध्याय 3)

इंद्रप्रस्थ का राजप्रासाद कोई वैसा अकेला नहीं था, बल्कि राजप्रासादों की श्रृंखला में नवीनतम था। राजधानी हस्तिनापुर के धृतराष्ट्र-आवास की भी आप चाहें तो इसी आधार पर कल्पना कर सकते हैं। उधर पंचाल राज्य के जिस सभास्थल में द्रौपदी स्वयंवर हुआ था, वह सभास्थल पंचाल राजप्रासाद के ईशान कोण में था, सारा-का-सारा समतल था, जिसके चारों ओर बड़े-बड़े महल, परकोटे, खाइयाँ और फाटक बने हुए थे, दीवारों पर चित्रकला के अद्‍भुत रंग थे और उसमें सैकड़ों राजन्यों के बैठने का इंतजाम था। यह वर्णन हमारा नहीं, वेदव्यास का है और अपने प्रबंध काव्य में अतिरंजनाएँ करनेवाले वेदव्यास कभी क्रांतदर्शी नहीं हो सकते थे। अगर उस समय वारणावत में दुर्योधन का कारीगर पुरोचन लाख और मोम का एक अद्‍भुत महल बना सकता था, जिस पर लाख और मोम से बने होने का शक ही किसी को न हो, तो फिर बताइए, कैसी रही होगी महाभारत के समय की भवन-निर्माण कला, जो विपुल समृद्धि में से ही जन्म ले सकती थी।

और अगर इसके साथ ही आप वे सभी वर्णन पढ़ लें, जो महाभारत के सभापर्व में हैं और जहाँ युधिष्ठिर के चारों भाई चारों दिशाओं में व्यापक विजय-यात्राएँ करके लौटते हैं और अपने ज्येष्ठ भाई को उपहारों से लाद देते हैं तो उस समय की समृद्धि की एक अलग ही तसवीर आपके मन पर अंकित हो जाती है। इन्हीं उपहार-अर्जित संपदाओं को राजकीय मान्यता दिलाने के लिए ही धर्मराज कहे जानेवाले युधिष्ठिर ने अति व्यय-साध्य राजसूय यज्ञ किया था और ऐसे राजसूय यज्ञ का प्रयोजन भी शायद यही हुआ करता था।

वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहते थे। वे नगरवासी नहीं थे। नगर, और खासकर अयोध्या जैसा भव्य नगर, उनके लिए आश्चर्य था और वर्णन करने योग्य एक वस्तुस्थिति। प्राय: हिमालय के बदरिकाश्रम में रहने वाले वेदव्यास कई बार रहते ही हस्तिनापुर में थे, वहाँ के राजपरिवार के एक हिस्से की तरह। नगर जीवन उनके लिए सहज था, वर्णनीय नहीं। राजमहल भी उनके लिए सहज थे, वर्णनीय नहीं। इसलिए वे राजप्रासादों में घटित उन खास-खास घटनाओं को बताते हैं, जिनका ताल्लुक कहानी की गति से है। समृद्धि और वैभव

का वर्णन सिर्फ इसलिए है, क्योंकि हो रही घटना को समग्रता से रूपायित करने में उसका वहाँ स्वाभाविक तरीके से आ जाना अपरिहार्य जैसा लगता है। मसलन, द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा है तो स्वयंवर-स्थल का वर्णन स्वाभाविक रूप से हो जाएगा। भाई लोग दिग्विजय करके लौटे हैं तो कैसे लौटे, राजसूय यज्ञ के संदर्भ में यह बता ही दिया जाएगा। कृष्ण राजसूय यज्ञ के बाद द्वारिका वापस गए तो पाँचों पांडवों ने कैसे उन्हें उपहारपूर्वक विदाई दी, इसका वर्णन आ ही जाएगा। राजसूय जहाँ होना है, उस इंद्रप्रस्थ राजप्रासाद का, कृष्ण जहाँ शांतिदूत बनकर गए, उस हस्तिनापुर राजप्रासाद का विपुल वर्णन आ ही जाएगा। इन्हीं विपुल वर्णनों में से झाँक रही है उस समय के समाज की विपुल समृद्धि, जिसने एक निर्णायक हमला तब के मूल्य-बोध पर किया था।

अब जरा विपुल समृद्धि से सराबोर उस युग के एक अन्य पहलू से परिचित हो लिया जाए। ययाति, सौ कौरव और जरासंध—इन तीन पात्रों में आपस में कोई भी समानता ऐसी नहीं है, जो इन्हें एक ही वर्ग में रख सके। ययाति कौरव-पांडवों के पूर्वज थे और कई पीढ़ी पहले हो चुके थे। पूरी महाभारत-कथा में ययाति का कोई असर कौरवों पर नहीं है, सिवा इसके कि ययाति के ही एक पुत्र पुरु के नाम पर हस्तिनापुर के राजाओं को वैसे ही 'पौरव' कहते हैं जैसे एक दूसरे पूर्वज कुरु के नाम पर 'कौरव' कहते हैं। जरासंध और सौ कौरव भाइयों में समानता इतनी भर है कि दोनों समकालीन हैं और अगर कृष्ण ने अपनी चतुराई से महाभारत युद्ध से काफी पहले ही भीम के हाथों जरासंध को न मरवा दिया होता तो देश के इतिहास के इस भयानकतम गृह-युद्ध में तब का महाबलशाली सम्राट् जरासंध कौरवों के पक्ष में कर्ण और जयद्रथ के साथ खड़ा होता।

पर इन तीनों पात्रों या पात्र समूहों में एक समानता और है, जिसके लिए इन तीनों से जुड़ी संदर्भ-कथाओं का फिर से वर्णन करना होगा, बेशक संक्षेप में और इनके बीच समानता को परखना होगा। कथाएँ हर हिंदुस्तानी को मालूम हैं, पर उनमें बसी समानता को भी परख लेने की दृष्टि हमारी अभी बननी बाकी है। क्या हैं वे संदर्भ-कथाएँ? सबसे पहले ययाति। ययाति अपने जमाने का महाकामुक व्यक्ति था। वह बूढ़ा हो गया, पर भोगों को पाने और उनका जमकर उपभोग करने की उसकी लालसा बरकरार थी। उसकी दो पत्नियाँ थीं—शर्मिष्ठा और देवयानी। इनमें से देवयानी शुक्राचार्य की कन्या थी। देवयानी से वादा-खिलाफी करने के कारण ययाति को शुक्राचार्य ने बूढ़ा हो जाने का शाप दिया तो ययाति रो पड़ा कि मेरी तो भोग-लिप्सा अभी बरकरार है, बूढ़ा हो गया तो मेरा क्या हाल होगा?

उदार शुक्राचार्य ने उसे रास्ता सुझाया कि अगर तुम्हारे पाँच पुत्रों में से कोई एक अपनी जवानी तुम्हें दे दे तो तुम्हारी समस्या हल हो जाएगी। बेचारा ययाति! गया अपने पाँच पुत्रों के पास। क्रमशः एक-एक के पास जाकर अपना दुखड़ा रोया। चार पुत्रों ने उसे साफ मना कर दिया। सबसे छोटे पुरु ने पिता की हालत पर तरस खाकर उसे अपनी जवानी दे दी और बदले में उसका बुढ़ापा ले लिया। भोगों से तृप्त होकर और भोगों की व्यर्थता को समझकर जब ययाति ने पुरु को उसकी शेष जवानी वापस कर दी तो साथ ही पुरु को अपने साम्राज्य का उत्तराधिकारी भी बना दिया। वहाँ से शुरू हुआ पौरव वंश, हस्तिनापुर का केंद्रीय शासन।

क्या आप बुढ़ापे और जवानी के इस लेन-देन पर कमीज और पतलून के लेन-देन की तरह विश्वास करने को तैयार हैं? नहीं हैं, तो सुनिए, इससे भी बढ़कर एक दूसरी रोमांचक कथा। वेदव्यास के वरदान से धृतराष्ट्र-पत्नी गांधारी को सौ पुत्र पैदा होने थे, पर उसके गर्भ से पैदा हुआ एक मांस-पिंड। जानकारी मिलने पर वेदव्यास तुरंत गांधारी के पास आए और उस मांस-पिंड को फेंकने को तत्पर महारानी को रोका। फिर उस गरम मांस-पिंड पर ठंडा पानी डाला, उसके सौ टुकड़े किए, हर टुकड़े को घी से भरे एक-एक कुंड में डाल दिया। दो साल बाद जब कुंड खोले गए तो मांस-पिंड का हर टुकड़ा एक-एक शिशु के शरीर में रूपांतरित हो चुका था। ये सौ शिशु सँभालकर गांधारी के पास लाए गए, उनका प्रयत्नपूर्वक पालन-पोषण हुआ और वे धृतराष्ट्र के दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ बेटे हुए (आदिपर्व, अध्याय 114)।

अब इन दोनों से भी ज्यादा अविश्वसनीय कहानी सुन लेनी चाहिए, जरासंध की कहानी। मगधराज बृहद्रथ ने पड़ोसी काशीराज की दो कन्याओं से शादी की। चंडकौशिक ऋषि के वर से उन दोनों को एक (एक-एक नहीं, एक) पुत्र होना था। दोनों रानियाँ खुश थीं कि उन्हें एक-एक पुत्र होगा। पर हुआ कुछ और ही। दोनों के गर्भ से एक शिशु के शरीर का आधा-आधा भाग (आधा बायाँ और आधा दायाँ भाग) पैदा हुआ। निराश और डरी हुई दोनों बहनों ने उस शरीर के दोनों हिस्सों को महल से बाहर फिंकवा दिया, जिन्हें वहाँ घूम रही जरा नामक एक राक्षसी ने उनकी सिलाई कर एक शिशु में रूपांतरित कर राजा बृहद्रथ को (पूरी कहानी सुनाते हुए) लौटा दिया। राजा प्रसन्न कि उसके पुत्र को जरा ने जोड़ (संध) दिया है और उसने पुत्र का नाम रख दिया 'जरासंध' (सभापर्व, अध्याय 17)।

तीनों कथाएँ अगर लोगों के पास आखेट के लिए छोड़ दी जाएँ तो हर कोई उनका मजाक उड़ाना चाहेगा, सिर्फ मजाक। बेटे ने अपनी जवानी पिता को दे दी,

यह कैसे हो सकता है? एक मांस-पिंड को सौ शिशुओं में विकसित कर दिया गया, यानी एक कोरी गप्प? दो टुकड़ों को सीकर या जोड़कर एक शिशु बना दिया गया, कौन मानेगा भला? हमारी भी इच्छा होती है कि हम भी इस आसान रास्ते को चुनकर इन कथाओं को इंटरनेट के चुटकुले मान लें। पर फिर सवाल उठने लगते हैं कि क्या इन्हीं गप्प-कथाओं के सहारे महाभारत कालातीत ख्यातिप्राप्त प्रबंध काव्य बन गया? क्या ऐसी ही छोटे स्तर की बातें लिखकर महर्षि वेदव्यास क्रांतदर्शी महाकवि बन गए और आनेवाली कवि-पीढ़ियों के प्रेरणास्रोत बन गए?

इन सवालों और इन कथाओं को गप्प मान लेने के विकल्प में चूँकि परस्पर कोई तालमेल नहीं है, इसलिए कुछ समझदार विकल्पों की ओर जाना हमारी विवशता है। हमारा शुरू से मानना रहा है कि महाभारत कालीन भारत का समाज वित्त और टेक्नोलॉजी की दृष्टि से परम समुन्नत समाज था, आज के पश्चिम के जैसा या पश्चिम जैसा बनने की ओर उन्मुख आज के भारत जैसा। हमने जिन तीन संदर्भ-कथाओं को आपके सामने फिर से पेश कर दिया है, ऐसी ये कोई तीन घटनाएँ ही नहीं हैं। महाभारत में ऐसी घटनाएँ यहाँ-वहाँ खूब बिखरी हुई हैं, जिनका अर्थ यही है कि शरीर-विज्ञान और आयुर्विज्ञान उन दिनों विकास की एक खास सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ आज के 'टेस्ट-ट्यूब बेबी' सरीखी घटनाएँ अकसर हो जाया करती थीं। नोट करने लायक बात यह है कि वेदव्यास ने इन घटनाओं को चमत्कार के जैसा नहीं बताकर सामान्य घटनाओं के रूप में ही बताया है, इस हद तक सामान्य तरीके से कि एक घटना के घटित हाने में तो खुद वे भी एक पात्र हैं। हमारी समस्या यह है कि हमारे इस प्रबंध काव्य में उस तमाम विधि का वर्णन नहीं है, जिसके तहत पुरु ने अपनी जवानी ययाति को सौंप दी, व्यास ने एक मांस-पिंड को सौ शिशुओं में रूपांतरित कर दिया और जरा ने दो शरीरार्धों को एक शिशु-शरीर में जोड़कर रख दिया। पर फिर महाभारत तो एक लंबी कविता है, कोई शरीर-विज्ञान या आयुर्विज्ञान का ग्रंथ तो नहीं कि जो हमें इन तमाम वाकयों की विधि भी समझाए। जिनको यह बात समझ में आती हो कि गप्प मारने में, चमत्कार बताने में एक क्रांतदर्शी कवि की कोई रुचि नहीं हो सकती, उनका फिर फर्ज भी बनता है कि वे महाभारत की इस टेक्नोलॉजी को जानने की कोशिश करें। हमारा संकेत उन वैज्ञानिकों की ओर है, जो आज परखनली शिशु और भ्रूण प्रत्यारोपण जैसे कार्यों में पूरी निष्ठा से जुटे हैं। इस देश के उनके पूर्वज वैज्ञानिक भी ऐसी निष्ठा दिखा चुके हैं।

हमारे देश के लोगों के मन में संजय की उस शक्ति को लेकर भी भारी

असमंजस रहता है, जिस शक्ति के तहत उन्होंने धृतराष्ट्र को अठारह दिनों के महाभारत युद्ध का पूरा-का-पूरा विवरण सुनाया। हमारा ऐसा कोई दावा नहीं कि हम उस असमंजस को दूर कर देने वाले हैं। पर संजय को लेकर वह असमंजस कम जरूर हो सकता है। कम-से-कम संजय के उस विराट् प्रयास पर बहस तो हो ही सकती है, जिसके तहत उसने अंधे धृतराष्ट्र को युद्ध का पूरा विवरण सुनाया, ताकि संजय की सही-सही भूमिका का कुछ अनुमान आज, युद्ध के 5,000 साल बाद, लगाया जा सके। महाभारत की, 1,00,000 से भी ज्यादा श्लोकोंवाले इस महाभारत प्रबंध काव्य की, रचना वेदव्यास ने की थी। महाभारत पर एक विशालकाय प्रबंध काव्य लिखा जाए और उसमें अठारह दिनों तक लड़े गए उस ऐतिहासिक युद्ध का विवरण न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? वेदव्यास ने उस युद्ध का विवरण देने का एक अनोखा तरीका निकाला। वे पहले धृतराष्ट्र के पास गए। कहने लगे कि एक महाभयानक युद्ध होने वाला है, जिसमें तुम्हारे पुत्र व सभी असंख्य योद्धा मरने को तैयार खड़े हैं। तुम्हारी आँखें नहीं हैं, चाहो तो मैं तुम्हें इतने समय के लिए दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, ताकि तुम युद्ध को खुद देख सको। धृतराष्ट्र तैयार नहीं हुए। कहने लगे कि मैं अपने ही पुत्रों की मौत देखना नहीं चाहता। तुम्हीं मुझे इसका वर्णन कर देना। व्यास का कहना था कि मैं तो उस महाभारत युद्ध का विस्तार से वर्णन करूँगा; पर तुम अगर नहीं देखना चाहते तो कोई बात नहीं, मैं संजय को ही यह क्षमता दे देता हूँ कि वह तुम्हें युद्ध का पूरा विवरण देता रहेगा।

यह सारा संवाद महाभारत के 'भीष्मपर्व' के दूसरे अध्याय में है (हम गीताप्रेस, गोरखपुर की 'महाभारत' को आधार बना रहे हैं)।

वेदव्यास ने संजय को जो शक्ति दी उसे जान लिया जाए। व्यास ने कहा, ''संजय दिव्य दृष्टि से संपन्न होकर सर्वज्ञ हो जाएगा और तुम्हें युद्ध की बात बताएगा। कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिन में हो या रात में या फिर मन में ही क्यों न सोची गई हो, संजय सबकुछ जान लेगा।'' (श्लोक 10-11)। इतना तो ठीक है, पर इसके बाद यानी यह पराभौतिक शक्ति देने जैसी बात के बाद व्यास ने खाँटी व्यावहारिक बात कह दी। कहा, ''इसे कोई हथियार काट नहीं सकेगा। इसे मेहनत से या थकावट से कोई असर नहीं पड़ेगा। गवल्गण का यह पुत्र संजय इस युद्ध से जीवित बच जाएगा।'' (श्लोक 12)। इस आखिरी श्लोक से तो जाहिर है कि संजय ने रोज युद्धस्थल में जाकर वहाँ का हाल-चाल देखकर फिर साँझ के वक्त वापस आकर धृतराष्ट्र को सारा विवरण सुनाया था। हस्तिनापुर

से कुरुक्षेत्र खासा दूर है। रोज सुबह, भोर में ही जाकर रात को वापस आना और फिर विस्तार से सुनाना खासी मेहनत और थकावटवाला काम है। युद्ध में जाकर, हर जगह, हर कोने और मौके पर जाकर भी जीवित और अक्षत बने रहना खासी उपलब्धिवाला काम है। यानी मामला दिव्य दृष्टि का तो है ही, रोज के आने-जाने, देखने-भालने और बताने-सुनाने का भी है।

संजय ने सारा विवरण इसी तर्ज पर दिया है। वह रोज का विवरण देता है। सुबह नींद से उठने के बाद तरोताजा और उत्साह से भरी सेनाएँ कैसी लगती हैं, वह बताता है और यह भी बताता है कि रात को थकी-माँदी सेनाएँ किस मनोभाव में, जीतने या हारने के मनोभाव में, कैसे शिविर लौटती हैं। 'भीष्मपर्व' के तेरहवें अध्याय में तो वेदव्यास के इस चहेते ने कमाल ही कर दिया है। जिस शाम भीष्म शरशय्या पर लिटा दिए गए उस दिन शाम के वक्त युद्ध से लौटकर (संयुगाद् एत्य), धृतराष्ट्र के पास अचानक आकर (सहसा उत्पत्य) और दुखी मन से (दु:खित) बताया कि आज भीष्म का पतन कैसे हुआ। यानी वह रोज शाम को धृतराष्ट्र के पास आकर युद्ध का, वहाँ बनाई गई उस दिन की व्यूह-रचनाओं का, वीरताओं का और मर्यादाहीनताओं का, किस योद्धा ने दूसरे को कौन से और कितने बाण मारे, कैसे घायल किया, कैसे रथ तोड़ा, कैसे वध किया—सारा विवरण देते हैं। इन विवरणों में एक-दो खास बातें और भी हैं। संजय खुद को कौरव सेना का समर्थक बताते हैं और जगह-जगह 'हमारी सेना', 'हमारी व्यूह-रचना', 'हमारे योद्धा' ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। पर उनका मन पांडवों के साथ है, ठीक वैसे ही जैसे कौरवों की ओर से लड़ रहे भीष्म, द्रोण और शल्य का मन पांडवों के साथ था। सबसे मजेदार बात यह है कि धृतराष्ट्र का वेतनभोगी होने पर भी संजय अकसर उस अंधे राजा को दुत्कारते और लताड़ते रहते हैं कि यह सारा महाविनाश उन्हीं के पुत्रमोह और राज्य-लिप्सा के कारण हुआ है।

संजय रोज युद्धस्थल में रहते थे, इसके दो मुखर संकेत और भी हैं। 'शल्यपर्व' में गदायुद्ध में भीम द्वारा नियम तोड़कर धरती पर गिरा दिए गए दुर्योधन से संजय वहीं युद्धस्थल में ही मिलते हैं और दुर्योधन (अध्याय 64) संजय के सामने अपने मन की पीड़ा भरे दिल से सुनाता है, जो फिर संजय ने धृतराष्ट्र को कह सुनाई। फिर 'सौप्तिकपर्व' में जब रात में सोते हुए पांडव-पुत्रों को मार दिए जाने के बाद युद्ध समाप्त जैसा हो जाता है तो संजय वह सारा विवरण देने के बाद दो श्लोकों (सौप्तिक पर्व, 9.61-62) में धृतराष्ट्र से जो कहते हैं, वह दोहराने लायक है—
''राजन्, इस तरह आपकी बुरी सलाहों के परिणामस्वरूप ही पांडवों और कौरवों

की सेना का महाविनाश हो गया है। आपके पुत्र के मारे जाने के बाद मैं भी शोक से भर गया हूँ, और महर्षि व्यास द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि भी अब नष्ट हो गई है।''

यानी व्यास द्वारा संजय को दी गई दिव्य दृष्टि संजय को दिया गया एक आदेश जैसा था कि उसके जिम्मे यह दायित्व है कि वह रोज युद्धस्थल जाकर और वहाँ से वापस लौटकर अपने स्वामी धृतराष्ट्र को युद्ध का विवरण दे। संजय ने यह काम पूरी तल्लीनता, निष्पक्षता और निस्पृह भाव से किया और तब तक किया, जब तक वह करना जरूरी था, यानी युद्ध की पूर्ण समाप्ति तक। इस दिव्य दृष्टि को कभी हम भारतवासी सचमुच 'दिव्य दृष्टि' मानते थे और जब टेलीविजन का आविष्कार हुआ तो कहने लगे कि देखा, महाभारत काल में भी हमने टेलीविजन जैसा कुछ बना लिया था। ये सब बच्चों की बातें हैं। संजय का काम रोज का था, मेहनत का था, थकावट का था, जो उन्होंने बखूबी किया। हाँ, इतना जरूर है कि रोज कुरुक्षेत्र जाकर हस्तिनापुर लौटना जिस तीव्र गति का काम था, उस गति को महाभारत काल की ऊँची टेक्नोलॉजी ने जरूर हासिल कर लिया था।

'महाभारत' प्रबंध काव्य की बात हो और सेना की बात न हो, ऐसा कहीं हो सकता है क्या? हमारी स्मृतियों में तो महाभारत नाम के किसी बड़े घमासान और बड़े यानी बहुत बड़े युद्ध के पर्यायवाची के रूप में बस गया है। ऐसे में युद्ध के साथ सेना की बात होना तो लाजमी है। और लाजमी भी ऐसी कि हर हिंदुस्तानी के जेहन में यह बात बसी है कि महाभारत का यह महासंग्राम अठारह दिनों तक चला था, जिसमें अठारह अक्षौहिणी सेना मारी गई थी। महाभारत प्रबंध काव्य के अठारह पर्व है। महाभारत के बीचोबीच बसी 'गीता' के अठारह अध्याय, महाभारत युद्ध के अठारह दिन, इस युद्ध में मारी गई सेना की अक्षौहिणियाँ भी अठारह! आखिर यह अठारह का माजरा क्या है?

इस पर चौंकने की कोई जरूरत नहीं। जाहिर है कि महाभारत काल में टेक्नोलॉजी की तरक्की ने, जैसा कि इस तरह की तरक्कीवाले हर समाज में होता है, लोगों के दिमाग को 'ढाँचागत विचार' यानी स्ट्रक्चर्ड थिंकिंग का अभ्यासी बना दिया था, अर्थात् हर काम को एक खास तरह का ढाँचा दे देना है। वेदव्यास भी जब इसी समाज का हिस्सा थे तो उनकी सोच पर इस तरह के अभ्यास का असर यकीनन रहा होगा, क्योंकि हर कवि और लेखक, दूसरे सभी लोगों की तरह, अपने समय के असर को किसी-न-किसी रूप में ग्रहण करता ही है।

इस ढाँचागत विचार का अगर एक श्रेष्ठ नमूना आपको महाभारत युद्ध के

संदर्भ में चाहिए तो लीजिए, हम आपका परिचय महाभारत काल के सैन्य ढाँचे से करवाए देते हैं। वेदव्यास ने अपने प्रबंध काव्य के पहले ही पर्व यानी आदिपर्व के दूसरे अध्याय में महाभारत प्रबंध काव्य के पूरे ढाँचे का भी विवरण दिया है और उस समय की सेनाओं के गठन का भी पूरा ब्योरा दे दिया है। अपनी इस विषय-वस्तु के आधार पर वेदव्यास ने इस अध्याय को नाम दिया है—पर्वसंग्रहपर्व। महाभारत में पर्व तो अठारह ही हैं, पर उनमें भी विभिन्न अध्यायों को कई बार पर्व सरीखा नाम दे दिया गया है। आप चाहें तो इन पर्वों को अपनी ओर से महाभारत के उपपर्व कह सकते हैं।

इस अध्याय के मुताबिक, महाभारत युद्ध में सेना की संरचना से सबसे छोटी इकाई का नाम था पत्ति। इसके आगे की इकाइयाँ थीं—सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी। अर्थात् सबसे छोटी इकाई थी पत्ति और सबसे बड़ी इकाई का नाम था अक्षौहिणी। पत्ति में एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पाँच पैदल सिपाही हुआ करते थे। इससे तीन गुना सेनामुख, उसका तीन गुना पृतना, पृतना का तीन गुना चमू और फिर चमू का तीन गुना अनीकिनी हुआ करती थी। यहाँ तक तो मामला तीन गुना का है, पर यहाँ से फर्क है और दस अनीकिनी मिलकर एक अक्षौहिणी बनती थी। इस पूरे ढाँचे में कुछ और भी जुड़ाव होता रहता था और उस सारे योग को मिलाकर वेदव्यास कहते हैं कि एक अक्षौहिणी में 21,870 रथ, इतने ही हाथी, 65,610 घोड़े और 1,09,350 पैदल सैनिक हुआ करते थे और वेदव्यास कहते हैं कि यह संख्या गणितज्ञों ने गिनकर बताई है (आदिपर्व, दूसरा अध्याय, श्लोक 19-27)। अगर हाथी, घोड़े और रथों पर बैठे हुए सैनिकों और सेनाधिकारियों को भी गिन लें तो स्पष्ट है कि महाभारत के अठारह दिनों के युद्ध में 20 लाख से ऊपर मनुष्य तथा 15 लाख से ऊपर हाथी-घोड़े मारे गए थे। कुरुक्षेत्र के इस महासंग्राम के इस विशाल युद्धक्षेत्र की, यानी विशाल श्मशानभूमि की भयावहता की कल्पना तो करिए, जहाँ 20 लाख मनुष्य और 15 लाख पशु मरे पड़े हैं और हजारों-लाखों की संख्या में रथों का और दूसरी बृहद् संपत्ति का विनाश बिखरा पड़ा है। हमारे देश में ऐसे महाब्राह्मणों की कमी नहीं है, जो इस महाविनाश वाले, मनुष्यों, पशुओं और संपत्ति के महाविनाश वाले इस महाभारत युद्ध के प्रबंध काव्य को 'युद्ध का उत्सव' कहने से बाज नहीं आते। जिस महाविनाश ने देश को प्रतिभा, संपदा और शौर्य के मामले में दरिद्र बनाकर रख छोड़ा हो, महाविनाश का यह दृश्य वेदव्यास जैसे क्रांतदर्शी कवि के लिए उत्सव या ढोलक की थाप पर नाचने का मौका नहीं हो सकता। अगर विचार

और जीवन-दर्शन के स्तर पर उस युद्ध के बाद का समाज गंभीर नहीं हो पाता, कुछ बेहद नया नहीं सोच पाता तो वह समाज इस धरती पर रहने का अधिकार ही खो देता है। पर महाभारत के महाविनाश को ढोनेवाले समाज ने न केवल खुद को जीवित रखा, बल्कि विचार और संपदा के स्तर पर आगे चलकर फिर से बुलंदियों को छुआ। इसी से जाहिर है कि समाज ने पागल युद्ध-नृत्य करने के बजाय अपना विपुल परिमार्जन ही किया होगा। विचार के स्तर पर क्या था वह विपुल परिमार्जन, इस पर आगे लिखा ही जाएगा।

क्या हम सेना के इस तमाम ढाँचे को सही मान लें? हमारा तर्क फिर से वही है कि गप्पें हाँककर, उलटबासियाँ करके और रोमांचक कथाएँ लिखकर वेदव्यास कभी क्रांतदर्शी कवि हो ही नहीं सकते थे और आनेवाली सहस्राब्दियों में कवियों-लेखकों के स्रोत रूप और समाज को सभ्यता की नई-नई परिभाषाएँ सिखानेवाला 'महाभारत' जैसा प्रबंध काव्य इस देश और मानव जाति को दे नहीं सकते थे। महाभारत काल के इस सैन्य गठन को पढ़कर एक ही बात दिमाग में बार-बार आती है कि इतनी सुगठित और विशालकाय सेना को वही समाज खड़ा कर सकता है, जो आर्थिक वैभव के शिखर पर है और जिसने अपने जमाने की टेक्नोलॉजी में एक चकित कर देनेवाली महारत हासिल कर ली है। इतना ही नहीं, जिस समाज का अपना 'आधारभूत ढाँचा' (हम अर्थशास्त्र के 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' की बात कर रहे हैं) अपने आप में परिपूर्ण रहा होगा, इस तरह की सेना को बनाए और चलाए रखना भी उसी समाज के बूते की बात रही होगी।

इस पर काफी शोध हो चुका है कि 'महाभारत' के समय में युद्ध कला किस तरह की थी और कैसी ऊँचाइयाँ प्राप्त कर चुकी थी। पर बिना शोध के ही भारतीयों की स्मृतियों में महाभारत काल की युद्ध कला और हथियारों की श्रेष्ठता व गुणवत्ता के बारे में अनेक बातें दर्ज हुई पड़ी हैं। मसलन हमें एकलव्य की कहानी अच्छी तरह याद है। उसी एकलव्य की, जिसके दाहिने हाथ का अँगूठा द्रोणाचार्य ने गुरुदक्षिणा में माँग लिया था। इस एकलव्य ने पांडवों के प्यारे एक कुत्ते के मुँह में बिना रत्ती भर का भी घाव पैदा किए सात बाण मार दिए और उसका भौंकना बंद करवा दिया। हम सभी भीष्म पितामह की उस युद्ध कला के आज भी दीवाने हो उठते हैं कि कैसे उन्होंने महाभारत युद्ध में दस दिनों तक कौरव सेना का प्रधान सेनापति बने रहकर रोज 10,000 शत्रुओं का वध किया था। देश के हर बच्चे को अभिमन्यु द्वारा चक्र व्यूह को भेद देना तो याद है ही, यह भी याद है कि कैसे मार दिए जाने से पहले इस अप्रतिम योद्धा ने छह-छह

महारथियों का अकेले ही डटकर मुकाबला किया था। हमें यह भी याद है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कृष्ण की अग्रपूजा होने लगी तो शिशुपाल ने इस बात का विरोध किया और कृष्ण ने अपने चक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। ये बातें हम याद रखे हुए हैं तो जाहिर है कि गप्पें और कल्पनाएँ किसी जाति के मन-मस्तिष्क को इतना लंबे समय तक नहीं मथा करतीं। ऐतिहासिक और युगांतरकारी घटनाएँ ही इस तरह की जातीय स्मृतियों का दर्जा पाया करती हैं।

याददाश्त की इस लंबी घटनावली में हमें क्या यह याद नहीं (बल्कि यकीकन याद है और अच्छी तरह याद है) कि कैसे द्रोणाचार्य ने भीष्म पितामह के अनुरोध पर हस्तिनापुर के राजप्रासाद में रहकर ही पांडु और धृतराष्ट्र के राजकुमारों को, पांडवों और कौरवों को, शस्त्रास्त्रों की शिक्षा दी थी। जब शिक्षा पूरी हो गई तो द्रोण के ही अनुरोध पर धृतराष्ट्र ने एक विशाल रंगभूमि (महाभारत में यही नाम मिलता है) बनवाई, जिसमें एक भव्य प्रेक्षागार भी बनवाया (यह नाम भी प्रबंध काव्य में ही है—आदिपर्व, 133.10-11), ताकि वहाँ बैठकर हस्तिनापुर के सभी वर्गों के नागरिक कौरव-पांडवों द्वारा रंगभूमि में दिखाए जानेवाले अद्‌भुत अस्त्र-कौशल को देख सकें। यह वही रंगभूमि थी, जहाँ अर्जुन ने पहले आग्नेयास्त्र से आग पैदा की, फिर वारुणास्त्र से जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया, वायव्यास्त्र से आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्र से बादल पैदा कर दिए। अर्जुन ने भौमास्त्र से पृथ्वी और पर्वतास्त्र से पर्वतों को उत्पन्न कर दिया। फिर अंतर्धानास्त्र द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गए। वे क्षण भर में बहुत लंबे हो जाते, क्षण भर में ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षण में रथ के धुरे पर खड़े होते तो दूसरे क्षण रथ के बीच में दिखाई देते। फिर पलक झपकते ही पृथ्वी पर नजर आने लगते (आदिपर्व, अध्याय 134)। हम याद दिला दें कि हम 'महाभारत' प्रबंध काव्य में उल्लिखित हथियारों और हथियारों से जुड़ी युद्ध कला की बात कर रहे हैं। अठारह दिनों के महाविनाशकारी महाभारत युद्ध में हथियारों के फुरती से इस्तेमाल के सैकड़ों उदाहरण हमें इसी प्रबंध काव्य में पढ़ने को मिल जाते हैं। कुछ नमूने देख लेने में कोई नुकसान नहीं। अभिमन्यु के रथ के घोड़े पीले रंग के थे (भीष्मपर्व, 47.7)। उस रथ पर सवार होकर उसने महाभारत युद्ध के पहले ही दिन कृतवर्मा को एक बाण से तथा पाँच बाणों से शल्य को और नौ बाणों से भीष्म को हिला दिया (भीष्मपर्व, 47.10)। विराट्-पुत्र श्वेत के बाणों की फुरती का शानदार वर्णन ठीक अगले ही अध्यायों में है। ऐसे प्रसंग महाभारत में अनेक, लगभग असंख्य हैं। इनमें से चुनिंदा प्रसंग तो लोगों को याद भी हैं। चारों ओर से घिर जाने पर और सभी तरह के हथियारों

से तथा रथ से विहीन कर दिए जाने के बाद अभिमन्यु ने मरने से पहले एक टूटे हुए रथ के पहिए से ही छह योद्धाओं का काफी समय तक मुकाबला किया था (द्रोणपर्व, 48.39)। इसी तरह युद्ध के तीसरे दिन कृष्ण को जब लगा कि अर्जुन भीष्म के साथ वीरोचित युद्ध नहीं कर रहा तो वे ही अपना चक्र घुमाते हुए युद्ध में हथियार न उठाने की अपने प्रतिज्ञा को तोड़ते हुए भीष्म को मारने दौड़े थे (भीष्मपर्व, 59.88-89)। महाबलशाली कर्ण ने युद्ध में भयानक उत्पात मचा रहे भीमपुत्र घटोत्कच को जिस अमोघ अस्त्र से मारा था, उसका नाम था 'वैजयंती' (द्रोणपर्व, 179.52-57)। अश्वत्थामा ने राजप्रासाद में बैठी उत्तरा के गर्भ पर युद्धभूमि से ही जो महाभयानक अस्त्र चलाया था, उसका नाम था 'ब्रह्मास्त्र' (सौप्तिकपर्व, अध्याय 13-14)। युद्ध की अंतिम घटना से पहली बड़ी घटना यानी दुर्योधन और भीम के बीच हुए गदा-युद्ध से पहले दुर्योधन एक तालाब के पानी में जाकर छिप गया था (शल्यपर्व, 29,54-55)।

सामान्य धनुष-बाण और तलवार-भालों को छोड़ दें तो कुछ खास-खास हथियारों के नाम इस महाभारत युद्ध में आते हैं, जो शस्त्र नहीं बल्कि अस्त्र हैं, जैसे ब्रह्मशिर अस्त्र, आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, पाशुपत अस्त्र, शक्ति अस्त्र, वायव्यास्त्र, पर्जन्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र वगैरह। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों जैसे वायु, जल, अंधड़ आदि की सहायता से महाविनाश यानी सार्वजनिक विनाश की सामर्थ्यवालों को महाभारत में अस्त्र कहा गया है। अणु-मिसाइल की तरह महाविस्तारक विनाश पैदा करने की सामर्थ्यवाला ब्रह्मास्त्र है तो ब्रह्मशिर और शक्ति जैसे अस्त्र मिसाइल की तरह ही किसी निशाने को अचूक बींधनेवाले नजर आते हैं। शस्त्रों और अस्त्रों में एक खास फर्क यह नजर आता है कि जहाँ शस्त्र को चलाने में शारीरिक श्रम और फुरती काम आती थी, वहाँ अस्त्र संभवतः बृहत् मानसिक एकाग्रता से ही चलाए जा सकते थे। 'महाभारत' के समय की युद्ध कला और अस्त्र-शस्त्रों की, यानी हथियारों की विविधता पर अभी जितनी रिसर्च हो चुकी है, उससे भी कहीं ज्यादा रिसर्च की जरूरत बेशक बनी हुई है। यह रिसर्च तभी हो पाएगी; जब हम सांप्रदायिकता-धर्मनिरपेक्षता की निरर्थक शब्दावली के ग्रहण से निकलकर अपने देश के पूर्वकाल में पूरी संजीदगी से रुचि लेंगे। महाभारत काल के हथियारों को देखते हुए लगता है कि उस वक्त की युद्ध कला और शस्त्रास्त्र-निर्माण टेक्नोलॉजी आज की युद्ध कला और शस्त्रास्त्र टेक्नोलॉजी से किसी भी स्तर पर कम न थी; बल्कि अस्त्रों को चलाने में शरीर-बल की बजाय मनोबल की जरूरत पड़ती थी। उससे लगता है कि महाभारत के जमाने की अस्त्र निर्माण टेक्नोलॉजी आज की

टक्कर की ही नहीं थी, उससे भी काफी आगे निकल गई थी।

सवाल उठ सकता है कि हम बार-बार वेदव्यास को क्रांतदर्शी कवि क्यों कह रहे हैं। इसलिए कि वेदव्यास ने 1,00,000 श्लोकोंवाला महाभारत प्रबंध काव्य न तो तुलसीदास द्वारा लिखे 'रामचरितमानस' की तरह 'स्वांत:-सुखाय' लिखा था और न ही महाभारत युद्ध का उत्सव मनाने के लिए लिखा था, जैसा कि आजकल के कुछ महाब्राह्मण भारतवासियों को मनवाना चाह रहे हैं। अपने देश को जानने व समझने से इनकार करनेवाले भारत के जिन विद्वानों ने पश्चिम की कूटनीति-प्रेरित शोध को सच मानने की आतुरता में महाभारत और उसके रचयिता वेदव्यास के बारे में, गीता और उसके प्रवक्ता कृष्ण के बारे में अनाप-शनाप धारणाएँ बना ली हैं और स्कूली सिलेबस के जरिए बच्चों के भावुक मन में भरने का सफल सिलसिला भी चला लिया है, उन सबको यह एहसास कराना जरूरी है कि कैसे एक द्रष्टा महाकवि वेदव्यास ने अपने समसामयिक घटनाक्रम पर लिखे इस प्रबंध काव्य के जरिए भारत और विश्व के लोगों को जीवन-मूल्यों पर गहन संवेदना के साथ सोचने और बरतने का एक बड़ा फलक प्रदान कर दिया है।

क्रांतदर्शी महाकवि वेदव्यास अपने प्रबंध काव्य के फलक को किस कदर बड़ा बनाने में जी-जान से जुटे थे, इसका नमूना हमारे द्वारा अब तक उद्धृत उन तमाम उदाहरणों से मिल जाता है, जो साबित करते हैं कि महाभारत के समय की समृद्धि और टेक्नोलॉजी कैसे एक खास तरह के शिखर पर पहुँची थी, जिसका सीधा असर उस वक्त के समाज की मर्यादाओं और मूल्य-बोध पर पड़ा। उस फलक-निर्माण के प्रयास में वेदव्यास ने आनेवाली पीढ़ियों के पाठकों के लिए उस समय की युद्ध-परिस्थितियों को लेकर उन सब बातों का विस्तार से वर्णन किया है जिन्हें जानने की उत्सुकता एक प्रबंध काव्य के किसी भी पाठक को किसी भी देशकाल में हो सकती है। वेदव्यास के सौभाग्य से भारतीय इतिहास के उस महाविकट और द्वंद्वों से सराबोर काल में कृष्ण, भीष्म, विदुर, संजय सरीखे महापुरुष मौजूद थे, जिनके जरिए कवि ने बहुत कुछ कहलवा दिया है। संजय के युद्ध-विवरण के बारे में हम विस्तार से पढ़ ही चुके हैं। 'महाभारत' के बारहवें और तेरहवें पर्वों, यानी शांतिपर्व और अनुशासनपर्व को प्रतीक्षा है किसी ऐसे व्यक्ति की, जो उनको भीष्म के समग्र दर्शन बतानेवाले स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में, 'गीता' और 'विदुर नीति' की तरह, प्रतिष्ठित कर सके। अपने समय के चार-चार महापात्रों को स्वतंत्र ग्रंथकार बना देनेवाले वेदव्यास के बारे में हमारे पास 'क्रांतदर्शी' के अलावा और कोई शब्द है ही नहीं। किसी के पास कोई और

अधिक उपयुक्त शब्द हो तो देश उसे जानना चाहेगा। इन्हीं वेदव्यास ने महाभारत के महासंग्राम की तैयारी का जितना भी संक्षेप में विवरण दिया है, वह इस महाकवि की क्रांतदर्शी चिंताओं से हमारा परिचय और गहरा कर देता है। एक बार 'महाभारत' के उद्योगपर्व के अध्याय संख्या 151 से पढ़ना शुरू कीजिए और अध्याय संख्या 156 तक पढ़ते चले जाइए। कुल मिलाकर इन छह अध्यायों में 200 से कुछ ही ज्यादा श्लोक हैं। इन श्लोकों में कैसे दुर्योधन और युधिष्ठिर ने अपनी-अपनी सेनाओं का अक्षौहिणियों में गठन किया, कैसे इनके लिए शिविरों का निर्माण किया और शिविरों में अन्न-जल-विश्राम आदि की तमाम सुविधाएँ मुहैया कराईं, इन सबका बारीकी से वर्णन है। बारीकियों के वर्णन में वेदव्यास का कमाल यहाँ तक है कि वे बताते हैं कि सावधान युवराज दुर्योधन ने कैसे अपने सभी शिविरों में जरूरत की सभी चीजें प्रदान कर देने के बाद उन रथों की ओर ध्यान दिया, जिनमें बैठकर योद्धाओं को रणभूमि में अपने जौहर दिखाने थे। घोड़ों की नस्लों का तथा शस्त्रविद्या का निश्चित ज्ञान रखनेवालों को ही सारथि नियुक्त करने के बाद (उद्योगपर्व, 155.11) हर रथ में चार-चार घोड़े जोते गए, सभी रथों में अनेक भाले और सौ-सौ धनुष रखे गए। इनके अलावा हर रथ में दो-दो घोड़ों पर एक-एक रक्षक यानी घोड़ों की देखभाल करनेवाला भी रखा गया।

हम चूँकि प्रबंध काव्य नहीं लिख रहे, इसलिए हम इन सभी विस्तृत विवरणों का संकेत मात्र ही कर सकते हैं। इसलिए हम उसी उद्योगपर्व के अध्याय 165-172 की ओर संकेत करना नहीं भूल सकते, जिनमें भीष्म ने दुर्योधन के पूछने पर बताया कि युद्ध के लिए तैयार दोनों पक्षों के सेनानायकों में कौन रथी है, कौन महारथी है और कौन अतिरथी और यह भी बताया कि रथी कौन होता है, क्यों होता है। कर्ण और द्रोण की मौजूदगी में हुए इस वार्त्तालाप में भीष्म जैसा मोहनिरपेक्ष शायद ही कोई दूसरा नजर आता है। भीष्म को यह कहने में कोई संकोच नहीं कि सारे कौरव और पांडव भाई सिर्फ रथी हैं, जिनमें से दुर्योधन सबसे अच्छे रथी हैं और कृष्ण की छत्रच्छाया के कारण अर्जुन लगभग अपराजेय रथी हो गए हैं; जबकि द्रौपदी के पाँचों पुत्र, जो अश्वत्थामा द्वारा युद्ध समाप्त हो जाने के बाद रात को सोते में मार डाले गए थे, महारथी हैं। कौरव सेना में बाह्लीक को तो पांडव सेना में वसुदान को भीष्म ने अतिरथी माना है। यही भीष्म कर्ण को उसके सामने ही अर्धरथी कहते हैं, क्योंकि कर्ण हर वक्त खुद ही अपनी तारीफ के पुल बाँधे रहता है (उद्योगपर्व, 168.3-9)।

युद्ध का विस्तृत विवरण देने के लिए वेदव्यास ने संजय की ऊर्जा और

वाक्चातुरी का भरपूर उपयोग किया है। इस युद्ध के विवरण में महाकवि वेदव्यास यह बताना नहीं भूलते कि अठारह दिनों के युद्ध में हर सुबह कौन सी सेना किस व्यूह में खड़ी की गई थी। इन व्यूहों में वज्र व्यूह, क्रौंच व्यूह, गरुड व्यूह, अर्धचंद्र व्यूह, मकर व्यूह, श्येन व्यूह, मंडल व्यूह, सागर व्यूह, शृंगाटक व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह, चक्र व्यूह प्रमुखता से बताए गए हैं। देश में ऐसी चर्चा होती रहती है कि हमारी थलसेना की महाभारत के इन व्यूहों में खासी रुचि रहती है। जिस दिन अभिमन्यु मारा गया था उस दिन कौरव सेना अभेद्य चक्र व्यूह में थी। अगले दिन जब अर्जुन ने जयद्रथ को मारा तो द्रोणाचार्य ने उसे उस दिन शकट व्यूह में सुरक्षित रखने की भरपूर कोशिश की थी। इसमें मजेदार जानकारी यह है कि क्रांतदर्शी कवि वेदव्यास ने इनमें से अनेक व्यूह रचनाओं का विस्तार से विवरण किया है। सोचिए तो, कैसा रहा होगा भारत का महाभारत काल, समृद्धि से सराबोर और तकनीकी संपन्नता से उफनता हुआ, जिसे मिला वेदव्यास सरीखे क्रांतदर्शी महाकवि का सारस्वत नेतृत्व।

□

ऐसे समाज के मूल्य मानक

सदियों से अपना समाज महाभारत से दूर भागने की कोशिश कर रहा है। बेशक उसे पूरी महाभारत कथा वैसे ही याद है, जिस तरह उसे कृष्ण की कथा रटी पड़ी है। पर उसी समाज ने महाभारत कथा को रामकथा और कृष्णकथा की तरह अपनाया भी तो नहीं है। नहीं अपनाया है, उससे तो शायद ही किसी को इनकार होगा; पर क्यों नहीं अपनाया, इसकी कारण मीमांसा पर हरेक को अपना मत रखने का हक भी भारत के विचार-स्वातंत्र्य प्रेमी हमारे इस समाज ने हरेक को दे रखा है। इसी भारतीय स्वभाव का सम्मान करते हुए हमने कुछ कारण बताने की एक हलकी सी कोशिश पिछले अध्याय में की है। एक और कोशिश, और थोड़ा ज्यादा गंभीर कोशिश इस वक्त करना चाहते हैं। महाभारत की ही घटनाओं का सहारा लेकर।

हमारा शुरू से ही मानना रहा है कि आर्थिक और टेक्नोलॉजी की समृद्धि के शिखर पर पहुँचनेवाले किसी भी समाज के मूल्य मानक वैसे रह ही नहीं सकते जैसे मूल्य मानक कोई भी सामान्य समाज सामान्य रूप से बनाने और स्वीकारने को तत्पर रहता है। सामान्यत: हर समाज उन असामान्य मूल्य मानकों को हजम नहीं कर पाता जो मूल्य मानक असामान्य, महाभारत काल सरीखे असामान्य समाजों में स्वत: ही स्वीकार्य हो जाते हैं। शायद इसीलिए सामान्य गति से चलते रहने के अभ्यासी भारतीय समाज को रामकथा तो जँच गई, पर महाभारत कथा को वह जीवन का स्वीकार्य मानदंड नहीं बना पाया।

शुरू में ही एक मानदंड की जाँच कर लें। आप महाभारत पढ़ेंगे तो इसमें

आपको एक स्त्री पात्र का नाम मिलेगा—अद्रिका। यह नाम आपको पूरी कथा में बार-बार मिलेगा और कई बार तो ऐतिहासिक कालक्रम के साथ, पीढ़ियों के अंतराल के साथ ऐसा खिलवाड़ करता मिलेगा कि आप तौबा कर उठेंगे। यानी एक नारी है अद्रिका, जिसके गर्भ से 'क' ने संतान पैदा की है तो उसके पोते ने भी की है तो पोते के पोते ने भी की है। यानी खिलवाड़ इस हद तक है। वेदव्यास जैसा प्रबंध कवि एक ही नारी को कई-कई पीढ़ियों तक सदाबहार युवती और गर्भ-धारण करने में सक्षम नहीं दिखा सकता था।

फिर भी, वेदव्यास ने ऐसा दिखाया तो जाहिर है कि वह अद्रिका कोई एक नारी कतई नहीं है, कोई नारी प्रथा है। और, वास्तव में है भी ऐसा। अद्रिका का प्रसंग जहाँ भी है, उसे अप्सरा कहा गया है। अर्थात् महाभारत काल तक आकर 'अप्सरा' नाम से एक ऐसी नारी प्रथा स्थापित, स्वीकार्य और सम्मानित हो चुकी थी, जिस प्रथा में स्त्री विवाह के संबंध से मुक्त होकर खुद को पुरुष-सहवास के लिए प्रस्तुत करती थी और संतान-प्राप्ति करवाने में भी सहयोग करती थी। ऐसी स्त्रियों का सौंदर्य का खजाना होना, वैभव का प्रतीक होना स्वाभाविक था। इस स्वाभाविकता को बनाए रखने के लिए उनके पास पूरा तंत्र भी वैसा रहता होगा। और उस स्वाभाविकता को बनाए रखने के लिए वे न तो किसी एक पुरुष से बँध जाना पसंद करती थीं और न ही संतान प्राप्त करवाने में सहायक होकर भी उस संतान के पालन-पोषण का जिम्मा अपने ऊपर लेती होंगी। तमाम तरह की मेनकाएँ, घृताचियाँ व अद्रिकाएँ इसी नारी प्रथा का हिस्सा और प्रतीक रही हैं।

बेशक ऐसा नारी-मूल्य किसी भी समाज को, किसी भी सामान्य समाज को स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी और ऐसे मूल्य-मानकों से भरी महाभारत कथा भी भारत की स्मृतियों का हिस्सा तो रही, भारत के संस्कारों में रच-पच नहीं पाई। पर इन अद्रिका-कथाओंवाले समृद्ध समाज का एक और पहलू भी हमारे सामने स्पष्ट है। वह यह कि स्त्री को इस अप्सरा प्रथा तक पहुँचानेवाला समाज कितना तनावग्रस्त और बेचैन रहता होगा, जहाँ पुरुष को उन्मुक्त होने के लिए ऐसी प्रथा चाहिए और जहाँ स्त्री को अप्सरा का वैभव और ग्लैमर पा लेने के लिए अपनी ही संतानों की माँ बनना बोझ नजर आने लगा था।

हमने तो अद्रिका के बहाने एक ही तनाव की ओर इशारा किया है। आर्थिक और तकनीकी वैभव से सराबोर महाभारत काल के हमारे पूर्वज जाने कितने ही तरह के तनावों से ग्रस्त रहते थे। और इसमें कोई शक नहीं कि जिन दिनों 'महाभारत' का घटनाक्रम इस धरती पर घट रहा था, वह समय खासा तनावों से भरा था। यह

तनाव ही तो था कि जिसके मारे 'महाभारत' नामक प्रबंध काव्य का हर छोटा-बड़ा पात्र या तो प्रतिज्ञाएँ कर रहा था या फिर संकल्प धारण कर रहा था। जरूरी नहीं कि हर प्रतिज्ञा सात्त्विक कारणों से की जा रही हो। पर प्रतिज्ञाएँ की जा रही थीं, संकल्प धारण किए जा रहे थे तो समाज के वातावरण को आप सहज कह ही नहीं सकते। यकीनन बालक एकलव्य के संकल्प को, कि वह द्रोण नहीं तो द्रोण की प्रतिमा से प्रेरणा लेकर धनुर्विद्या सीख लेगा, हम एक सात्त्विक संकल्प कह सकते हैं। भीष्म ने जब सत्यवती के पिता के आगे प्रतिज्ञा की कि वे न तो हस्तिनापुर का राज्य ही माँगेंगे और न ही आजीवन विवाह करेंगे, तो इस प्रतिज्ञा को भी हम सात्त्विक के अलावा और क्या कह सकते हैं, बेशक इस प्रतिज्ञा के कारण पूरे कुरु वंश को और स्वयं भीष्म को भी कैसे-कैसे तनावों से होकर गुजरना पड़ा। परंतु बाकी प्रतिज्ञाएँ? अर्जुन की? द्रौपदी की? द्रोण की? कर्ण की? वे तनावों से पैदा भी हुईं और तनावों का कारण भी बनीं। जाहिर है कि सब प्रतिज्ञाएँ महाभारत कथा के नायकों के व्यक्तिगत अहंकार का ही प्रतीक थीं, एक ऐसा अहंकार, जो कभी कोई सीमा जानता ही नहीं था।

तनाव और अहंकार से सराबोर इस माहौल में कुरु कुल की पाँच कुलवधुएँ कैसी नजर आती हैं? अंबा (जो इस कुल के साथ औपचारिक रूप से कभी जुड़ी नहीं), सत्यवती, गांधारी, कुंती और द्रौपदी—इन पाँच नारी पात्रों को आप सामान्य व्यक्तित्व कह ही नहीं सकते। सभी का अपना एक दुर्धर्ष व्यक्तित्व है और कुरु कुल को बनाने में हरेक का अपना खास योगदान रहा है। इनमें चार—अंबा, गांधारी, कुंती और द्रौपदी का संबंध राजकुलों से रहा है, इसलिए इनको आँकने का मानदंड अपने आप ही एक अलग किस्म का बन जाता है। पर सत्यवती?

सत्यवती को विशेष रूप से याद न करें तो नाम अकसर दिमाग से निकला रहता है। जो बात सत्यवती के बारे में सहज रूप से याद आ जाती है, वह यह कि यही वह नारी है, जिसे पाने के लिए शांतनु इस कदर आकुल हो गए थे कि इसके लिए भीष्म को वे प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ीं, जिनके कारण वे देवव्रत से भीष्म हो गए। इसलिए याद दिलाएँ, तभी याद आता है कि वेदव्यास, वे वेदव्यास जिन्होंने अपने युग को विलक्षण बौद्धिक नेतृत्व प्रदान किया, सत्यवती के गर्भ से पैदा हुए थे, जब सत्यवती एक अविवाहित कन्या थी। यह भी याद दिलाना पड़ता है कि वेदव्यास नामक अपने इसी पुत्र के माध्यम से जिस नारी ने सदा के लिए इस पृथ्वी से समाप्त होने जा रहे अपने कुरु कुल को बचाया, उसका नाम भी वही है—सत्यवती।

ऐसे पढ़ने पर ये दोनों बातें सामान्य नजर आ सकती हैं। पर थोड़ा इत्मीनान

से परखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि कितना अद्भुत था सत्यवती नामक इस विशिष्ट नारी का, कुरु कुलवधू का चरित्र, जिसने अपने पति के कुल को समूल नष्ट होने से बचा लिया और यह काम इस तेजस्वी नारी ने तनाव के जिस माहौल में किया, उसका पूरा महत्त्व तभी समझ में आएगा, यदि थोड़े में इस माहौल पर एक विहंगम दृष्टि डाल ली जाए।

इस माहौल का संबंध उस युग की काम (सेक्स) संबंधी धारणाओं और परंपराओं से है। पूरी 'महाभारत' पढ़ने से यही नजर आता है कि हमारे समाज में उस समय 'काम' को लेकर वैसी कुंठाएँ और वर्जनाएँ नहीं थीं जैसी आज से सदी भर पहले थीं और जिन कुंठाओं और वर्जनाओं को तोड़ने के उत्साह में हमारा आज का समाज अब मूर्खताओं और कुरुचि के नए-नए मानदंड कायम करने का दूसरा अतिवादी काम रहा है। पर कुंठाओं और वर्जनाओं से विहीन अप्सरा-प्रेमी महाभारत समाज में भी कौमार्य-रक्षा का बोध किस कदर हमारे पूर्वजों के मानस पर हावी था, इसके उदाहरण भी हमारे सामने हैं। एक उदाहरण कुंती का है, जिसे विवाह पूर्व ही कर्ण नामक पुत्र की प्राप्ति हो गई थी; परंतु इससे उसके कौमार्य को संदिग्ध न मान लिया जाए, इसलिए उसने अपने पुत्र को नदी में प्रवाहित कर दिया, जिसके कारण आगे चलकर कुंती और कुंती-पुत्र कर्ण का जीवन किस कदर तनाव से भरा रहा, यह हम सभी को ज्ञात है। दूसरा उदाहरण स्वयं सत्यवती का है। पराशर ऋषि से सत्यवती को वेदव्यास नामक पुत्र की प्राप्ति तब हुई, जब वह अविवाहित थी; पर सत्यवती का कौमार्य इससे भंग नहीं हुआ। इसे लेकर महाभारत में कई तरह की कथाओं को जन्म दे दिया गया। उनमें से एक कथा को सत्यवती के जन्म से जोड़कर फिर उसके जन्म को थोड़ा अलौकिकता का स्पर्श दे दिया गया। उसे उपरिचर वसु नामक राजा की एक ऐसी कन्या कहा गया, जिसकी माँ अद्रिका ब्रह्मा के शाप के कारण मछली के रूप में अप्सरा बन गई थी। जब वह मछली मल्लाहों के हाथ लगी और उसका पेट चीरा गया तो उसमें से एक पुरुष के साथ-साथ (सत्यवती नामक) एक मत्स्य कन्या का जन्म हुआ, जिसकी गंध दूर-दूर तक फैलती थी और इस कारण उसे 'मत्स्यगंधा' कहा गया।

महाभारत काल के आसपास सूर्या सावित्री द्वारा विवाह के बारे में नई परंपरा डाल देने के बावजूद अभी शर्तों से विवाह को बाँधने का पुराना रिवाज बदस्तूर जारी था। इसलिए जब शांतनु ने दाशराज की कन्या सत्यवती से विवाह का प्रस्ताव रखा तो दाशराज ने साफ-साफ शर्त रख दी कि इस शादी की मेरी ओर से कीमत यह है कि जो भी मेरी बेटी का पुत्र होगा, वही आगे चलकर हस्तिनापुर का राजा

बनेगा—राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर। अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम्॥ (आदिपर्व, 100.76क)

विवाह तो हो गया। दो पुत्र भी पैदा हो गए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। पर सत्यवती के व्यक्तित्व की परीक्षा तब शुरू हुई, जब चित्रांगद के युवा होने से पहले ही शांतनु का देहांत हो गया और अहंकारी चित्रांगद राजा बनने के बाद चित्रांगद नाम वाले एक गंधर्व से इसलिए युद्ध कर बैठा कि चित्रांगद नाम वाला एक ही व्यक्ति धरती पर हो सकता है, और इस युद्ध में वह जान से हाथ धो बैठा। सत्यवती राजकुल से नहीं आई थी, पर उस समय के भारतवर्ष के सबसे प्रतापी राजवंश कुरुकुल की पुत्रवधू बनने के बाद उसकी परीक्षा तब शुरू हुई, जब उसके सामने चित्रांगद की मृत्यु हो चुकी थी। भीष्म ने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। राजयक्ष्मा से पीड़ित विचित्रवीर्य संतान पाने में सक्षम नहीं था। फिर विचित्रवीर्य भी चल बसा। अब क्या हो?

सत्यवती के दो पुत्र और भी थे—वेदव्यास और भीष्म। वेदव्यास तो उसके अपने गर्भ से पराशर ऋषि के साथ सहवास करने के परिणामस्वरूप पैदा हुए थे, जबकि भीष्म उसके पति शांतनु की पहली पत्नी गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। अपने वंश के अस्तित्व पर आए संकट के निवारण के लिए सत्यवती ने पहले उसी भीष्म से अनुरोध किया, जो सत्यवती के अनुरोध पर इससे पूर्व विचित्रवीर्य के लिए अंबा-अंबिका-अंबालिका का हरण करके ले आए थे। सत्यवती ने भीष्म से दो अनुरोध किए। हस्तिनापुर का राजा न बनने की प्रतिज्ञा के बावजूद भीष्म को सत्यवती ने आपद्धर्म का विचार करते हुए राज्य ग्रहण करने को कहा तो भीष्म ने साफ मना कर दिया। दूसरा अनुरोध सत्यवती ने यह किया कि उसने कुरु वंश को आगे चलाने के लिए भीष्म को नियोग द्वारा संतान उत्पन्न करने को कहा। पर भीष्म ने इस अनुरोध को इस तर्क के आधार पर मना कर दिया कि उन्होंने जो विवाह न करने की प्रतिज्ञा की है, उसका यह अर्थ भी है कि वे कभी स्त्री-सहवास भी नहीं करेंगे। भीष्म से निराश होकर सत्यवती ने अपने दूसरे पुत्र वेदव्यास से (जिनका वास्तविक नाम 'कृष्ण द्वैपायन' था) अंबिका और अंबालिका को संतानवती बनाने का अनुरोध किया। वेदव्यास ने यह अनुरोध मान लिया और इसी संदर्भ में धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर के जन्म की कथा हम सभी जानते हैं।

अर्थात् उस समय के सबसे प्रतापी राजवंश की वह एकमात्र व्यक्ति थी, जो संभवतः अनौपचारिक रूप से शासिका का काम भी कर रही थी, जिसने अपनी दो विधवा पुत्रवधुओं अंबिका और अंबालिका के साथ पूरे राज्य की बागडोर अपने

हाथ में ले रखी थी। शादी-ब्याह के चटखारों में हमें यह तो याद रहा कि शांतनु ने उस आयु में शादी रचाई, जब उन्हें अपने पुत्र भीष्म के विवाह की चिंता करनी चाहिए थी और शादी भी एक ऐसी आयु की लड़की से की, जो उनके पुत्र से विवाह के योग्य थी। इसी लुत्फबाजी में हमें देवव्रत भीष्म की प्रतिज्ञा भी भली-भाँति याद रहती है। पर शांतनु की शादी की लुत्फ भरी चर्चाओं और भीष्म की प्रतिज्ञा के प्रति आदर से झुके हमारे मन को सत्यवती क्यों याद नहीं रहती है? एक ऐसी महिला, जो राजकुल तो क्या नगर-जीवन की भी अभ्यस्त नहीं थी? एक ऐसी महिला, जो भीष्म जैसे महाप्रतापी नायक को प्रतिज्ञाओं में बाँधकर आई थी और लगातार इस दबाव को और प्रतिज्ञाओं के कुपरिणामों को झेल ही रही होगी? कैसे नहीं झेल रही होगी? अपने बेटे को राजा बनाने की शर्त पर कुरु वंश में आई एक ऐसी महिला की कल्पना करिए, जिसका पति भी चल बसा और दो पुत्रों में से एक भी नहीं बचा। जिस राजसिंहासन को अपने पुत्र के लिए उसने आरक्षित करवा लिया था, उस सिंहासन का अस्तित्व ही अब संकटग्रस्त हो गया था और उसका कारण कहीं-न-कहीं सत्यवती को माना ही जा रहा होगा। ऐसे माहौल में एक ऐसी महिला ने एक ऐसे राजवंश को बचाने के लिए उस समय की काम-परंपराओं का सहारा लिया। बेशक उस समय की परंपराओं में आज जैसी वर्जनाएँ नहीं थीं, तो तनाव भी कम नहीं थे। पर इस सब में रहते हुए सत्यवती ने जिस साहस से इन परंपराओं का उपयोग करते हुए वंश को आगे बढ़ाया तो क्या इस बात को महत्त्वपूर्ण नहीं मानना चाहिए? चलिए, इस तनाव भरे मूल्य-मानकोंवाले समाज की कुछ दूसरी अजीबो-गरीब घटनाओं और परिस्थितियों की भी इन्हीं संदर्भों में एक निर्मम पड़ताल कर लें।

अपने जन्म की कथा सुनाना कोई खास बात नहीं। हर कोई अपने जन्म की कथा सुनाता ही रहता है—किस दिन हुआ, कहाँ हुआ, घर में हुआ या अस्पताल में हुआ और आजकल तो ऐसा सुनने में एक नया आयाम भी जुड़ गया है—सामान्य तरीके से हुआ या 'सिजेरियन' हुआ, माँ का नाम क्या है, पिता का नाम क्या है, कुल का नाम क्या है, खानदान में कौन खास लोग हुए, उन्होंने क्या खास-खास काम किए वगैरह। जब वैसा सब बताने-सुनाने में कोई खास बात नहीं तो उसमें फिर क्या खास बात हो गई कि वेदव्यास ने अपने प्रबंध काव्य 'महाभारत' में अपने ही जन्म की कथा सुना दी? क्यों बनाया जाए इसे टिप्पणी के लायक एक खास विषय? इस सवाल का जवाब देना अपने बूते की बात नहीं। पहले खुद व्यास द्वारा बताई उनकी जन्मकथा सुना दी जाए तो इस सवाल से बाद में दो-चार हो लेंगे।

पूरे 'महाभारत' प्रबंध काव्य में हैं तो अठारह ही पर्व, यानी अठारह महापर्व, पर इस हरेक महापर्व का उपविभाजन भी उनके उपपर्वों में किया गया है और व्यास इन्हें भी पर्व ही कहते हैं। व्यास के जन्म की कथा उनके प्रबंध काव्य के शुरुआती हिस्से में ही है, आदिपर्व के अंशावतरण पर्व में और इस महापर्व, आदिपर्व के अध्याय संख्या 63 में। हम दोहरा दें कि हम गीताप्रेस, गोरखपुर का 'महाभारत' संस्करण प्रयोग में ला रहे हैं। तो पहले वह कथा सुन ली जाए, जो व्यास ने इस अध्याय के (आदिपर्व, 63.70-85) श्लोकों में खुद ही अपने मुँह से कही है।

वैसे तो खुद व्यास की माँ सत्यवती की जन्म-कथा ही अपने आप में एक अजूबा है। सत्यवती का जन्म अद्रिका अप्सरा से हुआ था और परिस्थितियों की विवशता से वह जन्म के तुरंत बाद ही दाशराज नामक मल्लाह को पालन-पोषण के लिए सौंप दी गई थी (आदिपर्व, अध्याय 63)। सत्यवती के शरीर से जन्म से ही मछली की गंध आती थी, इसलिए वह 'मत्स्यगंधा' भी कहलाती थी। मछली की गंध कैसी होती है, इसका अनुभव आप तभी कर पाएँगे जब मछली-बाजार के सामने से गुजरते वक्त आप नाक पर रूमाल रखने को मजबूर हो जाएँगे। और जब किसी लड़की के शरीर से जन्मकाल से ही ऐसी गंध आ रही हो तो उसे क्या-क्या भुगतना पड़ा होगा, कल्पना करना मुश्किल नहीं। उस लड़की के सौभाग्य से जब वह शिशु से युवती हुई तो वह अद्‌भुत सौंदर्य और आकर्षक व्यक्तित्व की स्वामिनी हो गई। यानी दोनों ही चीजें अतिरेक में, सौंदर्य का भी अतिरेक और गंध का भी अतिरेक। पिता दाशराज ने उसे नाव खेने के काम में लगा दिया और वह लोगों को यमुना पार करवाया करती।

एक दिन की बात है। अपने जमाने के परम तेजस्वी पराशर मुनि यमुना पार करने के उद्‌देश्य से सत्यवती की नाव में बैठे और सत्यवती के अद्‌भुत सौंदर्य को देख उस पर रीझ गए और आपा खो बैठे। वहीं नाव में ही उन्होंने सत्यवती के साथ सहवास (सेक्स) करने की अपनी इच्छा जता दी। सत्यवती को पराशर मुनि के साथ सहवास में कोई आपत्ति नहीं थी। उसे सिर्फ तीन रुकावटें नजर आ रही थीं, जो उसने एक-एक करके बता दीं और मुनि ने अपने तपोबल से तीनों बाधाएँ एक-एक करके दूर कर दीं। पहली बाधा—सत्यवती ने कहा कि आप नाव में ही काम-समागम करना चाहते हैं, पर नदी के दोनों किनारों पर खड़े लोग तो इसे देख रहे हैं। मुनि ने तुरंत घना कुहरा नाव के चारों ओर पैदा कर दिया और सत्यवती को निःशंक कर दिया। दूसरी बाधा—सत्यवती ने कहा कि मैं कन्या हूँ, अपने पिता के घर रहती हूँ; पर आपके साथ काम-समागम करते ही मेरा कन्या भाव समाप्त हो

जाएगा तो फिर मैं अपने पिता के घर कैसे रह पाऊँगी? मुनि ने इसका भी इंतजाम कर दिया और कहा कि मेरे साथ समागम करने के बाद भी तुम्हारा कन्या रूप यथावत् बना रहेगा। तीसरी बाधा—सत्यवती ने कहा कि मेरे शरीर से मछली की बू आती है, मैं कैसे आपके योग्य हूँ? मुनि ने तुरंत वरदान द्वारा उसके शरीर को उत्तम सुगंध से भर दिया और मत्स्यगंधा सत्यवती अब योजनगंधा हो गई, क्योंकि उसके शरीर की नई सुगंध एक योजन तक फैलती थी।

फिर समागम हुआ। सत्यवती को गर्भ ठहरा। एक शिशु का जन्म हुआ। यही वेदव्यास कहलाए। उनकी माँ उन्हें 'कृष्ण' कहती थी, क्योंकि उनका शरीर काला था। पराशर के पुत्र, इसलिए पाराशर्य। सत्यवती के पुत्र, इसलिए सत्यवतीनंदन। लज्जावश माँ शिशु को घर नहीं ले गई और उसने चुपचाप नदी किनारे एक द्वीप में उसका पालन-पोषण किया, इसलिए व्यास कहलाए द्वैपायन। बड़े होकर उन्होंने चारों वेदों को चार संहिताओं में बाँध दिया, इसलिए कहलाए वेदव्यास। तो यह है कृष्ण, द्वैपायन, पाराशर्य, सत्यवतीनंदन, वेदव्यास की जन्म-कथा। चूँकि वे एक कन्या की संतान थे, इसलिए कहलाए कानीन। इस पूरी कथा में ऐसा क्या है, जिसे वेदव्यास गर्वपूर्वक सुना सकते थे?

कुछ नहीं, बल्कि छिपाने लायक काफी कुछ है। एक विद्वान् और ऋषि तुल्य पिता की कामातुरता, जिसे पूरा करने में वह किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं। दुर्गंध से परेशान एक माँ का सुगंध से भरा शरीर पाने के एवज में शरीर का दान। बिना विवाह के एक कन्या के गर्भ से जन्म लेना। पिता से चोरी-छिपे एक कन्या-माँ द्वारा द्वीप में लुका-छिपाकर अपने गर्भ और फिर अपने पुत्र को पालना। पर इन सभी नकारात्मक पहलुओं से परेशान हुए बिना वेदव्यास ने अपने जन्म की पूरी कथा, जिसे कहते हैं वर्बेटिम, सुना दी तो क्या आप वेदव्यास को इसके लिए पूर्णांक नहीं देना चाहेंगे?

हम तो देना चाहेंगे। कैसे वेदव्यास गर्भाधान के तुरंत बाद ही पैदा हो गए, यह मामला आयुर्विज्ञान का है, इस पर अपनी कोई टिप्पणी, सकारात्मक या नकारात्मक, हो ही नहीं सकती। जो विषय शोध और पड़ताल का हो, उसका मजाक तो खैर उड़ाया ही नहीं जा सकता। पराशर द्वारा दिए गए तीन-तीन चमत्कारों पर जब व्यास ने कोई टिप्पणी नहीं की, फिर हम काहे को करें! पर जीवन-मूल्य? एक मुनि किसी भी अनजान कन्या पर रीझ सकता है, एक कन्या कुछ लाभ उठाकर उसकी इच्छा पूरी कर सकती है—ये दो बातें ऐसी हैं, जिनका सीधा नाता टेक्नोलॉजी और वित्त की समृद्धि से सराबोर महाभारत काल की मूल्य-व्यवस्था से

है। और आज की निगाह से देखें तो कोई भी इन्हें मूल्यों की गिरावट कह देना चाहेगा। पर व्यास तो कुछ नहीं कह रहे। क्रांतदर्शी कवि व्यासदेव ने बड़े ही सहज भाव से सारी कथा सुना दी है। तो क्या महाभारत काल में स्त्री-पुरुष संबंध इस हद तक खुले और ईमानदार थे और इसलिए स्वीकार्य थे?

महाभारत पढ़ने के बाद एक तसवीर-सी हमारे सामने खिंच जाती है कि यह प्रबंधकाव्य उस जमाने का है, जो आर्थिक संपन्नता और टेक्नोलॉजिकल प्रचुरता के मामले में लगभग हमारे जमाने जैसा ही रहा था। संपन्नता और प्रचुरता के इस माहौल को बताने के बाद ही तो अब हम जान पाएँगे कि कैसी थी उस वक्त की मूल्य-व्यवस्था? उसी का एक नमूना हमने प्रस्तुत किया व्यासदेव द्वारा खुद अपनी ही जन्म-कथा के बयान के माध्यम से। किसी भी समाज की मूल्य-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण नियामक तत्त्व यह होता है कि उस समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों की हालत क्या है। व्यास ने जिस बिंदास तरीके से खुद अपने ही जन्म की कहानी सुनाई है, वह उस जमाने में स्त्री-पुरुष संबंधों की स्थिति पर ही भरपूर रोशनी डाल देती है, जिस रोशनी के सहारे हम जैसा आकलन चाहें, कर सकते हैं।

व्यास के जन्म की कथा का संबंध, जाहिर है, उनकी माँ सत्यवती से है, जिसने यमुना के पानी पर चलाई जा रही अपनी नाव पर ही पराशर मुनि नामक एक नौका-यात्री से काम-संबंध स्थापित कर व्यास नामक पुत्र को पा लिया था, इस वरदान के साथ कि पुत्र के जन्म देने के बावजूद सत्यवती का कन्याभाव बना रहेगा। इसी कन्या सत्यवती को एक बार यमुना के तट पर देखकर हस्तिनापुर के परम प्रतापी सम्राट् शांतनु भी वैसे ही रीझ गए जैसे कुछ समय पूर्व पराशर रीझ गए थे। फर्क यह था कि मुनि पराशर ने सत्यवती के साथ वहीं नाव में सहवास कर लिया था, जबकि महाराज शांतनु ने उसके पिता दाशराज के पास जाकर बाकायदा सत्यवती के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। बाकी कहानी हम सभी जानते हैं। हम जानते हैं कि कैसे सत्यवती के पिता ने शर्त बाँध दी कि यह शादी तभी हो सकती है जब शांतनु प्रतिज्ञा करें कि सत्यवती को उनसे प्राप्त होनेवाला पुत्र ही उनके बाद हस्तिनापुर के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। हम जानते हैं कि कैसे शांतनु को गंगा से प्राप्त पुत्र देवव्रत ने पहले राज्य पर दावा छोड़ने की प्रतिज्ञा की और फिर यह प्रतिज्ञा भी कि वे आजीवन ब्रह्मचारी रहकर विवाह भी नहीं करेंगे, ताकि उनकी कोई भावी संतान भी सत्यवती के पुत्र को राजा बनने देने में समस्या पैदा न कर सके। इन्हीं प्रतिज्ञाओं के बाद से ही देवव्रत का नाम 'भीष्म' पड़ गया, जो आगे चलकर भीष्म पितामह कहलाए।

इस संपूर्ण कथा में कुछ बातें उस समय के समाज की मूल्य-व्यवस्था की दृष्टि से खासी महत्त्वपूर्ण हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि शांतनु के साथ सत्यवती के विवाह के मौके पर पराशर-सत्यवती समागम का और उससे मिली व्यास नामक संतान का कोई मुद्दा ही खड़ा नहीं हुआ; जबकि महाभारत के हर पात्र को हर वक्त मालूम था कि व्यास सत्यवती के पुत्र हैं और उनका जन्म कैसे हुआ था। जाहिर है कि शांतनु को उस पर कोई आपत्ति नहीं थी और न ही सत्यवती के मन में कोई ऐसा अपराध-बोध था। यह भी आश्चर्य की बात है कि शांतनु के पुत्र देवव्रत भीष्म विवाह लायक उम्र के थे, पर बेटे की शादी के बारे में सोचने के बजाय शांतनु खुद अपनी समस्या में लीन थे और उनकी शादी भी उस सत्यवती से हुई, जो आयु के हिसाब से देवव्रत भीष्म के साथ विवाह के लायक थी। इस पर क्या निष्कर्ष निकाला जाए? खासकर तब, जबकि शांतनु के इस व्यवहार पर कोई विपरीत टिप्पणी पूरी 'महाभारत' में पढ़ने को नहीं मिलती, बल्कि वे इस देश के अतिश्रेष्ठ व आदर्श सम्राटों की पाँत में सम्मानपूर्वक बिठाए गए हैं, खुद व्यास द्वारा। पर सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि शांतनु-सत्यवती विवाह का पूरा आयोजन शांतनु के परम तेजस्वी पुत्र देवव्रत भीष्म के हाथों संपन्न हुआ। पहली बार प्रस्ताव रखने के बाद और दाशराज की शर्त सुनने के बाद महाराज शांतनु राजमहल वापस लौट आए थे, क्योंकि वे राज्य के उत्तराधिकार के मामले में अपने परम तेजस्वी गंगा-पुत्र से कतई अन्याय नहीं करना चाह रहे थे। पर उनका दिल सत्यवती में अटका था और वे चुप तथा गमगीन थे। देवव्रत भीष्म ने पिता को इस हालत में देखा तो अपने पिता के मंत्रियों से और पिता के रथ के सारथि से सारा हाल-चाल मालूम कर लिया और फिर सत्यवती से अपने पिता की शादी करवा दी।

तो निष्कर्ष दो ही निकलते हैं। क्या स्त्री-पुरुष संबंधों की दृष्टि से महाभारत का समाज गिरा हुआ था? या बिलकुल बेतकल्लुफ था? उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में ही हो सकता है। कोई बीच का या औसत जवाब संभव ही नहीं है। जब व्यासदेव ने अपना कोई उत्तर नहीं दिया तो हम भला किस बूते पर अपना निष्कर्ष आप पर थोप सकते हैं! हाँ, इतना अवश्य है कि आप और हम निष्कर्ष निकालने लायक हो सकें, इसके लिए हम अपना परिचय कुछ अन्य ऐसी ही घटनाओं से कर लेते हैं।

सत्यवती की शादी शांतनु से हो गई और बुढ़ा रहे शांतनु से सत्यवती को दो संतानें हुईं। दोनों लड़के—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। दोनों के नाम में जिन चित्र-विचित्र शब्दों का प्रयोग है, दोनों थे भी चित्र-विचित्र और उस वक्त के समाज के

अजब नमूनों की तरह वे हमारे समाने पेश होते हैं। पूरे कुरु वंश में दोनों इस कदर गुमनाम हैं कि पुरानी कहानियों को पूरी तवज्जो से याद रखने को तत्पर हमारे देश के लोगों को आमतौर पर ये दोनों नाम याद ही नहीं हैं; जबकि ये दोनों शांतनु के, और कौरवों-पांडवों के पिता धृतराष्ट्र और पांडु सरीखे प्रसिद्ध नामों के बीच की कड़ी हैं। ये दोनों अपने जमाने के ऐसे अजब नमूने हैं कि अगर इनके जरिए उस वक्त की मूल्य-व्यवस्था पर बहस में हमें मदद न मिल रही होती तो हम भी इन्हें याद नहीं करते।

शांतनु जब मरे तो उनके ये दोनों पुत्र अभी छोटे थे। भीष्म की प्रतिज्ञा थी कि वे राजा नहीं बनेंगे। इसलिए वे कार्यवाहक के रूप में, यानी रीजेंट के रूप में राजकाज तो देखने लगे, पर राजा बनाया गया चित्रांगद को। बड़े होने पर चित्रांगद हस्तिनापुर का महा अहंकारी शासक साबित हुआ, जिसका चित्रांगद नामक एक गंधर्वराज के साथ इस खुंदक में युद्ध हुआ कि एक ही धरती पर चित्रांगद नामवाले दो राजा नहीं हो सकते। खुंदक गंधर्वराज को थी, (आदिपर्व, 101.8) पर चित्रांगद के पास इस युद्ध को टालने की, यानी इस मूर्खतापूर्ण युद्ध को टालने की कोई कला और अक्ल नहीं थी। खुंदक और अहंकार में वह भी गंधर्वराज के साथ इस युद्ध के मैदान में कूद पड़ा और अपनी जान से हाथ धो बैठा। ऐसे मूर्ख और अहंकारी राजा को अपने समय का अजब नमूना ही तो कह सकते हैं। पर 'महाभारत' नामक प्रबंध काव्य के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों के लिए सोचने का मुद्दा यह है कि कैसे देश की केंद्रीय सत्ता यानी हस्तिनापुर के सिंहासन पर एक ऐसा राजा बिठाया गया और वह स्वीकार्य भी हुआ? देश और प्रदेशों की राजधानियों में पिछले पाँच-छह दशकों में शासन में आए कुछ नामों पर अगर आप शरारती निगाह दौड़ाएँगे तो ऐसे कई चित्रांगद आपको इस देश में जगह-जगह राज कर चुके और आज भी करते हुए नजर आएँगे।

चित्रांगद तो अपने अहंकार और बेवकूफी का शिकार होकर शादी से पहले ही इस दुनिया से कूच कर गया, पर उसके बाद जो दूसरा नमूना हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा वह विचित्रवीर्य हर तरह से इतना कमजोर था कि खुद अपनी शादी करवा सके, इस लायक भी नहीं था। उस वक्त शादी के मामले में वधू का दर्जा ऊँचा था। या तो शादी क़े लिए वर पक्ष को कुछ शर्तें माननी पड़ती थीं, जैसे शांतनु ने मानीं या फिर कन्या स्वयंवर के जरिए अपनी मन-मरजी का पति चुन लेती थी। स्त्री को इतना अधिकार संपन्न रखनेवाले उस जमाने में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो अपनी शारीरिक शक्ति के बूते स्त्री के अधिकारों को अच्छी तरह रौंद

दिया करते थे। विचित्रवीर्य के मामले में यही हुआ। वह खुद शादी के लायक था ही नहीं, न तो उसमें इतना नैतिक बल था कि वह वधू पक्ष की कोई शर्त मानने की स्थिति में आ पाता और न उसमें इतनी तेजस्विता थी कि किसी स्वयंवर में कोई राजकन्या उसे अपना पति चुनकर अपने को सौभाग्यशाली मान पाती। यानी विचित्रवीर्य का विवाह एक समस्या थी।

इस समस्या का हल भीष्म ने अपने बाहुबल से निकाल लिया। संयोगवश काशी के राजा ने अपनी तीन कन्याओं का एक साथ विवाह करने की सोची और उनके लिए स्वयंवर रचाया, स्वयं यानी खुद वर चुनने का उत्सव। कन्याओं के नाम थे—अंबा, अंबिका और अंबालिका। था तो उनका स्वयंवर, पर विचित्रवीर्य की शादी करवाने पर आमादा 'रीजेंट' देवव्रत भीष्म काशी जाकर उन तीनों का बलात् हरण कर हस्तिनापुर ले आए और तीनों को विचित्रवीर्य से विवाह करने को कहा। अंबिका और अंबालिका तो मान गईं, पर अंबा अड़ गई। उसका सीधा-सादा तर्क था कि वह शाल्व से प्रेम करती है और वह सिर्फ उसी से विवाह करेगी और स्वयंवर में भी वह उसी को अपना पति चुनने वाली थी। भीष्म ने अपने सहयोगियों से खूब विचार-विमर्श कर अंबा को शाल्व के पास पहुँचाने की व्यवस्था कर दी और शेष दोनों का विवाह विचित्रवीर्य से करवा दिया। पर तीनों बहनों का जीवन कुल मिलाकर बरबाद हो गया। अंबा शाल्व के पास गई तो शाल्व ने उससे यह कहकर शादी करने से इनकार कर दिया कि भीष्म ने उसे (यानी शाल्व को) युद्ध में हराकर उसका (यानी अंबा का) अपहरण किया था, इसलिए वह अब अंबा को नहीं स्वीकार कर सकता। निराश अंबा तपस्या करने चली गई, ताकि वह भीष्म से बदला लेने की शक्ति का संचय कर सके। उधर कमजोर विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियों के साथ ऐसा रमा कि लंबे समय तक अपने महल से बाहर ही नहीं निकला। और जब निकला तो वह राजयक्ष्मा यानी तपेदिक का मरीज होकर निकला और बिना अपने राज्य का उत्तराधिकारी छोड़े ही इस दुनिया से उठ गया। प्रतिज्ञा के कारण न चाहते हुए भी भीष्म को 'रीजेंट' के रूप में लंबे समय तक हस्तिनापुर का शासन सँभालना पड़ा।

महाभारत काल के इन दो अजब नमूनों से तो हमारा परिचय हो गया। अब उठते हैं सवाल। क्यों भीष्म को अपनी प्रतिज्ञा से इतना ज्यादा प्यार था कि उन्होंने राज्य की स्थिरता और प्रजा के कल्याण को तो दाँव पर लगने दिया, पर वे खुद राजा नहीं बने? राजा उन्होंने पहले चित्रांगद को ही बनाया, जो मूर्ख और अहंकारी था और उसके बाद विचित्रवीर्य को बनाया, जो किसी भी दृष्टि से राजा बनने लायक

नहीं था। भीष्म रीजेंट बने रहे, पर न तो सत्यवती ने और न ही राज चलानेवाले मंत्रियों में से किसी ने या सभी ने भीष्म से कभी राजा बनने को निर्णायक रूप से कहा। दोनों पुत्रों के मर जाने के बाद सत्यवती ने बस एक बार हलके से भीष्म से कहा कि अब राजसिंहासन पर अपना अभिषेक करें, जिसे भीष्म ने दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया। यह कैसा समाज है, जो राजा के लिए जरूरी गुणों का तो जबरदस्त बखान करता है, पर जब प्रतिज्ञा और अयोग्य राजा में चुनाव हो तो अयोग्य राजाओं को एक के बाद एक लोगों पर थोप देता है? यह कैसा समाज था, जो एक ओर तो कन्याओं को अपना पति खुद चुनने का खुला अवसर उपलब्ध कराता है तो दूसरी ओर बाहुबल के आगे उन कन्याओं को असमर्थ व्यक्ति से विवाह करने को बाध्य करता है? यह कैसा समाज है, जहाँ एक ओर देवव्रत भीष्म अपनी अविवाह-प्रतिज्ञा को धर्म मानकर आजीवन उसका पालन कर हमेशा के लिये एक आदर्श, मानदंड मान लिये जाते हैं, वहीं दूसरी ओर यह जानते हुए भी कि उनका भाई विवाह के अयोग्य है, उसके लिए अपने शौर्य के दम पर कन्याओं का जीवन बरबाद कर देते हैं? 'महाभारत' के ये दो अजब नमूने कई सारे सवाल हमारे सामने खड़े कर जाते हैं, जिनका समालोचन हम कई और घटनाओं के साथ जोड़कर भविष्य में करते रहेंगे। पर धीरे-धीरे खुलासा हो रहा है कि क्यों हमारा समाज हमेशा महाभारत कथा को अपने संस्कारों का प्रतीक बनाने से परहेज करता रहा है।

□

स्त्री और पुरुष के यथार्थ का स्वीकार

इस तरह के महाभारत कालीन हमारे पूर्वजों के समाज में स्त्री की हालत क्या थी? पुरुष के साथ उसके संबंध कैसे थे? स्त्री और पुरुष के आपसी संबंधों को समाज किस निगाह से देखता था? यानी किस तरह के मूल्य विकसित किए थे समाज ने स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर?

हम इस परिस्थिति से इसलिए दो-चार होना चाहते हैं, क्योंकि मनुष्य-समाजों में मूल्यों के निर्धारण में, उनकी स्वीकृति या धिक्कृति में इन्हीं सवालों को अकसर मानक बना दिया जाता है। इसलिए उस समाज के बारे में, जिसे विपुल वैभव और तकनीकी सामर्थ्य सहज उपलब्ध थे, उस समाज में हमारे द्वारा आज उठाए गए इन सवालों के प्रति क्या नजरिया था? यानी क्या था तब की स्त्री का सामाजिक रुतबा? और कैसा था स्त्री-पुरुष संबंधों का यथार्थ? जवाब देने के लिए हमारी शैली वही है। तब की घटनाएँ टटोली जाएँ और तब के स्त्री पात्रों को परखा जाए।

महाभारत की जिन तीन घटनाओं के संदर्भ की याद हम पाठकों को करवाना चाह रहे हैं, उनमें से सिर्फ एक घटना ही कुछेक के लिए एकदम नई जानकारी हो सकती है, अन्यथा शेष दो घटनाओं से सभी सुपरिचित हैं। सभी सुपरिचित हैं कि कुंती को विवाह से पहले ही एक पुत्र की प्राप्ति हो गई थी—कर्ण की, जिसे कुंतिभोज की इस दत्तक कन्या ने (जो वास्तव में शूरसेन की पुत्री थी और वसुदेव की बड़ी बहन होने के कारण कृष्ण की बुआ थी) एक संदूक में बंद करके पानी में बहा दिया था। कर्ण फिर सूत अधिरथ को मिले और आजीवन 'सूतपुत्र' कहलाए। आगे बढ़ने से पहले थोड़ा तुलना कर लें। कुंती के समान ही सत्यवती को भी

विवाह से पहले ही एक पुत्र की प्राप्ति हो गई थी। जहाँ कुंती ने अपने पुत्र को पानी में बहा दिया, वहाँ सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास का पालन-पोषण अपने सुरक्षित हाथों में किया। यह फर्क है। पर समानता यह है कि दोनों ने अपने-अपने पिता से अपने पुत्र होने की घटना छिपा ली। वैसे यह एक आश्चर्य भी है कि कैसे छिपा ली होगी। दोनों में एक महीन समानता और भी है। दोनों को अपने समय के महामुनियों की प्रसन्नता से संतान मिली। पराशर ने सत्यवती के साथ शारीरिक संबंध बनाया और व्यास का जन्म हुआ तो कुंती ने दुर्वासा को प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति का मंत्र प्राप्त किया। सत्यवती वाला मामला तो साफ समझ में आता है; पर कुंती ने उस मंत्र की मदद लेकर सूर्य, धर्मराज, वायु और इंद्र के आशीर्वाद से क्रमशः कर्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को जन्म दिया तो उससे मंत्र सीखकर उसकी सपत्नी माद्री ने अश्विनीकुमारों के आशीर्वाद से नकुल-सहदेव को जन्म दिया।

दूसरी घटना का संबंध व्यास से है। चित्रांगद विवाह से पूर्व ही और विचित्रवीर्य विवाह के बाद निस्संतान ही मर गए थे और हस्तिनापुर राजकुल उत्तराधिकारी से विहीन हो गया। ऐसे में सत्यवती की आज्ञा से व्यास ने विचित्रवीर्य की एक पत्नी अंबिका से धृतराष्ट्र को और दूसरी पत्नी अंबालिका से पांडु को उत्पन्न किया। इसी क्रम में व्यास द्वारा एक दासी को हुए गर्भ से विदुर का जन्म हुआ। इस तरह धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर एक ही पुरुष (पिता?) की सहायता से अलग-अलग माताओं के गर्भ से उत्पन्न होने के बावजूद भाई माने गए। पर दासीपुत्र होने के कारण विदुर को राज्य के लायक नहीं माना गया, हालाँकि तीनों भाइयों में वह सर्वाधिक प्रतिभा-संपन्न था। तीसरी घटना की जानकारी कम लोगों के पास होगी। वह यह कि बेशक कौरव सौ भाइयों के रूप में हरेक को पता हैं, पर इन सौ पुत्रों के अलावा धृतराष्ट्र को एक और पुत्र था, जो गांधारी के गर्भ से पैदा नहीं हुआ था। महाभारतकार बताते हैं कि जिन दिनों गांधारी गर्भवती थी, धृतराष्ट्र की सेवा में उन दिनों जिस दासी को नियुक्त किया गया था, उसी के साथ धृतराष्ट्र ने अपना संबंध बना लिया और उसके गर्भ से जो पुत्र पैदा हुआ उसका नाम था—युयुत्सु। महाभारत का महासंग्राम शुरू होने के वक्त युधिष्ठिर ने खुली घोषणा की कि अगर कोई योद्धा अपना पक्ष बदलना चाहे तो वह युद्ध शुरू होने से पहले वैसा करने को स्वतंत्र है। इस घोषणा के बाद युयुत्सु अपने भाइयों को छोड़ पांडवों से जा मिला और उन्हीं की ओर से युद्ध में लड़ा। युयुत्सु युद्ध में नहीं मारा गया था; देखें, महाभारत, महाप्रस्थानिकपर्व, अध्याय 1.6।

तमाम संदर्भों को एक साथ रखकर देखें तो बड़ी ही अजीबोगरीब तसवीर

उस जमाने के हमारे पूर्वजों के समाज के बारे में उभरकर सामने आती है। एक तसवीर यह उभरती है कि उस समाज में स्त्री की भूमिका काफी स्वतंत्र और सम्मानित है। सत्यवती और कुंती ने विवाह से पूर्व पुत्र उत्पन्न किए; पर सबको यह बात मालूम होने पर भी (जब भी मालूम पड़ी) उनके बारे में कोई विपरीत धारणा किसी के मुँह से सुनने को नहीं मिलती। यहाँ तक कि जब युद्ध की पूर्व संध्याओं में से एक दिन कुंती ने कर्ण को उसके जन्म के बारे में बताया और कहा कि पाँचों पांडव तुम्हारे भाई हैं और तुम युद्ध में उन्हें मत मारो, तो जहाँ कर्ण ने अर्जुन के अलावा बाकी चारों को न मारने का वचन दिया और उसे पूरा भी किया, वहाँ उसने अपनी माँ का माँ के रूप में पूरा सम्मान भी किया। यानी अनब्याही माँ को समाज में कोई दुत्कार नहीं, बेशक उन माँओं को अपनी इस हालत पर संकोच जरूर है।

इतना ही नहीं, वह समाज स्त्री को अपना पति खुद चुनने का अधिकार स्वभाववश दे रहा है। राज-समाज ने इस अधिकार का सम्मान स्वयंवर प्रथा के रूप में किया तो सामान्य रूप से कन्याओं को अपनी इच्छा से विवाह करने के ढेरों उदाहरण महाभारत में हैं। अपनी मरजी से, बिना विवाह के ही, काम संबंध स्थापित कर लेने के उदाहरण भी कम नहीं हैं। फिर इसी समाज में संतान की पहचान पिता के साथ-साथ माँ के साथ भी है, बल्कि कई मामलों में तो माँ से ही पहचान ज्यादा है। व्यास सत्यवतीनंदन हैं तो वासुदेव कृष्ण देवकीनंदन और यशोदानंदन हैं। कर्ण माँ राधा (के द्वारा पाले जाने) के कारण राधेय हैं तो युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन माँ कुंती के नाम पर कौंतेय हैं। इसका नुकसान भी इन संतानों को इस कारण हुआ है। दासीपुत्र होने के कारण ही विदुर को धृतराष्ट्र और पांडु की तरह राजपुत्र नहीं माना गया, हालाँकि तीनों के जन्मदाता व्यास ही हैं। इतना ही नहीं, विवाह के लिए जब शर्तें रखी गईं, स्त्री पक्ष की ओर से ही रखी गईं और वर पक्ष सिर्फ उन्हें स्वीकार करनेवाला पक्ष ही था। इन सकारात्मक पहलुओं के साथ-साथ नकारात्मक पहलू यह भी है कि विवाह के लिए कन्या का बलपूर्वक अपहरण भी होता रहा। इन दो विरोधाभासी स्थितियों में कैसे सामंजस्य बिठाया जाए, यह कोई आसान काम नहीं। दो पहलू और भी हैं, खासे अजीब पहलू। पुरुष और स्त्री की एक-दूसरे से काम-निवेदन पर प्रतिक्रिया गुस्से या दुत्कार की प्रायः नहीं है, बल्कि अकसर स्वीकृति की ही है। महाभारत के कुछ उदाहरणों को याद कर लें, मसलन पराशर, शांतनु, पांडु, धृतराष्ट्र आदि के उदाहरण, तो लगता है कि जैसे अपनी कामोत्तेजना को स्पष्ट व्यक्त करने में किसी को कोई संकोच नहीं और इस

आधार पर किसी को कोई तिरस्कार भी नहीं है। संतान पाने के लिए नियोग जैसे नियम (जिसे उद्धृत कर सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास को अंबिका-अंबालिका से संतान पाने को कहा) जो समाज बना लेता हो और उन नियमों को स्वाभाविक रूप से व्यवहार में आने देता हो, बिना कोई सामाजिक या पारिवारिक संकट पैदा किए, उस समाज के बारे में क्या राय बनाएँगे आप? व्यास कोई टिप्पणी नहीं करते। लगता है जैसे महाभारत कालीन हमारे पूर्वजों के समाज ने स्त्री, पुरुष और उनके संबंधों के यथार्थ को यथावत् स्वीकार किया हुआ था और क्रांतदर्शी व्यास ने इस यथार्थवादी सामाजिक मूल्य को इसी यथार्थवादी दृष्टि से हमारे सामने पेश कर दिया है। आप चाहें तो इन सामाजिक मूल्यों की तुलना वित्त और टेक्नोलॉजी की समृद्धि से सराबोर आज के पश्चिम के सामाजिक मूल्यों के साथ बखूबी कर सकते हैं। क्या आज का भारत भी फिर से इसी दिशा की ओर अग्रसर है?

अब जरा इन्हीं और इन सरीखी परिस्थितियों का आकलन हस्तिनापुर की चार अन्य वधुओं—अंबा, कुंती, गांधारी और द्रौपदी के संदर्भ में भी कर लेने में कोई हर्ज नहीं। तो पहला सवाल है, क्या अंबा को कुरु वंश की कुलवधू माना जाए? एक हिसाब से 'हाँ' तो एक हिसाब से 'नहीं', हालाँकि 'हाँ' वाला हिसाब कोई बहुत ज्यादा वजनदार नहीं लगता। बेशक महाभारत काल के करीब सवा सौ वर्ष पूर्व, यानी अंबा के जीवनकाल से थोड़ा ही पूर्व, विवाह सूक्त की रचना कर सविता ऋषि की बेटी सूर्या सावित्री ने विवाह के उस रूप की शुरुआत कर दी थी, जो रूप हम भारतीयों के समाज में आज तक चला आ रहा है। पर चूँकि हर अच्छी परंपरा को लोगों के बीच जड़ पकड़ने में वक्त लगता ही है, इसलिए आज तक प्रचलित, पर आज से करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व शुरू की गई विवाह प्रथा को भी लोगों के बीच स्वीकार्यता मिलने में कुछ समय, यानी पाँच-छह सदियाँ तो लग ही गई होंगी। अतः महाभारत के समय यदि शर्तों के आधार पर होनेवाली प्राचीन काल से चलती आ रही प्रथा चलन में बनी रही तो क्या आश्चर्य?

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि काशिराज ने अपनी तीन बेटियों—अंबा, अंबिका और अंबालिका की शादी के लिए शर्त रख दी कि जो सबसे बलवान् हो, वह उसकी बेटियों का स्वयंवरण करके ले जाए। जरा सोचिए कि तब का वह हमारा समाज कैसा रहा होगा, जब लड़कियों को वीर्यशुल्का बना दिया गया—यानी अपनी ताकत का प्रदर्शन करिए और शादी के लायक साबित होकर लड़की को ले जाइए, चाहे तो हरण कर लीजिए। वे वही दिन थे, जब कृष्ण ने बलराम के विरोध के बावजूद अर्जुन को उकसाया था कि वह उनकी बहन सुभद्रा

का हरण करके ले जाए। बेशक संदर्भ अलग था, पर करीब-करीब उसी तर्ज पर काशिराज ने राजाओं को अपनी तीनों लड़कियों के स्वयंवर के लिए न्यौता दिया और शर्त लगा दी कि जो सर्वाधिक शक्तिशाली हो, वह उनको ले जाए। जाहिर है कि विवाहेच्छुक राजाओं के हुजूम में वही इन तीन लड़कियों के हरण की जुर्रत कर सकता, जो सबसे ज्यादा शक्तिशाली होता।

तो, जैसा कि हम पिछले अध्याय में संकेत कर आए हैं, उस समय के सबसे शक्तिशाली योद्धा भीष्म ने इन तीनों का हरण कर लिया। भीष्म ने तो आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत अपने पिता शांतनु के सामने लिया था, इसलिए अपने लिए तो वे इन तीनों कन्याओं का हरण करके लाए नहीं थे। वे अपनी माँ (शांतनु की दूसरी पत्नी) सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य के साथ विवाह करवाने के इरादे से उन कन्याओं का हरण करके लाए थे। अंबा भी उन तीन कन्याओं में से एक थी। उनका हरण विचित्रवीर्य से विवाह के लिए किया गया था। हरण के बाद वह कुरु राजप्रासाद में लाई ही गई थी। तो क्या इसी आधार पर अंबा को अपनी बहनों अंबिका और अंबालिका की तरह कुरु वंश की कुलवधू मान लिया जाए? मान भी सकते हैं। पर यह तर्क चूँकि कोई वजनदार नहीं है, इसलिए वैसा नहीं भी मान सकते; क्योंकि हम जानते हैं कि अंबा ने विचित्रवीर्य से विवाह नहीं किया था।

इसलिए कुरु वंश की कुलवधू मानें तो भी और न मानें तो भी, इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि अंबा अपने युग की एक बहुत ही तेजस्विनी नारी थी और उसकी गणना उस समय की दूसरी चार तेजस्विनी महिलाओं—सत्यवती, गांधारी, कुंती और द्रौपदी के साथ ही की जा सकती है। चूँकि शेष चारों महिलाएँ कुरु वंश की पुत्रवधुएँ हैं, इसलिए लालच हो सकता है कि इनके साथ अंबा को कुरु वंश की पुत्रवधू मान लिया जाए। पर अगर वैसा मान लिया तो अंबा से वास्तव में अन्याय हो जाएगा। जिस आधार पर वह अपने समय के महापराक्रमी नायक भीष्म को बार-बार चुनौती दे रही थी, उसे देखते हुए अंबा को कुरु वंश की कुलवधू भला क्यों माना जाए! अगर उसने कुरु वंश की कुलवधू कहलवाया जाना स्वीकार कर लिया होता तो उसके जीवन में वह अद्‌भुत घटनाक्रम घटता ही नहीं जिस घटनाक्रम के कारण अंबा को अंबा कहा जाता है। अंबा शाल्व से प्रेम करती थी और भीष्म द्वारा सभी राजाओं को हराकर हरण करने की उसके पिता की शर्त पूरी करने के बावजूद वह विचित्रवीर्य से विवाह नहीं कर सकी। भीष्म को अंबा का हृदय संबंध समझने में देर नहीं लगी और उन्होंने उसे शाल्व के पास भिजवा दिया। शाल्व ने अंबा को यह कहकर अपनाने से इनकार कर दिया कि वह भीष्म से युद्ध में

पराजित होकर अंबा को हार चुका है। अंबा को निराश भीष्म के पास लौट आना पड़ा। उसने भीष्म से विवाह का आग्रह किया तो भीष्म का अपना तर्क था कि वे तो आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा से बँधे हैं, विवाह कर ही नहीं सकते। परिणाम? अंबा हर ओर से दूर हटकर या हटाई जाकर अकेली, अपमानित हो गई।

अब बताइए, एक नारी का इससे बड़ा अपमान क्या हो सकता है कि उसे इस तरह की तिरस्कृत स्थिति में अकेला छोड़ दिया जाए? इस सारे परिदृश्य में दो ही बातें महत्त्व की हैं। एक, क्यों नहीं अंबा ने उस वक्त अपने पिता काशिराज से शाल्व से अपने प्रेम के बारे में बलपूर्वक कहा और बलशाली द्वारा हरण किए जाने की शर्त से स्वयं को मुक्त करवा लिया? बात तो महत्त्व की है, पर उस पर आप एक सीमा से आगे बल इसलिए नहीं दे सकते, क्योंकि अंबा के मन में अपने पिता से अपने मन की बात न कह पाने का कोई भी कारण हो सकता है। इसलिए अंबा को संकोच में रह जाने के अलावा दूसरा कोई दोष हम दे ही नहीं सकते।

पर भीष्म ने जो किया और उसके कारण अंबा को जैसा अपमान अनुभव हुआ, उसका पूरा बदला लेने की जैसे ही अंबा ने ठान ली तो इस तेजस्विनी नारी का असली रूप हमारे सामने आना शुरू होता है। भीष्म की इस पूरी भूमिका में उनके मन में नारी को एक वस्तु मानने का भाव छिपा है, जो अन्यथा भीष्म के स्वभाव से मेल नहीं खाता। ठीक है कि काशिराज की शर्त थी कि जो सबसे शक्तिशाली हो, वह उनकी कन्याओं का हरण कर ले। पर इस शर्त में यह आभास कहीं नहीं था कि आप किसी दूसरे के लिए भी अपने बल-प्रयोग से कन्याओं का हरण कर सकते हैं। भीष्म यहीं चूक गए। अपने दुर्बल और निर्वीर्य वंशज विचित्रवीर्य के लिए उन्होंने वही काम किया, जो स्वयं विचित्रवीर्य के बस का नहीं था। इसलिए अंबा का भीष्म से कहना कि उन्होंने उसका हरण किया है तो वे ही उससे विवाह करें, ठीक था और भीष्म द्वारा इस तर्क को प्रतिज्ञा की दुहाई देकर मानना यकीनन अंबा का अपमान था, जो भीष्म के हाथों हुआ। प्रतिज्ञा में बँधे होने के कारण भीष्म निष्पाप माने जा सकते हैं। काशिराज की प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने के कारण शाल्व भी निरपराध माने जा सकते हैं। पर इन सबके कारण अंबा का जो अपमान हुआ, उसका निराकरण कैसे हो सकता था?

यह काम चूँकि किसी के बस का नहीं रह पाया था, इसलिए अपमानदग्ध अंबा ने स्वयं ही इसका बदला लेने की ठान ली और अंबा के चरित्र में यहीं आकर एक ऐसी तेजस्विनी स्त्री जन्म लेती है, जिसकी कोई तुलना दूसरी किसी सामान्य स्त्री में देख पाना मुश्किल है। अंबा को अपनी दुरवस्था का कारण एक ही व्यक्ति

नजर आया—भीष्म और उसने ठान ली कि वह भीष्म से बदला लेकर रहेगी। यहाँ भी अंबा ने पहले कोशिश की कि भीष्म को उनसे अधिक बलवान् किसी योद्धा से पराजित करवाकर अपने स्वाभिमान की रक्षा की जाए। इसलिए अंबा ने परशुराम से प्रार्थना की और प्रार्थना से द्रवित परशुराम ने भीष्म से संघर्ष किया। पहले अनुरोध किया कि भीष्म अंबा से विवाह करें। भीष्म ने फिर से प्रतिज्ञा की दुहाई दी तो फिर परशुराम ने भीष्म से प्रबल युद्ध किया। पर जैसे भीष्म को प्रतिज्ञा से डिगाना आसान नहीं था, वैसे ही युद्ध में हराना कहाँ आसान था? इसलिए जब अंबा परशुराम के हाथों भीष्म को पराजित नहीं करवा सकी तो फिर महाभारतकार कहते हैं कि अंबा ने कठोर तप कर अपना लक्ष्य पाने का प्रयास किया।

हमारे देश में तपस्या का भी एक विचित्र आभामंडल बन गया है। जिस व्यक्ति ने संकल्पपूर्वक स्वयं को किसी लक्ष्य से जोड़ लिया और उसमें अपनी मेधा व कर्म की पूरी शक्ति लगा दी, उसे हमने तपस्या माना और फिर उसे एक खास आभामंडल देने के लिए उसे किसी देवता की उपासना और उस देवता से मिले वरदान से भी जोड़ दिया। अंबा की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने उसे वरदान दिया कि इस जन्म में तो नहीं, पर अगले जन्म में वह शिखंडी बनकर भीष्म का वध करेगी, तो इस वरदान को उसी संदर्भ में समझ लेने में क्या हर्ज है? चूँकि कोई हर्ज नहीं, इसलिए संदेश यह है कि अंबा ने भीष्म के हाथों अपने साथ हुए अन्याय को आजीवन स्वीकार नहीं किया और उसके प्रतिकार के लिए वह तेजस्विनी आजीवन संघर्षरत रही। अंबा ही शिखंडी बनी, ऐसा मानने में किसी को संकोच हो तो भी क्या अंबा के साथ-साथ हम कथाकार व्यास को भी एक सम्मान नहीं देना चाहेंगे? अंबा का सम्मान तो यह है कि उसने अपने संकल्प को आजीवन अपनी धुन बनाए रखा और कथाकार व्यास का सम्मान इसलिए कि उन्होंने इस दुर्धर्ष और अपराजेय नारी के संकल्प को जन्म-जन्मांतर का विषय बनाकर उसे और भी ज्यादा गतिशील बना दिया। अंबा ही शिखंडी थी, इसे मानने या न मानने को हममें से प्रत्येक स्वतंत्र है। पर अंबा ही शिखंडी थी, यह बताकर व्यास ने अपना इरादा जाहिर कर दिया है कि अंबा की तरह वे भी न केवल भीष्म को उनके द्वारा किए गए अन्याय के लिए माफ नहीं करते, बल्कि भीष्म को दंड देने में वे अंबा से भी एक कदम आगे हैं। पर सवाल है कि व्यासदेव ने जैसा काव्य-न्याय अंबा के साथ किया, क्या वैसा न्याय वे गांधारी के साथ भी कर पाए? शायद नहीं।

कुरु वंश की पाँच प्रख्यात कुलवधुओं में गांधारी का स्थान जितना महत्त्वपूर्ण रहा होगा, वेदव्यास ने उस महत्त्व को अपने प्रबंध काव्य में उस तरह से रेखांकित

नहीं किया। गांधारी धृतराष्ट्र जैसे काइयाँ व स्वार्थी राजा की धर्मपत्नी थी और दुर्योधन जैसे अहंकारी और अनावश्यक रूप से अति महत्त्वाकांक्षी व कुटिल पुत्र की माँ थी। यह गांधारी का दुर्भाग्य ही था कि वह ऐसे वातावरण का अंग बन गई, जिस वातावरण के लायक वह अपने स्वभाव से कतई नहीं थी। महाभारत में आप स्थान-स्थान पर पाएँगे कि जब-जब दुर्योधन किसी कुटिल योजना का विस्तार करता है तो धृतराष्ट्र उसे शुरू में मना करते हुए भी, या मना करने का नाटक करते हुए भी, अंततः सहमत हो जाते हैं। चाहे वारणावत के लाक्षागृह में पांडवों को भेजने की बात हो, युधिष्ठिर को जुए के लिए बुलाना हो या फिर कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध की तैयारियाँ करनी हों, धृतराष्ट्र ने सदा सद्बुद्धि देने का स्वाँग किया या बहुत ही कमजोर प्रयास किया। इतना ही नहीं, ऐसे हर मौके पर धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर की सलाह भी नहीं मानी। पर क्या गांधारी ने भी अपने उपदेशों और निर्णयों में ऐसी चालाकी की होगी?

नहीं की होगी, ऐसा उन पाँच या छह प्रसंगों से मालूम पड़ जाता है, जो गांधारी के बारे में एक लाख श्लोकों और अठारह पर्वों वाली महाभारत में मिलते हैं। इन कुछेक प्रसंगों से ही निष्कर्ष यह उभरता है कि गांधारी एक बहुत ही श्रेष्ठ चरित्र की महिला थी, जो धृतराष्ट्र के राजप्रासाद में नैतिक सत्ता का जीवंत प्रतीक थी। तब के तनाव भरे माहौल में वह शांति और सात्त्विकता की एक संवेदनशील प्रतिमा दिखाई देती है। इसलिए ऐसा मानने को सहसा मन नहीं करता कि तब के वातावरण में, जब कुरुकुल का राजप्रासाद घटनाओं और तरह-तरह की सक्रियताओं का केंद्र बना हुआ था, गांधारी उन सबकी मूकदर्शक बनी रही होगी। गांधारी के स्वभाव को देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि वह पति धृतराष्ट्र और पुत्र दुर्योधन की अनैतिक और कुटिल कारगुजारियों की समर्थक रही होगी। मूकदर्शक भी नहीं रही होगी और समर्थक भी नहीं रही होगी, तो उसने विरोध किया होगा। गांधारी के चरित्र को देखकर यही लगता है। इसलिए हैरानी है कि क्यों हर पात्र को विस्तार से दिखाने में प्रवीण वेदव्यास और उनकी टीम ने गांधारी को पूरे घटनाक्रम में पिछली बेंचों पर बिठा दिया?

गांधारी में तेज और उत्साह था, जिसे आज की भाषा में 'इनीशिएटिव' कहते हैं। इसका साक्षी वह संदर्भ है, जब पहली बार महाभारत में एक फैसला करती दिखाई गई है। आदिपर्व के 109वें अध्याय में गांधारी का धृतराष्ट्र के साथ विवाह प्रसंग है। वह गांधार के राजा सुबल की पुत्री है, सुंदर है और शिव की उग्र तपस्या कर चुकी है। ये तीनों बातें क्या कह रही हैं? यह कि गांधारी में ऐसा कोई दोष नहीं

था कि उसे धृतराष्ट्र जैसे जन्मांध के साथ, जो तब राजा भी नहीं था, विवाह करने को बाध्य होना पड़ता। ऐसा कुछ नहीं था। जो लड़की शिव की उग्र तपस्या कर सकती है, उसकी संकल्प शक्ति और नैतिकता के बारे में कुछ लिखने की जरूरत ही नहीं है। पर जब उसे मालूम पड़ा कि उसका विवाह धृतराष्ट्र जैसे जन्मांध से निश्चित किया जा रहा है तो उसने स्वयं ही यह तय कर लिया कि वह भी अब अपने को अंधों जैसा बनाकर पति जैसी हो जाएगी। महाभारतकार कहता है कि उसने यह कहते हुए ऐसा किया कि विवाह के बाद वह पति के दोषों को नहीं देखना चाहती। पर जाहिर है कि कारण मात्र यही नहीं रहा होगा। कहीं-न-कहीं इस विवाह के प्रति खुंदक और भावी पति के प्रति करुणा व अनुराग का अतिरेक भी रहा होगा, जिसने गांधारी को वैसा करने को प्रेरित किया। बहस हो सकती है कि गांधारी ने ठीक किया या गलत किया। बहस हो सकती है कि भावी पति के प्रति अपनी निष्ठा को वह किसी अन्य तरह से भी व्यक्त कर सकती थी कि आँखों पर पट्टी बाँध लेने की अपेक्षा आँखों को और ज्यादा चौकस रखना बेहतर विकल्प होता। परंतु यह तो फिर भी निर्विवाद है कि गांधारी का फैसला एक बड़ा फैसला था, जिसमें से एक ध्वनि यह निकलती है कि फैसले लेने का अद्‌भुत सामर्थ्य उसमें था और कि वह नैतिक मानदंडों पर विकट निर्णय ले सकती थी।

इसके बाद गांधारी के सौ पुत्रों का प्रसंग 'महाभारत' (आदिपर्व, अध्याय 114) में मिलता है। उसका पूरा स्वरूप ऐसा है कि उस पर बहस हम जैसे विश्लेषकों के बीच हो ही नहीं सकती। सिर्फ शरीर-विज्ञानी और शल्य-चिकित्सक ही उसके बारे में कोई विज्ञानसम्मत राय कायम कर इतिहास की वास्तविकता से इसका कोई मेल बिठा सकते हैं। पर इसके बाद दो स्थानों पर गांधारी का मंच पर आना, और जबरदस्त तरीके से आना, उसके स्वभाव और सोच की दिशा बता जाता है। महाभारत के कुख्यात द्यूत-प्रसंग में एक बार जुआ हो चुका है। युधिष्ठिर सबकुछ हार चुके हैं। द्रौपदी का चीर हरण हो चुका है। पर सबकी सहमति से युधिष्ठिर को सबकुछ वापस मिल चुका है। इससे दुर्योधन की बेचैनी जब फिर से बढ़ी तो उसने पिता धृतराष्ट्र से कहा कि वे फिर से युधिष्ठिर को जुआ खेलने का आदेश जारी करें। उन्होंने किया (सभापर्व, अध्याय 75) तो गांधारी ने जिन साफ शब्दों में धृतराष्ट्र को चेतावनी दी, वह पढ़ने लायक है। दुर्योधन की कुटिलता और धृतराष्ट्र की हमेशा उसकी हाँ में हाँ मिलाने की कुप्रवृत्ति का जैसा उसने पर्दाफाश किया है वह पढ़ने लायक है और इसके आधार पर एक ऐसी नारी का चरित्र गौर करने लायक है, जो हस्तिनापुर के राजप्रासाद के षड्यंत्रों के महासागर में नैतिकता

का छोटा सा द्वीप बनकर हमारे सामने उभर आती है। वह, लगभग, विदुर का ही एक संस्करण दिखाई देती है।

दूसरा प्रसंग उद्योगपर्व (अध्याय 129) में है, जब कृष्ण युद्ध टालने के उद्देश्य से शांति-स्थापना का अंतिम प्रयास करने हस्तिनापुर आ चुके हैं और धृतराष्ट्र को काफी सलाह दे चुके हैं। तब गांधारी परिदृश्य पर आती है। इसमें खास बात यह है कि ऐसे नाजुक मौके पर गांधारी की सलाह लेने के लिए धृतराष्ट्र उसे बुलवा भेजते हैं। मतलब यह कि गांधारी की प्रतिभा का सिक्का ऐसा था कि राजनीतिक विचार-विमर्श के इस अति महत्त्वपूर्ण मोड़ पर धृतराष्ट्र को गांधारी की सलाह की जरूरत अनुभव हुई। गांधारी आई, उसने दुर्योधन को बुलवा भेजा और फिर उसे ऐसा फटकारा, ऐसे नीति वाक्य बताए, राजनीति के ऐसे गुर समझाए कि गांधारी पूरी 'महाभारत' की एक अति विशिष्ट महिला पात्र के रूप में हमारे सामने अवतरित होती है।

तो क्या यह माना जा सकता है कि ऐसी गांधारी तब चुप रही होगी जब दुर्योधन अपनी किशोरावस्था में पांडु-पुत्रों को परेशान करता रहता था? क्या गांधारी ने अपना कोई विचार तब नहीं रखा होगा जब दुर्योधन ने पांडु-पुत्रों और कुंती को वारणावत भेज दिया? यह हो नहीं सकता था कि गांधारी के रहते हस्तिनापुर के राजप्रासाद में जुआ खेला गया और वह चुप रही और यह तो असंभव ही है कि गांधारी के दुष्ट बेटे कुरु कुलवधू द्रौपदी का चीर-हरण ठीक राजसभा में कर रहे हों और गांधारी ने चुप रहने का निर्णय कर लिया हो। इनमें से कोई भी प्रसंग संभव नहीं है और यह भी नितांत असंभव है कि उसने अपने भाई शकुनि के षड्यंत्रों पर कभी भी अंकुश लगाने का प्रयास न किया हो। पर विडंबना देखिए कि जो वेदव्यास भीष्म के हाथों अंबा को मिले अन्याय के कारण भीष्म को क्षमा नहीं करते, वही वेदव्यास गांधारी की भूमिका के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाए।

खुद गांधारी के कथनानुसार जब उनका पुत्र दुर्योधन युद्ध से पूर्व विजय का आशीर्वाद लेने जाता है तो दुर्योधन के चरित्र को देखते हुए वह आशीर्वाद देने से सकपका गई और उसका ही कह पाई कि जिधर धर्म है वहीं विजय भी है, ऐसा गांधारी ने युद्ध के बाद खुद कृष्ण को बताया (स्त्रीपर्व, 17.7)। किंतु गांधारी माँ थी जिसके सौ पुत्र मार दिए गए थे। वह इसके लिए कृष्ण को ही जिम्मेदार मानती थी और फिर उसी गांधारी ने उसी कृष्ण के पूरे यदुकुल के नष्ट हो जाने का शाप भी वहीं दे दिया, जो शाप फलीभूत भी हुआ (स्त्रीपर्व, 25.42-46)।

वेदव्यास ने बेशक न्याय न किया हो, पर देश के लोक-मानस ने तो पूरा-पूरा

न्याय किया है। गांधारी का एक विशिष्ट चित्र लोक-मानस में बना है। इस चित्र में उसे पतिव्रताओं के एक बड़े शिखर पर बिठा दिया गया है। पतिव्रता नामक मूल्य पर आज समाज में जो भी राय बन रही हो, हो सकता है कि ठीक ही बन रही हो, पर हमारा संकट यह है कि हम किसी युग में व्यक्तित्व और योगदान का मूल्यांकन उसी युग के मूल्यों और मानदंडों के आधार पर करने को विवश हैं। गांधारी को आज की कसौटियों पर कसकर हम उससे अन्याय क्यों करें? पतिव्रता धर्म के एक शिखर पर बैठी इस महानारी गांधारी को लेकर लोक-मानस में एक कथा अंकित हो चुकी है। जब दुर्योधन सारा युद्ध हार चुका और अकेला बच गया तो गांधारी की इच्छा हुई है कि वह अपने सौ पुत्रों में से अकेले बचे दुर्योधन को आँखों की पट्टी खोलकर देखे। विवाह के बाद वह पहली बार आँखों की पट्टी खोल रही थी। उसने दुर्योधन को बुलवा भेजा और आदेश दिया कि वह अपनी माँ की आँखों के सामने नितांत निर्वस्त्र होकर आए। वह उसे उस रूप में निहारना चाहती है जिस रूप में वह अपने जन्म के समय था।

जन्म देने के तुरंत बाद अपनी संतान को देखने से बड़ी आकांक्षा किसी माँ की और क्या हो सकती है? दुर्योधन ने माँ की इच्छा का सम्मान तो किया, पर पूरा सम्मान नहीं किया। वह लगभग निर्वस्त्र होकर आया, पूरी तरह से नहीं। कटि और जाँघों को उसने संकोचवश वस्त्रों से ढँक लिया। गांधारी ने आँखों से पट्टी उतारकर उसे देखा। कहते हैं कि जहाँ-जहाँ वस्त्र नहीं थे वहाँ-वहाँ गांधारी की तेजस्वी दृष्टि पड़ने से वे अंग वज्र के समान कठोर हो गए और गदा-युद्ध में भीम के गदा-प्रहारों को आसानी से झेल गए। पर जहाँ दुर्योधन ने वस्त्र धारण कर रखे थे, वहाँ चूँकि गांधारी की तेजस्वी दृष्टि नहीं पड़ सकी, अत: शरीर के वे भाग दुर्बल रहे और ठीक उन्हीं शरीरांगों पर गदा-प्रहार करके भीम ने दुर्योधन के प्राण हर लिये।

इस विराट् चरित्रवाली गांधारी के बस की ही बात थी कि उसके पुत्रों और सर्वस्व को नष्ट कर देनेवाले महाभारत युद्ध के बाद उसने उन पांडवों के पास जाकर रहने का फैसला किया, जिन्होंने उसके पुत्रों का वध किया था। आप कह सकते हैं कि यह उसकी विवशता थी। पर हमारा निवेदन है कि वह चाहती तो युद्ध के तुरंत बाद भी धृतराष्ट्र के साथ वन-गमन कर सकती थी, जो उसने (आश्रमवासिकपर्व, अध्याय 2-4) भीम के वाग्बाणों से तंग आकर अपने जीवन की चौथ में अंतत: किया।

यानी महाभारत काल का समाज स्त्री और पुरुष के संबंधों को जिस तरह से परिभाषित कर देने को उतावला होकर मचलता था, उतावल और मचल के उस

घटिया दौर में भी हस्तिनापुर की कुलवधुएँ अपनी अलग ही परिभाषाएँ बना रही थीं। उनका आचरण न केवल स्वच्छंद नहीं है, बल्कि गरिमा से भरा है और उनकी तेजस्विता और प्रतिभा को भी दरशाता है। सत्यवती, अंबा और गांधारी के जरिए हमने एक आयाम देखा। क्यों न कुंती के जरिए एक और आयाम भी देख लिया जाए।

कुंती यदुवंश के शूरसेन नामक राजा की लड़की थी और कृष्ण के पिता वसुदेव की सगी बहन थी। इस नाते वह कृष्ण की बुआ थी। विवाह से पूर्व कुंती को सूर्य की कृपा से एक पुत्र प्राप्त हुआ था, जिसे इतिहास में हम सभी कर्ण के नाम से जानते हैं। कुंती का विवाह हस्तिनापुर-नरेश पांडु से हुआ था, जो पीले शरीर के होने के बावजूद अपने समय का एक प्रतापी राजा माना गया। वह स्वयं अपने प्रयासों से पुत्र प्राप्त करने में असमर्थ था, जिसे 'महाभारत' ने एक ऋषि के शाप का परिणाम बताया है। अब जैसा हमारा सामाजिक ढाँचा है और जैसा समाज महाभारत के समय हमारा था, उसमें पुत्र-प्राप्ति की अत्यंत बलवती आकांक्षा को स्वाभाविकता की कोटि में ही आप रख सकते हैं। इसी आकांक्षा से प्रेरित, पर स्वयं अपने प्रयासों से पुत्र प्राप्त करने में असमर्थ महाराज पांडु ने अपनी प्रथम पत्नी कुंती से जो कहा वह महत्त्वपूर्ण है, इसलिए कि उसमें सेक्स यानी काम को मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सहज स्थिति मानकर पुत्र-प्राप्ति के संबंध में जो व्यवस्थाएँ दी हैं, वे अद्‌भुत हैं। यह सारा प्रकरण 'महाभारत' के आदिपर्व के तीन अध्यायों (119-121) में है।

पुत्र के मूलभूत अधिकार बताते हुए पांडु कुंती से जो कहते हैं, उसका अर्थ यह है कि पुत्र को दायाद अर्थात् उत्तराधिकार पाने का हक हासिल है। उत्तराधिकार पाने लायक पुत्र दो तरह के माने गए हैं—बंधुदायाद और अबंधुदायाद और पांडु कुंती को समझाते हैं कि ऐसे दोनों वर्गोंवाले पुत्र छह-छह प्रकार के होते हैं। फिर छह तरह के बंधुदायाद पुत्रों के बारे में पांडु ने कहा—(1) स्वयंजात, अर्थात् वह पुत्र, जो स्वयं अपने प्रयास से उत्पन्न किया गया है। (2) प्रणीत, यानी जो अपनी पत्नी के गर्भ से किसी दूसरे पुरुष के प्रयास से प्राप्त किया है। (3) पुत्रिकासुत, अपनी पुत्री के पुत्र यानी दौहित्र को पुत्र मान सकते हैं। (4) पौनर्भव, जो दूसरी बार ब्याही गई स्त्री से उत्पन्न हुआ हो। (5) कानीन, यानी जो विवाह से पहले ही कन्या को प्राप्त हो जाए। (6) भगिनीपुत्र, यानी अपनी बहन का बेटा। चूँकि इनमें से हर तरह के पुत्र की प्राप्ति किसी-न-किसी रूप में अपने परिवारजनों से जुड़ी है, इसलिए इन पुत्रों को बंधुदायाद कहा गया है। फुटनोट के तौर पर यह अंकित

करने में कोई हर्ज नहीं कि इन बंधुदायादों में पत्नी से प्राप्त पुत्रों के अलावा पुत्री और भगिनी के पुत्र भी शामिल हैं, पर भाई के पुत्रों की कोई गिनती नहीं की गई। संस्कृत में भाई के पुत्र को भ्रातृव्य कहते हैं। पर भ्रातृव्य के दो अर्थ हैं—भतीजा और शत्रु। तो क्या दोनों अर्थ पर्यायवाची हैं? न हों तो भी हमारे देश की महाभारत कालीन सामाजिक संरचना में स्त्री को ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना गया है, यह इसका उदाहरण तो है ही।

अब जरा छह तरह के अबंधुदायादों से भी परिचय हो जाए। (1) दत्त, जो माँ-बाप को स्वयं किसी के द्वारा दे दिया गया हो। (2) क्रीत, यानी धन आदि देकर खरीदा गया पुत्र। (3) कृत्रिम, जो खुद ही पुत्र बनकर किसी के साथ रहना शुरू कर दे। (4) सहोढ़, उस कन्या से प्राप्त पुत्र, जो गर्भावस्था में ही ब्याही गई हो। (5) ज्ञातिरेता, अपने कुल की कोई संतान। (6) हीनयोनिधृत, यानी अपने से हीन जाति की स्त्री से प्राप्त पुत्र। इतने तरह के पुत्रों के विवरण दे देने के बाद पांडु ने कुंती से कहा कि चूँकि वह स्वयं संतान-प्राप्ति में असमर्थ है, इसलिए वह आज उसे अनुमति दे रहा है कि वह उस (पांडु) जैसे या उस (पांडु) से भी श्रेष्ठ पुरुष से संतान प्राप्त करे। (आदिपर्व 199,27-37)

यह सब पढ़ने के बाद महाभारत कालीन अपने पूर्वजों को गहराई से समझने का मन करता है कि अपने परिवार और समाज की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने देने के लिए उन्होंने कैसे-कैसे तर्कसम्मत नियम बना रखे थे और काम को एक संयत मुक्ति देकर उन्होंने व्यक्ति, परिवार और समाज को स्वस्थ रखने के लिए कैसे कुछ परंपराओं को श्रेष्ठता का मानदंड प्रदान कर दिया था। असंयत काम क्रीड़ा के भरपूर उदाहरणों के बीच पाँच पांडुपुत्रों का ही नहीं, स्वयं पांडु, धृतराष्ट्र और विदुर का जन्म भी इसी संपन्न परंपरा की देन था।

पांडु-कुंती संवाद के बाद अगला कदम क्या होना चाहिए था? यह कि जैसे सत्यवती का निर्देश पाकर उसकी पुत्रवधुओं अंबिका और अंबालिका ने वेदव्यास से धृतराष्ट्र और पांडु नाम से दो पुत्र प्राप्त कर लिये थे, वैसे ही पांडु की पत्नियाँ कुंती और माद्री प्रणीत वर्ग के अंतर्गत इसी तरह से संतान प्राप्त कर सकती थीं। उन्होंने वैसा किया या नहीं किया, उसका इससे आगे और कोई विवरण नहीं मिलता। पर जो विवरण मिलता है उसे काम और संतान-प्राप्ति के मामलों में इतना तर्कसम्मत व्यवहार करनेवाले समाज के स्वभाव में फिट करने में कठिनाई आती है।

आगे का विवरण वही है, जो हम सब जानते हैं। कुंती ने अपने पति पांडु

महाराज को बताया कि बचपन में दुर्वासा को प्रसन्न कर देने के कारण उसे दुर्वासा से एक वर प्राप्त हुआ था कि वह जब भी चाहे, किसी देवता का आह्वान कर उसे बुला सकती है और उससे मनचाहा पुत्र प्राप्त कर सकती है (आदिपर्व, 121.9)। इसके बाद वह पांडु से अनुमति माँगती है, ताकि वह देवता का आह्वान कर पुत्र प्राप्त कर सके। अनुमति मिलने पर कुंती ने धर्मराज, वायु और इंद्र का आह्वान कर इन देवताओं से क्रमश: युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र प्राप्त किए। उसने फिर माद्री को भी देवताओं को बुलाने का मंत्र बताया और माद्री ने अश्विनीकुमारों का आह्वान किया तो उसे नकुल और सहदेव की प्राप्ति हुई। यहाँ पर भी फुटनोट के तौर पर ही एक बात दर्ज की जा सकती है। क्यों नहीं कुंती ने ही अश्विनी कुमारों का आह्वान कर दिया? क्यों माद्री को वैसा करने को कहा? महाभारतकार का उत्तर बड़ा दिलचस्प है। कुंती को तीन पुत्र प्राप्त हो गए तो पांडु को लोभ हो गया और वे कुंती से और ज्यादा पुत्रों की कामना करने लगे। इस पर कुंती ने जबरदस्त धारणा पेश करते हुए कहा कि किसी भी स्त्री को संकटकाल में भी तीन से ज्यादा संतानें प्राप्त नहीं करनी चाहिए—नात: चतुर्थं प्रसवंआपत्स्वपि वदन्त्युत। (आदिपर्व, 122.77)। परिवार-नियोजन?

पर हमारे जिज्ञासु प्रश्न अब शुरू होते हैं। कुंती ने विवाह से पूर्व ही एक पुत्र, कर्ण, प्राप्त कर लिया था। उसने पति के असमर्थ होने के कारण प्रणीत पुत्र प्राप्त करने का साहस दिखाया, वही साहस, जो सत्यवती ने अपनी पुत्रवधुओं के संदर्भ में दिखाया था। कुंती की प्रेरणा से ही माद्री ने भी दो प्रणीत पुत्र प्राप्त किए। फिर क्या कारण है कि महाभारतकार ने इस समस्त प्रकरण को दुर्वासा के वरदान, मंत्र-शक्ति के बल पर देवताओं के आह्वान और देवताओं के वरदान के साथ जोड़ दिया? पांडु ने जब कुंती को बंधुदायाद और अबंधुदायाद नामक पुत्रों के बारे में विस्तार से बताया तो वे निश्चित ही जिस भाषा और शैली में कुंती से बात कर रहे थे, वह निहायत तर्कपूर्ण लग रही है और उस समय के समाज में बाकायदा मान्यताप्राप्त प्रथाओं का आभास पांडु के कथन में से मिल रहा है। जब वे अपनी पत्नी कुंती से संतान-प्राप्ति का आह्वान करते हैं तो न तो उन्हें कोई संशय अपने कथन में है और न ही कोई संदेह उन्हें अपनी पत्नी के चरित्र पर है। फिर ऐसी क्या जरूरत थी कि महाभारतकार ने पाँचों पांडु-पुत्रों को देवताओं के आशीर्वाद का परिणाम बताने में इतनी मशक्कत की? अब तो हमारे जेहन में पाँचों पांडु-पुत्र और कुंती-पुत्र कर्ण भी देवताओं के आशीर्वाद का परिणाम ही अंकित हो चुके हैं।

और अगर इन पाँचों पांडु-पुत्रों को समाज में सम्मान और मान्यता दिलवाने

के लिए उन्हें देवताओं की संतान दिखाया गया है तो फिर कर्ण से क्यों अन्याय किया गया? वे भी तो सूर्यपुत्र बताए गए हैं और उन्हें भी वैसी ही मान्यता चाहिए। दिलचस्प यह है कि भारतीय जनमानस में कर्ण को उतना ही बड़ा सिंहासन मिला है जितना शेष कुंती-पुत्रों को मिला है; बल्कि कह सकते हैं कि उनसे भी बड़ा सिंहासन कर्ण को मिला है। पर 'महाभारत' में उसे कई बार तिरस्कृत होते दिखाया गया है, इस हद तक कि कर्ण बाध्य होकर दुर्योधन जैसे कुटिल शासक के हमजोली बन गए। इस सबके पीछे का तर्क समझ में नहीं आता और अन्यथा तर्क और बुद्धि को सीधे स्पर्श करनेवाला महाभारतकार इस मामले में आकर कहीं-न-कहीं अपने पाठकों को निराश करता है।

पर एक निष्कर्ष साफ है। महाभारत काल चूँकि हमारे इतिहास के भयानक तनावग्रस्त कालखंडों में से एक रहा है, इसलिए उस समय स्थापित प्रथाओं और मर्यादाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति के बीच जबरदस्त अंतर्द्वंद्व चला रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस स्थापित मर्यादा को अपनाने का साहस दिखाकर सत्यवती ने अपने पति के कुल के लिए व्यासदेव से अपनी पुत्रवधुओं को पुत्र दिलवा दिए, उसी मर्यादा का पालन करने में एक पीढ़ी के अंतराल में ही कुंती को थोड़ा संकोच हुआ और पूरे घटनाक्रम को दैवी आवरण देने का प्रयास इसी संकोच का परिणाम माना जा सकता है। इसी तरह विवाह-पूर्व संतान पाने में सत्यवती को कोई संकोच अनुभव नहीं हुआ था; पर वैसा ही काम करने के बाद कुंती को संकोच हुआ, जिसका फल कर्ण को आजीवन भुगतना पड़ा। सत्यवती के बाद अंबिका-अंबालिका और फिर गांधारी-कुंती—हस्तिनापुर की कुलवधुओं के इस पीढ़ी परिवर्तन काल में मान्यताओं और संकोचों का यह द्वंद्व चल रहा था, जिसकी वजह से कुंती जैसी महिला के चरित्र का साहस और प्रखरता घटनाओं के झरोखों में से झाँक तो रहे हैं, पर पूरी तरह से उभर नहीं पाए हैं।

पर इन सबसे अलग, हस्तिनापुर की कुलवधुओं के बीच भी सबसे अलग, पीढ़ी के अंतराल से उपजे मूल्य-विभेदों से भी अलग, द्रौपदी की जो तसवीर व्यास ने हमें दी है वह सचमुच विलक्षण है। द्रौपदी का जैसा अदम्य और कभी हार न माननेवाला चरित्र हमारे सामने उभरता है, उसे वैसा किसने बनाया? पूरा 'महाभारत' प्रबंध काव्य पढ़ जाइए, द्रौपदी के बाल्यकाल का कोई विवरण हमें वहाँ नहीं मिलता। महाभारत कथा में द्रौपदी के साथ हमारा परिचय उस स्वयंवर के समय होता है, जिसमें ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन ने छत पर लटकती, घूमती, यंत्र सरीखी मछली की आँख फोड़ने का अद्‌भुत कर्म किया था। उसी स्वयंवर के मौके पर ही

हमें द्रौपदी के जन्म की कथा पता चलती है (आदिपर्व, अध्याय 166), जो अविश्वसनीय-सी है। पर पहले उसे क्यों न जान लिया जाए?

जन्म-कथा संक्षेप में यह है कि अपने मित्र द्रोण द्वारा अपमानित कर दिए गए पांचालराज द्रुपद ने ठान ली कि उसे एक ऐसी संतान चाहिए, जो अपने समय के महानतम धनुर्धारियों में से एक यानी द्रोण से उसके अपमान का बदला ले सके। अपने संकल्प की पूर्ति के लिए भटकते द्रुपद को याज और उपयाज नामक दो यज्ञ विशेषज्ञ ब्राह्मण तपस्वी मिले। उन्होंने उससे एक ऐसा पुत्रकामेष्टि यज्ञ करवाया, जिसमें पूर्णाहुति की चरु डालने के साथ ही दो संतानों का जन्म उसी यज्ञाग्नि में से हो गया, जिन्हें इतिहास धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के नाम से जानता है। द्रौपदी का भाई यह धृष्टद्युम्न वही है, जो अठारह दिनों तक चले महाभारत युद्ध में पांडवों का सेनापति था। जहाँ कौरवों के सेनापति भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य और दुर्योधन एक के बाद एक बनते और युद्धभूमि में मरते रहे, वहाँ धृष्टद्युम्न लगातार अठारह दिनों तक पांडव सेना को अक्षत होकर नेतृत्व देता रहा था, जिसने युद्ध के पंद्रहवें दिन पुत्र अश्वत्थामा के मारे जाने का झूठा समाचार पाकर निःशस्त्र हो चुके द्रोणाचार्य को अपनी तलवार से मौत के घाट उतार दिया था, पर जो स्वयं युद्ध समाप्त हो जाने के बाद रात के अँधेरे में निद्रावस्था में ही अश्वत्थामा द्वारा क्रूरतापूर्वक मार डाला गया था। उस धृष्टद्युम्न की बहन द्रौपदी का जन्म भी उसी अग्नि में से माना गया है।

हम इस जन्म-कथा को अविश्वसनीय इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि दो पूर्ण युवा भाई-बहनों का इस तरह यज्ञाग्नि में से उत्पन्न हो जाना तर्क को अपील नहीं करता। तो क्यों की गई यह कल्पना? क्यों द्रौपदी के जन्म को इस तरह अग्नि और यज्ञ के साथ जोड़ दिया गया? जाहिर है कि कोई बड़ी बात हुई होगी, जिसे हमारे प्रबंधकार ने एक अद्‌भुत कथा का आकार दे दिया है।

द्रुपद का एक नाम यज्ञसेन है, जिसके कारण द्रौपदी को 'याज्ञसेनी' कहा जाता है। वैसे ही जैसे पंचाल देश की राजकन्या होने के कारण उसे 'पांचाली' भी कहा जाता है। अनुमान लगा सकते हैं कि (धृष्टद्युम्न और) द्रौपदी के बाल्यकाल में जो घटा उसे इस याज्ञसेनी नाम का आश्रय लेकर महाभारतकार ने एक ऐसा मिथकीय आकार दे दिया है, जिसका परिणाम तो यज्ञाग्नि-जन्म के रूप में हमें बता दिया गया है, पर पूरे घटनाक्रम से हमें अपरिचित ही रख दिया गया है। हो सकता है कि पूरा घटनाक्रम इतने गुपचुप और रहस्यमय तरीके से घटा हो कि स्वयं महाभारतकार को भी इसका कोई खास, प्रामाणिक रूप से पता न हो। पर

जैसा संकल्पवान् और अजेय चरित्र हमें इन दोनों भाई-बहनों का महाभारत में मिलता है, उसे देखते हुए स्पष्ट है कि इन दोनों को कोई बड़ा भारी मानसिक व शारीरिक प्रशिक्षण बाल्य और किशोरावस्था में दिया गया होगा। जरा धृष्टद्युम्न को तो देखिए। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य और दुर्योधन जिस युद्ध में एक-एक कर सेनापति बनते रहे हों और रणभूमि में काम आते रहे हों, वहाँ धृष्टद्युम्न ने अकेले दम पर अठारह दिनों तक पांडव सेना को नेतृत्व दिया। और नेतृत्व भी कैसा? सात अक्षौहिणी सेना का नायक बनकर उसने अपने से ड्योढ़ी यानी ग्यारह अक्षौहिणी कौरव सेना का पूरी सफलता से अठारह दिनों तक लोहा लिया और उसे मारने के लिए अश्वत्थामा को रात के अँधेरे का और धृष्टद्युम्न पर छाई हुई नींद के नशे का सहारा लेना पड़ा। परंतु जिस त्वरा और निर्ममता से 'न मारो, न मारो' के भयानक आर्तनाद के बीच, पूरी निष्ठुरता से धृष्टद्युम्न ने द्रोण का सिर अपनी तलवार से काटा (द्रोणपर्व, 192.66-67), एक धारणा यह है कि द्रोण ने तो समाधि में बैठते ही अपने प्राण छोड़ दिए थे, पर उस निष्प्राण शरीर के भी सिर को जैसे धृष्टद्युम्न ने अपनी तलवार से काटा, वह उस कठोरधर्मा सेनापति के हृदय में जलती किसी द्रोण-विरोधी आग का प्रतीक है। क्या किसी भयानक शारीरिक और मानसिक प्रशिक्षण के बिना यह संभव है?

नहीं संभव है, ठीक इसी तर्क के आधार पर जब हम द्रौपदी के चरित्र का अध्ययन करते हैं तो उसमें हमें एक तत्त्व का जबरदस्त समावेश नजर आता है और इस तत्त्व का नाम है प्रतिरोध व प्रतिशोध। द्रौपदी एक ऐसा अद्वितीय नारी चरित्र है, जो अपमान का एक अंश तक सहन नहीं कर पाती। और करे भी क्यों? क्या नारी होने के कारण उस पर यह अतिरिक्त भार पड़ जाता है कि वह पुरुष के या किसी के भी अपमान को सहन करती चली जाए? हमारे इतिहास के दो महानतम नारी पात्र सीता और द्रौपदी, जो अपने-अपने कारणों से हमारी जातीय स्मृतियों में अद्भुत स्थान बना चुके हैं, एक-दूसरे से विपरीत ध्रुव पर खड़े नजर आते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि नैतिकता और चरित्र के जिस शिखर पर सीता आरूढ़ हैं, द्रौपदी उससे कहीं नीचे है। बल्कि पाँच पांडवों को वैध और समान रूप से पत्नी-सुख देनेवाली द्रौपदी भी नैतिकता और सच्चरित्र के उसी शिखर पर विराजमान है, जहाँ सीता है। पर इन दोनों महानारियों को अलग-अलग ध्रुव मानने का कारण यह है कि जहाँ सीता ने संभवतः पुरुष और समाज के अन्याय की अनदेखी करने को मानो अपना धर्म बनाया तो वहाँ द्रौपदी ने निश्चयपूर्वक ऐसे किसी भी अन्याय का पूरी ताकत से प्रतिकार करने का विकल्प चुना। अन्याय से निपटने का आपका

तरीका आपके स्वभाव और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से अनुप्राणित होता है। चूँकि स्वभाव के धरातल पर एकरूपता और समानता कभी संभव नहीं है, इसलिए सीता और द्रौपदी को असंख्य समर्थकों और अनुयायियों के मिलने की संभावना हमेशा अक्षुण्ण रहेगी। इसमें भी एक अजीब बात यह है कि समाज कभी इस बात से विशेष प्रभावित नहीं होता कि आपने अन्याय का प्रतिरोध किया है या उसकी अनदेखी करने का फैसला किया है। अनदेखी करनेवाले को कमजोर मानकर उसके प्रति अन्याय होता रहता है तो प्रतिरोध करनेवाले से खुंदक में और ज्यादा अन्याय होता रहता है। सीता और द्रौपदी लगातार अन्याय का शिकार हुईं तो उसके पीछे के कारण ढूँढने कोई बहुत दूर नहीं जाना पड़ता। पर प्रतिरोध करनेवाले अगर अकेले दम पर नायकत्व हासिल कर लें तो इसमें क्या आश्चर्य? और ठीक इसलिए अन्याय के खिलाफ हर वक्त प्रतिरोध की मानसिकतावाली द्रौपदी को अगर इतिहास की संघर्षशील ताकतों ने अपना नायक और प्रेरणास्रोत मान लिया हो तो क्या आश्चर्य?

पिता ने शर्त बाँध दी कि जो कोई नीचे जमीन पर रखे तेल में पड़ रही परछाईं को देखकर ही छत पर झूलती यंत्र-मछली की आँख फोड़ देगा, उसी से द्रौपदी का विवाह हो जाएगा। द्रुपद ने यह असंभव जैसी शर्त इसलिए बाँध दी, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि अर्जुन के अलावा कोई दूसरा इस शर्त को पूरा नहीं कर पाएगा और उनकी परम इच्छा थी कि उनकी पुत्री अर्जुन से ब्याही जाए। पर कर्ण? वे भी तो उतने ही बड़े धनुर्धर थे, जितने अर्जुन थे। वे शर्त पूरी करने के लिए मैदान में उतरे भी थे। पर चूँकि द्रौपदी को कर्ण से शादी नहीं करनी थी, सो उसने तमाम शर्तों के दायरों को लाँघकर फैसला सुना दिया कि वह कर्ण से विवाह नहीं करेगी। (महाभारत, आदिपर्व, 186.23) अपनी मन मरजी के खिलाफ विवाह में बाँधनेवाली शर्त को द्रौपदी ने कोई महत्त्व नहीं दिया और अपने व्यक्तित्व का सिक्का जमा दिया। एक घटना काम्यक वन में घटी, जहाँ पांडव वनवास कर रहे थे। उनकी अनुपस्थिति में जब जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण कर भागने लगा और अंततः पांडवों द्वारा पराजित कर बंदी बना लिया गया तो जानते हैं, द्रौपदी ने जयद्रथ को क्या सजा दी? उसका सिर पाँच जगह से मुँड़वाकर उसे ऐसा अपमानित किया कि बदला लेने की इच्छा से वह जंगल में साधना करने चला गया (महाभारत, वनपर्व, 272.18)। फिर आया चीर-हरण प्रसंग। दुःशासन ने द्रौपदी को बालों से पकड़कर खींचना शुरू किया तो प्रतिकार-स्वरूप भीम ने प्रतिज्ञा की कि वह युद्ध में दुःशासन की छाती का लहू पीएगा। भारत के जनमानस के बीच इस कथा को बड़ा महत्त्व

मिला है कि कहीं भीम अपनी प्रतिज्ञा भूल न जाए और द्रौपदी के अपमान का बदला न लिया जा सके, इसलिए द्रौपदी ने भी प्रतिज्ञा कर दी कि जब तक उसके बालों को दु:शासन के रक्त से धोया नहीं जाएगा, वह केश खुले रखेगी और उन्हें वेणी में नहीं बाँधेगी। द्रौपदी के प्रतिशोध के स्वभाव की एक अभिव्यक्ति महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद हुई, जब अश्वत्थामा के हाथों उसके पाँचों पुत्र सोते में मार डाले गए। द्रौपदी ने अश्वत्थामा को तभी माफ किया (माफ यह कहकर किया, क्योंकि वह उसके पतियों के गुरु का पुत्र था), जब भीम और अर्जुन ने उसके माथे की मणि निकाल ली अर्थात् उसे पूरी तरह निस्तेज कर दिया। (महाभारत सौप्तिकपर्व 16.25-37)

ऐसे चमत्कारी चरित्रवाली द्रौपदी को अपने जीवन में बाल्य और कैशोर्य काल में पिता से कैसा प्रशिक्षण मिला होगा, उसकी सहज ही कल्पना हम कर सकते हैं। पिता द्रुपद अपने बचपन के सखा द्रोण से अपमानित हुए थे, हालाँकि वे स्वयं भी इससे पहले द्रोण का भरपूर अपमान कर चुके थे। पर द्रुपद को मिले अपमान में डंक यह था कि साबित हो गया कि द्रुपद द्रोण को युद्ध में परास्त नहीं कर सकते। बस, अब द्रुपद के जीवन का एक ही लक्ष्य हो गया—अपमान के विरुद्ध प्रतिकार करने का अपने बच्चों का मानस बनाना। जिस यज्ञ की अग्नि से दोनों भाई-बहनों के उत्पन्न होने की अजीबो-गरीब कल्पना की गई है, उसी में निहित है कि पिता द्रुपद ने अपनी इन दोनों संतानों को पूरे बाल्यकाल और किशोरावस्था में अन्याय से लड़ने का, द्रोण से बदला लेने का, अस्त्र-शस्त्रादि के प्रयोग का, मनोबल बढ़ाने का कोई ऐसा कठोर प्रशिक्षण चुपचाप दिया, जो अपने आप में एक पूरी साधना, पूरी तपस्या, पूरे यज्ञ से कम नहीं था। एक अग्निपरीक्षा से कम नहीं था। यह द्रुपद जैसे प्रतापी और बुद्धिमान पंचाल-नरेश के लिए कोई कठिन नहीं था कि उसने अपने चरित्र की कमजोरियों से अपनी संतानों को मुक्त करने का बीड़ा उठाया। जहाँ धृष्टद्युम्न का जीवन द्रोण के अंत को समर्पित हो गया, वहाँ द्रौपदी के रूप में हम भारतवासियों को एक विराट् आदर्श मिला, अन्याय को किसी भी सूरत में सहन न करने का। पर द्रौपदी अन्यथा भी महाभारत काल का एक अद्वितीय नारी चरित्र है। कैसे?

प्रसंग हस्तिनापुर के राजमहल में खेले गए जुए का है। द्रौपदी को जुए में हार जाने का क्षुद्र पापकर्म करने के बाद युधिष्ठिर की तो बोलती बंद हो गई। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन की सेवकाई में खड़े भीष्म, द्रोण आदि के पसीने तो छूट रहे थे, पर मुँह नहीं खुल रहा था। द्रौपदी को जीत लेने के मद में जब दुर्योधन ने विदुर को

द्रौपदी को राजसभा में लाने का आदेश दिया तो दुर्योधन को अभूतपूर्व फटकार सुनाने के बाद महात्मा विदुर ने एक सवाल भी खड़ा कर दिया—अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः। (सभापर्व, 66.4), अर्थात् राजा युधिष्ठिर ने खुद को जुए में हारकर द्रौपदी को दाँव पर लगाया है, तो क्या हारा हुआ आदमी किसी को दाँव पर लगा सकता है?

विदुर ने क्या कहा, इसकी द्रौपदी को कोई खबर नहीं थी। पर जो सवाल विदुर ने किया, ठीक वही सवाल द्रौपदी का भी था। विदुर द्वारा द्रौपदी को राजसभा में लाने से साफ मना कर देने पर दुर्योधन ने अपने एक दूत प्रातिकामी को द्रौपदी को राजसभा में लाने का आदेश दिया। प्रातिकामी तीन बार गया, पर पहली दो बार द्रौपदी ने उसे एक-एक सवाल पूछकर वापस भेज दिया। पहली बार का सवाल था, 'जाकर उस जुआरी महाराज से पूछो कि वे पहले खुद हारे थे या पहले मुझे हारे थे?' (सभापर्व, 67.7) युधिष्ठिर कोई उत्तर नहीं भिजवा पाए। दूसरी बार सवाल कुरुवंशियों से था, 'कुरुवंशियों से जाकर पूछो कि मुझे क्या करना चाहिए? वे जैसा आदेश देंगे, मैं वैसा करूँगी।' (सभापर्व, 67.16) सवाल सीधा धृतराष्ट्र और भीष्म सरीखे कुरुवंशियों से था और आदेश भी उन्हीं से माँगा जा रहा था। पर वे सब सिर नीचा किए रहे और उनके मुँह सिले रहे। बस, एक संदेश युधिष्ठिर का गया कि अगर तुम रजस्वला और एकवस्त्रा होने के बावजूद राजसभा में आओगी तो सभी सभासद मन-ही-मन दुर्योधन की निंदा करेंगे। प्रातिकामी तीसरी बार फिर द्रौपदी के पास गया तो उतावले दुर्योधन ने इस बीच दुःशासन को द्रौपदी को लाने को भेज दिया और उसके बाद जो दुर्घटित घटा, वह हर भारतवासी जानता है।

हम संकेत विदुर और द्रौपदी द्वारा पूछे गए सवालों की ओर कर रहे थे। दुःशासन द्वारा बालों से घसीटी जाती हुई और विवस्त्र की जाती हुई द्रौपदी ने राजसभा में लाए जाने के बाद अपनी उस दुरवस्था में भी वही सवाल दूसरे शब्दों में पूछा, जो विदुर ने पूछा था—'इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्व एव सभासदः। जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः॥' (सभापर्व, 67.41 (क))—'सारे राजन्य लोग जो यहाँ बैठे हैं, मुझे बताएँ। मेरे इस सवाल का जवाब दें कि मैं (धर्म के अनुसार) जीती हुई हूँ या नहीं?' भीष्म बोले कि धर्म का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण मैं कुछ बता नहीं सकता। बाकी कोई कुछ बोला ही नहीं। सभी अपने-अपने मुँह पर धृतराष्ट्र और दुर्योधन से मिलनेवाले वेतन की पट्टी बाँधे बैठे रहे।

बेशक महाभारतकार ने और इतिहास ने धर्मराज का खिताब महाराज युधिष्ठिर को दे दिया हो, पर धर्म पर जैसा सटीक आचरण द्रौपदी ने आजीवन किया, उसकी

कोई दूसरी मिसाल पूरे 'महाभारत' में हमें नहीं मिलती। युधिष्ठिर के जीवन में फिर भी एक घटना ऐसी घटी कि उन्हें भी परोक्ष रूप से झूठ का सहारा लेना पड़ा, जब उन्होंने यह जानते हुए भी कि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा जीवित है और अश्वत्थामा नामक हाथी ही मरा है, यह अच्छी तरह से जानते हुए भी झूठ बोल दिया कि 'पता नहीं हाथी मरा है या मनुष्य, पर अश्वत्थामा मारा गया है।' इसी कथन पर द्रोण ने हथियार फेंक दिए और द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के हाथों मृत्यु का वरण किया। पर द्रौपदी पर तो आप ऐसे किसी छोटे से अधर्माचरण का भी आरोप नहीं लगा सकते।

एक-दो उदाहरण की परीक्षा कर ली जाए। अपने स्वयंवर में द्रौपदी ने कर्ण को मछली की आँख को बाण का निशाना लगाने से रोककर ठीक किया या गलत? बेशक कर्ण को मौका नहीं दिया गया, और कह सकते हैं कि उससे अन्याय हुआ; पर हमें नहीं भूलना चाहिए कि छत पर लटकती झूलती उस यंत्र-मछली की आँख फोड़ने की शर्त बेशक पिता द्रुपद ने रखी थी, पर विवाह तो द्रौपदी का होना था। स्वयंवर तो द्रौपदी रचा रही थी। अपना वर तो स्वयं द्रौपदी को चुनना था। चाहे कारण तब की सामाजिक प्रथाएँ रही हों या कोई और, स्वयं वर चुनने का अधिकार-प्राप्त द्रौपदी को हक था कि वह अपनी शर्त पूरी करने का मौका किसे न दे। कर्ण को दो-टूक शब्दों में मना करनेवाली द्रौपदी पर आज तक इतिहास आरोप नहीं लगा पाया कि उसने वैसा कर कोई गलत काम किया।

किंतु पुरुष-प्रधान इतिहासकारों की जमात के पास पूरा मौका द्रौपदी पर आरोप लगाने का था कि वह पाँच पुरुषों की पत्नी है और इसलिए दुश्चरित्र है। पर क्या इतिहास द्रौपदी पर ऐसा कोई छोटा सा आरोप लगाने का दुःसाहस कर सका? बल्कि यहाँ तो माजरा ही अलग है। द्रौपदी का पाँचों पांडवों से विवाह हो या नहीं, इस पर कुंती विस्मित है, धर्मराज कहे जानेवाले युधिष्ठिर चिंतित हैं और पिता द्रुपद किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। पर द्रौपदी? उसके चेहरे पर कोई शिकन तक नहीं। उसके व्यवहार में कोई उतावलापन नहीं और आगे चलकर पाँच पतियों की अकेली पत्नी के रूप में उस पर किसी को कोई आपत्ति तक नहीं। बल्कि पाँच पतियों की अकेली पत्नी के रूप में द्रौपदी का आचरण इतना आदर्श और अनुकरणीय माना गया, तभी तो इतिहासकार ने उसके इस पत्नी रूप को दैवी गरिमा प्रदान कर दी और कई ऐसी कथाओं-उपकथाओं की सृष्टि अपने प्रबंध काव्य में की, जिससे द्रौपदी का जीवन दिव्य वरदानों का परिणाम नजर आए। जैसे कुंती के प्रणीत पुत्रों को देवताओं का आशीर्वाद बताकर गौरव से भर दिया गया, वैसे ही द्रौपदी के पाँच पुरुषों (बेशक परस्पर पाँचों भाइयों) की पत्नी होने को भी तपस्या और वरदान का

नतीजा बताकर उसे आभा से भर दिया गया (आदिपर्व, अध्याय 196)। महाभारतकार और इतिहास का द्रौपदी के प्रति इससे बड़ा श्रद्धावदान और क्या हो सकता है? बेशक महाप्रस्थानिक पर्व (अध्याय 2, श्लोक 6) में युधिष्ठिर फतवा-सा दे देते हैं कि चूँकि द्रौपदी का अर्जुन से विशेष पक्षपात था, इसलिए वह सबसे पहले मृत्यु को प्राप्त हो रही है। पर न तो महाभारतकार और न ही जनसामान्य ने इस युधिष्ठिर वाणी को कोई मान्यता दी है। और अगर पक्षपात था भी तो वह स्वाभाविक और धर्मपूर्ण था और स्वयंवर-कथा का जानकार हर भारतवासी इसके पीछे का रहस्य जानता है कि अर्जुन के कारण ही द्रौपदी पाँचों भाइयों की पत्नी बन सकी थी।

बाल्यकाल में मिले जिस प्रशिक्षण के कारण द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का जैसा प्रतिरोधी चरित्र बना, क्या उसमें भी हमें अंतर नहीं देखना चाहिए? धृष्टद्युम्न तो इस हद तक चला गया कि उसने निहत्थे द्रोण का सिर अपनी तलवार से काट दिया। और जब अर्जुन, सात्यकि आदि ने उसके इस कठोर कर्म की भर्त्सना की तो द्रुपद-पुत्र ने अपने कृत्य का पुरजोर समर्थन किया। उसके कुछ तर्क तो दिमाग को हिला देनेवाले हैं। मसलन उसका यह सवाल (द्रोणपर्व, 197.24-26) कि यज्ञ, अध्यापन आदि कर्म कभी न करनेवाले द्रोण को किस आधार पर ब्राह्मण जैसा मान लिया जाए? पर अपने भाई के इस तरह के मानस के बावजूद, अपने चीर-हरण के समय द्रोण के चुप रह जाने के बावजूद, अभिमन्यु को घेरकर की गई हत्या में शामिल सात महारथियों में द्रोण के शामिल होने के बावजूद द्रौपदी ने द्रोणाचार्य का हमेशा सम्मान रखा और अपने पतियों का गुरु होने का आदर उन्हें हमेशा मिला। उसने गुरु-पुत्र होने के कारण ही उस अश्वत्थामा का भी वध नहीं होने दिया, जिसने उसके पाँच पुत्रों की सोते में हत्या कर दी थी। तुलना करेंगे तो ही द्रौपदी के चरित्र की विलक्षणता समझ में आएगी। भाई धृष्टद्युम्न ने चारों ओर से अपने लिए बरसती फटकार की परवाह न करके निहत्थे द्रोण को मार डाला, क्योंकि उस पर वैसा न करने का कोई दबाव नहीं था। परंतु द्रौपदी ने इस हद तक नैतिक बंधन में खुद को बाँध लिया कि उसने न केवल वह आदर द्रोण को दिया, बल्कि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को क्षमा करने में भी द्रौपदी ने अपने इसी नैतिक शिखर का परिचय दिया।

पिता से मिले प्रशिक्षण ने द्रौपदी को कैसे धैर्य, पुरुषार्थ और उद्योग की प्रतिमूर्ति बना दिया था, उसके बारे में जानना हो तो 'महाभारत' के वनपर्व और विराटपर्व को पढ़ जाइए। जब भी मौका मिला, द्रौपदी ने अपने पतियों को पुरुषार्थ से भर देने का कर्तव्य निभाया, बेशक पूरे धैर्यपूर्वक वह उनके साथ वनवास और

अज्ञातवास के कष्ट भी झेलती रही। अगर युधिष्ठिर की बात ही मान ली जाए कि द्रौपदी का अपने पाँचों पतियों में से अर्जुन से विशेष अनुराग था, तब तो इसे हम द्रौपदी का परम बलिदान माने बिना नहीं रह सकते कि वनवास के दौरान जब वेदव्यास ने अर्जुन को तपस्या करने को कहा तो अर्जुन के बिना न रह सकनेवाली द्रौपदी ने उसे उग्र तपस्या की प्रेरणा दी और भरोसा दिलाया कि वह उसके बिना भी यथाकथचिंत रह लेगी (वनपर्व, अध्याय 37, 28-31)।

द्रौपदी के अद्वितीय नारी चरित्र के एक रूप की चर्चा हम लोगों के बीच बहुत कम होती है कि वह कृष्ण की सखी थी। महाभारत में कम-से-कम दो स्थानों पर द्रौपदी ने कृष्ण के साथ अपने सखीभाव अर्थात् मैत्री की दुहाई दी है। वनपर्व का प्रकरण है। पांडव लोग जुआ हार चुके हैं और जंगल में भटक रहे हैं। वहाँ कृष्ण उनसे मिलने आए और द्रौपदी ने अपने पुराने साथी को अपनी वेदना बताई कि कैसे पाँच महारथी पतियों के रहते उसका तिरस्कार हुआ और वहीं पर द्रौपदी कहती है कि पाँच पांडवों की पत्नी, कृष्ण की सखी और धृष्टद्युम्न की बहन का अपमान हो गया—'तव कृष्ण सखी विभो' (वनपर्व, 12.61)। उसी अध्याय में आगे चलकर द्रौपदी (श्लोक 127 में) कहती है कि 'हे कृष्ण! चार कारणों से आपको मेरी रक्षा करनी चाहिए—'सम्बन्धात् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशवः।' अर्थात् रिश्तेदारी, मेरे स्त्री होने की गरिमा, आपका समर्थ होना और हम दोनों का सख्य यानी मैत्री—ये चार कारण द्रौपदी ने गिनवाए। द्रौपदी का एक नाम कृष्णा भी है। वह साँवली थी, इसलिए भी और कृष्ण की सखी थी, इसलिए भी। पर आगे चलकर कर्मकांडी पोंगा पंडितों ने कृष्ण की बहन बताकर द्रौपदी को कृष्णा प्रचारित करवा दिया। ऐसा मानस द्रौपदी के अद्वितीय चरित्र को भला क्या समझेगा!

पर ऐसा माननेवालों को आप सिर्फ उँगलियों पर ही गिन सकते हैं। अन्यथा इस देश में द्रौपदी का जो सम्मान हुआ है, उसे कृपया उस प्रसंग में देखिए, जो हमारे मानस में चीर-हरण के नाम से दर्ज है। द्रौपदी ने आर्त होकर पुकारा, 'माधव, माधव' कहा और कृष्ण ने उसके वस्त्र को अनंत आकार देकर दुःशासन के पसीने छुड़वा दिए। यह घटना घटी हो या न घटी हो, पर हमने उसे बनाया और माना है। द्रौपदी के अद्वितीय नारी चरित्र को मान्यता देने का यह शानदार काम इस देश ने महाभारतकार के जरिए किया है।

तो क्या है निष्कर्ष? इतने समर्थ पात्रों और इतनी उलझन भरी घटनाओं को पढ़ने के बाद जब उत्सुकताएँ अपनी हदें पार कर जाएँ तो निष्कर्ष निकाल पाना

आसान है क्या? नहीं है, पर फिर भी एक बात तो साफ तौर पर उभरकर सामने आ रही है। सामान्य से विशिष्ट नागरिक बनी सत्यवती हो या फिर विशिष्ट राजकन्या होने के बावजूद सामान्य नारी पात्र की तरह भटकती अंबा हो या फिर हो गांधारी, कुंती या अपने समय की शेरनी द्रौपदी—ये सभी समर्थ नारी पात्र उसी समाज में से पैदा हो सकते हैं, जहाँ स्त्री और पुरुष के यथार्थ संबंधों पर भौंहें न तन रही हों और जहाँ पुरुष के समान नारी को भी अधिकार-संपन्न कर दिया गया हो। हर तरह से समृद्ध समाज की अपनी सामाजिक मूल्यहीनताओं के बावजूद वह समाज स्त्री के अधिकारों की प्रतिष्ठा मानने को विवश था और इसी परिस्थितिजन्य विवशता में से ही महाभारत कालीन समाज की स्वतंत्र नारी ने अपने समर्थ व्यक्तित्वों की भी भरपूर प्रतिष्ठा की। सत्यवती, अंबा, गांधारी, कुंती और सबसे बढ़कर द्रौपदी, महाभारत कालीन समर्थ नारी का ऐसा-ऐसा प्रतीक बनकर उभरी हैं कि भारतीय समाज उन्हें अपनी स्मृतियों में हमेशा के लिए सँजोए हुए है। ऐसा हो सका, इसके लिए नहीं; पर वैसा समाज हम तक पहुँच सका, क्या इसके लिए हमें वेदव्यास जैसे क्रांतदर्शी प्रबंध कवि को पूर्णांक नहीं देने चाहिए?

□

मूल्यहीनता के कुछ अजीबोगरीब मानक

समृद्धि-संपन्न और टेक्नोलॉजी-संपन्न समाज जीवन-मूल्यों से किस कदर लापरवाह हो जाता है, इसका मानक सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंध ही नहीं है। इसके अनेक मानक हमारे जीवन में हर वक्त हमारे सामने होते हैं और कोई भी संवेदनशील समाज उन मानकों का उपयोग अपनी मूल्य-दृष्टि का ग्राफ आँकने में कर सकता है। पर्यावरण के प्रति आपकी दृष्टि लूटने की है या संरक्षण की? शासक वर्ग कुरबानी देकर भी सत्ता को जनसेवा का माध्यम बना पाता है या नहीं? शिक्षा एक मिशन है या बिजनेस? युद्ध का कारण मूल्यों की रक्षा है या सत्ता-प्राप्ति, अहंकार और जमीन हड़पना? सामाजिक मूल्यों पर घोर संकट की घड़ी में हम उठ खड़े होते हैं या चुप्पी मार जाते हैं? कानून का पालन सिर्फ जनसामान्य के लिए जरूरी है या सभी के लिए? ये और न जाने कितने ही अनेक ऐसे मानक जीवन-मूल्यों के आकलन के लिए सोचे जा सकते हैं। वेदव्यास ने अपने समाज का नितांत बेलाग आकलन हमारे सामने पेश कर दिया है। महाभारतकालीन समाज के बारे में और उसके आधार पर हर देशकाल के लिए निष्कर्ष निकाल लेना या वैसा न कर पाना हम पर निर्भर है। हम तो बस फिर से महाभारत कथा में प्रवेश कर जाना चाहते हैं और शुरू करते हैं उस समृद्ध समाज की पर्यावरण चिंता के आयामों से।

'महाभारत' प्रबंध काव्य की दो घटनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें विश्वास और आस्था से भरे हम भारतवासियों ने अभी तक सिर्फ याद रखने लायक घटनाओं के रूप में ही देखा है। पर बदले हुए संदर्भों में, वित्त और टेक्नोलॉजी की परम समृद्धि के

व्यापक और गहन संदर्भों में उनका नए सिरे से आकलन व मूल्यांकन करना जरूरी है। घटनाएँ हम सभी को पता हैं, पर संदर्भ के लिए उन्हें, संक्षेप में ही सही, एक बार फिर से याद करना ही होगा। पहली घटना खांडव वन को जला देने की है। महाभारत के सभापर्व में इसका कुछ अध्यायों में विस्तार से वर्णन किया गया है। द्रौपदी से विवाह के उपरांत जब पांडव अपने घर हस्तिनापुर में फिर से प्रतिष्ठित हो गए तो धृतराष्ट्र ने उन्हें अपने राज्य का कुछ हिस्सा अपने हिसाब से शासन करने के लिए दिया। उन्हें इंद्रप्रस्थ का अपने समय का अति भव्य राजप्रासाद रहने के लिए दिया गया। खांडव वन दाह की घटना उसके बाद की है।

इंद्रप्रस्थ राजप्रासाद में पांडवों के सुव्यवस्थित हो जाने के बाद अर्जुन ने कृष्ण की सहायता से खांडव वन को जलाया था, पूरा-का-पूरा वन ही जला दिया था। खांडव वन के जलने का क्या शानदार, यानी रोंगटे खड़े कर देनेवाला वर्णन आदिपर्व, अध्याय 225-230 में है। जैसे ही अर्जुन के आग्नेय बाणों से वन की अग्नि प्रकट हुई और तेजी से विकराल शक्ल लेकर फैलने लगी, तो कैसे वहाँ रहनेवाले विभिन्न प्राणी डर और घबराहट के मारे भागने लगे, यह सारा वर्णन पढ़ने लायक है और ऐसा नहीं लगता कि वैसा वर्णन करने में क्रांतदर्शी महाकवि वेदव्यास को कोई सुकून मिल रहा है। कैसे तक्षक नाग के पुत्र अश्वसेन को उसकी माँ बचाने को बेचैन हो रही है, यह वर्णन कवि की महती करुणा का परिचायक है (आदिपर्व, 226, 4-9)। व्यास बताते हैं कि इस खांडव दाह में सभी पेड़-पौधे और दूसरी प्राणि जातियाँ नष्ट हो गईं और सिर्फ छह प्राणी ही बचे रह सके—अश्वसेन सर्प, मय दानव और चार शार्ङ्ग पक्षी (आदिपर्व, 227.47)। यह वही मय दानव है, जिसने खांडव वन को जला दिए जाने के बाद सपाट हो गई जमीन पर युधिष्ठिर के लिए दिव्य सभाभवन का निर्माण किया था और जहाँ महाभारत का प्रसिद्ध राजसूय यज्ञ हुआ था, जिसके बारे में हम पहले अध्याय में बता चुके हैं।

सवाल है, क्यों जलाया गया खांडव वन? वेदव्यास ने इसे जलाने को लेकर दो-एक कथाएँ दी हैं, पर वे खुद भी उन कथाओं से बहुत ज्यादा प्रभावित होते नजर नहीं आ रहे। पूरे विवरण में खांडव वन दाह का कोई औचित्य नजर नहीं आता। लगता सिर्फ यही है कि इंद्रप्रस्थ का अति भव्य राजप्रासाद मिल जाने के बावजूद पांडवों को वह सारा ताम-झाम अपनी हैसियत से कम नजर आ रहा होगा और हस्तिनापुर की सत्ता के समकक्ष खड़ा होने की कामना में वे अपने ठाठ-बाट का कुछ विस्तार चाहते होंगे। खांडव वन को जलाकर और वहाँ से मिली जमीन पर दिव्य राजसभा का निर्माण करवाकर पांडवों ने अपनी राजनीतिक हैसियत को

बढ़ाने की इसी कामना को पूरा कर लिया। फिर राजसूय यज्ञ करके इस हैसियत पर दुनिया की मुहर भी लगवा ली।

दूसरी घटना है जनमेजय का सर्पयज्ञ या नागयज्ञ। यह वर्णन 'महाभारत' के आदिपर्व के कई अध्यायों में काफी विस्तार से है। जनमेजय परीक्षित का पुत्र था और पिता की आकस्मिक मृत्यु के बाद हस्तिनापुर का सम्राट् बना था। उसके पिता परीक्षित को कभी अहंकार के वश में आकर की गई किसी उद्दंडता के कारण शाप मिला था कि उसकी मृत्यु तक्षक नाग के डसने से होगी और वैसा हुआ भी। जनमेजय को अपने पिता की उद्दंडता तो याद नहीं रही, पर तक्षक द्वारा पिता को डसकर मार दिया जाना याद रहा और इसी के मारे उसने साँपों से, यानी पूरी नाग जाति से ही दुश्मनी पाल ली। सर्पसत्र उसी दुश्मनी की क्रूर अभिव्यक्ति था। जनमेजय ने तय कर लिया कि उसके पिता को डसकर मार देनेवाले तक्षक की पूरी कौम को ही वह नष्ट कर देगा। नाग जाति के बीजनाश के लिए उसने जो सर्पयज्ञ किया, इस सर्पयज्ञ में साँपों का महाविनाश हुआ, जिसका दहला देनेवाला वर्णन वेदव्यास ने 'महाभारत' के आदिपर्व (अध्याय 52-53) में किया है। फिर कैसे बालक आस्तीक की चतुराई से यह यज्ञ बंद कर दिया गया, यह वर्णन भी महाभारत में है। इस सर्पसत्र में साँपों का महाविनाश तो हुआ, पर बीजनाश नहीं हुआ, जैसा कि जनमेजय का इरादा था। और तो और, जिस तक्षक से बदला लेने के लिए साँपों के इस महाविनाश का आयोजन किया गया था, उसके मरने से पहले ही आस्तीक ने यज्ञ बंद करवा दिया था। कहनेवालों की कमी नहीं कि दिल्ली के आसपास नांगलोई, साँपला, कुंडली जैसे नामों का होना साबित करता है कि यह महाविनाशकारी नागयज्ञ दिल्ली की पश्चिमी दिशा में कहीं किया गया था। इसी सर्पयज्ञ के समाप्त होने के बाद महामुनि वेदव्यास ने जनमेजय के अनुरोध पर अपने शिष्य वैशंपायन को राजसभा में महाभारत कथा सुनाने को कहा था।

सीधे-सीधे देखा जाए तो खांडव वन दाह और सर्पयज्ञ की ये घटनाएँ पर्यावरण के विनाश की कहानी ही कह रही हैं। वन दाह के रूप में पहला विनाश अर्जुन ने किया और सर्पयज्ञ के रूप में दूसरा विनाश अर्जुन के पड़पोते (अर्जुन-अभिमन्यु-परीक्षित-) जनमेजय ने किया। यानी जिस शासक वर्ग पर देश और देश के लोगों के साथ-साथ देश के पर्यावरण की रक्षा का भी दायित्व था, खुद उसी शासक वर्ग के शक्तिशाली प्रतिनिधियों ने पर्यावरण के महाविनाश का काम किया। सिर्फ पानी, वृक्ष और हवा ही पर्यावरण नहीं होता, वन्य प्राणियों का जीवन भी इसी पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हुआ करता है। पर्यावरण की रक्षा में इन सभी की

रक्षा होती है। आज स्कूलों में पर्यावरण-रक्षा को इन्हीं विस्तृत संदर्भों में बताया जाता है। अर्जुन और जनमेजय के हाथों ठीक इन्हीं अर्थों में पर्यावरण का विनाश किया गया था, यानी खुद रक्षक ही भक्षक बन गए थे।

सवाल है, क्यों ये रक्षक पर्यावरण की रक्षा के प्रति सजग नहीं रहे और लापरवाह होकर स्वयं ही इसके विनाश में लग गए? सवाल का जवाब देना कोई मुश्किल नहीं। हमारा शुरू से मानना रहा है कि 'महाभारत' हमें अपने ही जमाने का महाकाव्य लगता है। पात्र अलग हैं, घटनाएँ अलग हैं, जीवन और तकनीक की शैली में भी स्वाभाविक ही फर्क है। पर पैसे और टेक्नोलॉजी की परम समृद्धि के माहौल में रहनेवाला समाज जिस तरह से बरतता है, हमारा आज का पश्चिमी देशों का समाज, पश्चिमोन्मुख भारतीय समाज वैसा ही बरताव कर रहा है और महाभारत कालीन हमारे पूर्वजों का समाज भी ठीक वैसे ही बरत रहा था। बढ़ते शहरीकरण और औद्योगीकरण की वजह से हम आज जिस तरह से पर्यावरण-विनाश के अहंकार में डूबे पड़े हैं, अपने वैभव का विस्तार करने की इच्छा से किए गए खांडव वन दाह को, पिता की रक्षा का बदला लेने के नशे में किए गए सर्पध्वंस को कृपया इसी संदर्भ में देखिए कि क्यों हमारे महाभारत कालीन पूर्वज पर्यावरण की रक्षा से लापरवाह हो गए। ऐसा लगता है कि महाभारत काल में आम लोग, अपने शासकों की देखा-देखी, पर्यावरण के प्रति निर्मम और लापरवाह होकर उसको खूब नुकसान पहुँचाया करते होंगे। शायद इसी से परेशान होकर और लोगों को अच्छी सीख देने के इरादे से 'महाभारत' के समय के अथर्ववेद के बारहवें कांड के इस पहले सूक्त में पृथ्वी को माँ कहकर खुद को उसका पुत्र 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्ववेद, 12.1.12) कहा है और लोगों को अपनी माँ की रक्षा करने का ही मानो इशारा भी किया है।

यह तो थी पर्यावरण की बात। इसके निर्लज्ज विनाश में वही शासक वर्ग अभियुक्त है, जो जीवन के दूसरे पहलुओं को लेकर भी उतना ही बेखौफ और मर्यादाहीन हो चला था। बेशक हम भारतवासियों ने किसी भ्रांति या अंधविश्वास का शिकार होकर 'महाभारत' को पूरी तवज्जो और लगन से पढ़ने का वैसा स्वभाव न बनाया हो जैसा 'रामायण' को पढ़ने का बना लिया है; पर शायद ही कोई हिंदुस्तानी ऐसा होगा जिसे 'महाभारत' प्रबंध काव्य की हर घटना उसके पूरे विस्तार से याद न हो। और खासकर वे दो घटनाएँ—हस्तिनापुर के राजमहल में जुआ खेला जाना और उसी राजमहल में घर की वधू द्रौपदी का अपने ही देवरों द्वारा सरेआम किया गया बलात्कार यानी चीर-हरण। क्या कोई ऐसा हिंदुस्तानी भी

होगा, जिसे इन घटनाओं का सविस्तार पता न हो? बल्कि इस हद तक पता है, जैसा कि हमने बताया कि, उस महातेजस्विनी नारी द्रौपदी के चीर को कृष्ण के हाथों अनंत आकार दे देने की कहानी का आविष्कार कर इस देश ने द्रौपदी को हजारों सालों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सतत और विनम्र प्रणामांजलि दी है।

उस महानारी द्रौपदी को सतत प्रणामांजलि देनेवाले इस देश को इस बात का भी आकलन अब अवश्य कर लेना चाहिए कि कैसे आज के कुछ बेशर्म सत्ता-केंद्रों की तरह हमारे महाभारत कालीन पूर्वजों के राजमहल मर्यादाओं के डर और दबाव से कितना बेखौफ हो गए थे। इस देश को सवाल पूछना ही चाहिए कि क्यों खेला गया जुआ? जुआ भी किनके बीच? देश के शासक परिवार के पुत्रों के बीच? अगर एकदम सही तरीके से कहा जाए तो हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के दो राजपरिवारों के बीच, क्योंकि तब तक पांडव राजसूय यज्ञ करके मान्यता प्राप्त पृथक् शासक परिवार बन चुके थे, जिनके ऊपर प्रजा के कल्याण और अपने-अपने राज्य की रक्षा का दायित्व था, वे अपने स्वाभाविक राजधर्म को तिलांजलि देकर जुआ खेलने में मशगूल हो गए? और वह जुआ खेला भी कहाँ गया? तब की केंद्रीय सत्ता माने जानेवाले हस्तिनापुर के राजमहल के भीतर? अभी तो हैरान करनेवाली बातें और भी हैं, जरा दिल थामकर बैठिए। दुर्योधन को युधिष्ठिर से जुए में सर्वस्व जीत लेने को सबसे पहले उकसाया मामा शकुनि ने, इस बिना पर कि 'महाराज धृतराष्ट्र द्वारा बुलाए जाने पर युधिष्ठिर कभी जुआ खेलने से मना नहीं कर पाएँगे। खेलना उन्हें आता नहीं, जबकि मैं इस खेल में अप्रतिम रूप से निष्णात हूँ और उन्हें हर बाजी में पीटकर रख दूँगा।'

ठीक वैसा ही हुआ। दुर्योधन नामक पुत्र के मोह में राजा धृतराष्ट्र जुआ करवाने को मान गए, यह जानते हुए भी कि जुआ खेलना बरबादी को बुलावा देना है। राजा की आज्ञा से विदुर गए इंद्रप्रस्थ जुए का निमंत्रण देने (सभापर्व, अध्याय 58)। वे विदुर, जो इससे ठीक पहले अपने ही बड़े भाई और राजा यानी धृतराष्ट्र को जुए से होनेवाली सर्वतोमुखी बरबादी के बारे में उपदेश दे चुके थे (सभापर्व, 57.3)। निमंत्रण मिलने पर युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा कहानेवाला व्यक्ति भी जुआ खेलने को मान गया, यह कहते हुए कि जुए में बुराई-ही-बुराई है; पर जब कोई खेलने के लिए बुलाए तो खेलना ही धर्म है। जरा इस धर्म का नाटक तो देखिए। जो जुए के लिए बुला रहा है, वह धृतराष्ट्र भी जानता है कि जुआ धर्म-विरुद्ध यानी मर्यादा-विरुद्ध है। जो दूत बनकर बुलाने जा रहा है, वह विदुर जुए से पहले और जुए के दौरान भी जुए को परम अधर्म और भारी मर्यादाहीनता बता रहा है।

धर्मात्मा कहे जानेवाले युधिष्ठिर जुए को अधर्म मानते हुए भी धर्म की दुहाई देकर जुए का निमंत्रण एक नहीं, दो-दो बार स्वीकार कर लेते हैं। क्या कोई ऐसा अधर्मी और मर्यादाओं से बेखौफ राजमहल आपने देखा है, जहाँ हर कोई जुए को अधर्म मान रहा है, पर जुआ खेल भी रहा है और खेले जाते हुए देख भी रहा है? तब शायद एक हस्तिनापुर का राजमहल था। आज तो कदम-कदम पर ऐसे राजमहल आपको मिल जाएँगे। बस, एक कृष्ण को धर्म का ठीक पता था, जिन्होंने काम्यक वन में पांडवों से मिलने पर कहा था कि जब जुए की सारी दुर्घटना घटी, मैं द्वारका से बाहर था और इसलिए बेखबर था। मैं वहाँ होता तो बिना बुलावे के भी हस्तिनापुर जाता और इस मर्यादा-भंग को रुकवा देता। (वनपर्व, अध्याय 13)

पर मर्यादाओं के बंधन से हर तरह से बेखौफ हमारे महाभारत कालीन पूर्वजों के हाथों अभी पराकाष्ठा होनी थी, यानी राजमहल की बैठक में अपने ही घर की पुत्रवधू का अपने ही देवरों के हाथों सार्वजनिक चीरहरण। भारत का हर नागरिक इस घटना को जानता है, दोहराने की कतई जरूरत नहीं। पर कुछ बातें ही समझ लेने में कोई हर्ज भी नहीं। दुर्योधन के दूत प्रातिकामी के असफल हो जाने के बाद दुःशासन द्वारा द्रौपदी घसीटकर उस राजमहल की बैठक में लाई गई थी। तब वह रजस्वला थी। सिर्फ एक वस्त्र धारण किए हुए थी। उसने दुःशासन से ऐसा कहा भी—"शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि, एकं च वासो मम।" (सभापर्व, 67.32)। द्रोण, भीष्म और विदुर मुँह नीचे किए सब देख-सुन रहे थे। दुःशासन ने उसे 'दासी' कहा (सभापर्व, 67.34 और 44) तो कर्ण ने हँसते हुए उसका समर्थन किया (सभापर्व, 67.35) और द्रौपदी को बंधकी, यानी वेश्या तक कह दिया (सभापर्व, 68.35)। द्रौपदी ने भीष्म को पुकारा तो वे बेबस होकर बोले कि धर्म का रूप बहुत सूक्ष्म है, इसलिए तुम्हारी पुकार का मैं ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर पा रहा हूँ (सभापर्व, 67.47)। भीम जरूर गुस्से से तिलमिला रहा था, पर युधिष्ठिर ने उसे चुप करा दिया।

हमारे महाभारत कालीन पूर्वजों के हाथों धर्म की यह दुर्गति बन रही थी। द्रौपदी साफ पूछ रही थी कि 'क्या मैं धर्मपूर्वक जीती गई?' धृतराष्ट्र का एक पुत्र विकर्ण बार-बार सभी सभासदों को इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुरेद रहा था (सभापर्व, 68.12-26), पर कोई मुँह खोलने को तैयार नहीं था। विदुर ने तो यहाँ तक कहा कि "राजाओ, अनाथ की भाँति रो रही द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर न देकर आप सभी धर्म की हानि कर रहे हैं।" (सभापर्व, 68.59)। पर द्रौपदी के सवाल का जवाब तब के हमारे राजनेता वैसे ही नहीं दे पाए थे जैसे आज के राजनेता भी

ऐसे प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाते हैं और वैसे ही 'कानून अपना काम करेगा', 'अभी आरोप लगा है, दोष कहाँ साबित हुआ है' जैसी सूखी, उबाऊ तथा अर्थहीन बहस में पड़ जाते हैं जैसे तब विदुर, भीष्म और द्रोण आदि सूखी बहस कर रहे थे, ठीक तब, जब द्रौपदी को उनकी आँखों के सामने निर्वस्त्र किया जा रहा था। कैसा बेखौफ होता है राजमहल, सत्ता और ऐश्वर्य के मद से सराबोर हर राजमहल! राजमहल में जुआ हुआ, फिर क्यों नहीं लोग खेलेंगे जुआ? राजमहल में जुआ, घर की बहू का देवरों द्वारा सार्वजनिक चीरहरण, फिर कैसे मर्यादा में रहेगी प्रजा? सोचने का मामला सिर्फ इतना है कि क्यों पर्यावरण की रक्षा से लापरवाह, मर्यादाओं के पालन से बेखबर और सत्ता से बँधी डोरवालों से आम जनता धर्म और मर्यादा के मानदंडों की अपेक्षा रखती है? आज भी?

हलके से कह देने में कोई हर्ज नहीं कि हमारी यह समालोचक दृष्टि उन पाठकों को थोड़ा निराश कर रही होगी, जो प्राचीन भारत की हर बात को सही साबित करने के फेर में सिर्फ गुणगान ही सुनते रहना चाहते हैं। अपने देश के इतिहास का कौन भला गुणगान नहीं करना चाहता है! हम भी क्या नहीं करना चाहेंगे? पर क्या अपने पूर्वजों की शक्ल और अक्ल का, विचार और व्यवहार का, धर्म और अधर्म का खुले दिमाग से विवेचन करना हमारे अपने वर्तमान की सेहत और चंगई के लिए जरूरी नहीं है? इसी संदर्भ में देखने पर हमें अपने महाभारत कालीन पूर्वज विपुल समृद्धि के स्वामी होने के बावजूद, अद्भुत शारीरिक व मानसिक बल का भंडार होने के बावजूद, टेक्नोलॉजी व वैभव के शिखर पर होने के बावजूद धर्म और मर्यादा के मामले में, मूल्य और शालीनता के बारे में कमजोर, नदारद और पग-पग पर फिसलते नजर आते हैं।

अगर ऐसा न होता तो हमारा ध्यान महाभारत की उन कुछ घटनाओं की ओर कतई नहीं जाता, जहाँ ध्यान चले जाने के बाद सिर्फ यही साबित होता है कि महाभारत के नायकों और प्रतिनायकों की डोर सिर्फ सत्ता से बँधी थी और सत्ता हासिल करने के लिए वे, आज के राजनेताओं की तरह, किसी भी हद तक गिर जा सकते थे। एक सवाल पूछते हैं, जिसका जवाब आपके पास पहले से ही है। सवाल है—अठारह दिनों के इस महासंग्राम में क्यों मरने के लिए सजा दिए गए थे 20 लाख रणबाँकुरे सैनिक? क्यों मरने के लिए जोत दिए गए थे 15 लाख हाथी और घोड़े? क्यों नष्ट होने के लिए कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जुटा दी गई थी बृहद् संपदा? क्यों? क्या इसका एक ही जवाब नहीं कि सिर्फ सत्ता पाने के लिए? क्या परिदृश्य ठीक वैसा नहीं है जैसा आज भी महज सत्ता पाने के लिए मध्यावधि और

बार-बार चुनाव करवाकर इस गरीब देश की गरीब जनता पर करोड़ों रुपयों का खर्च बिना वजह डाल दिया जाता है? या फिर अपनी नाक ज्यादा नुकीली साबित करने के लिए परम गरिमा के लायक दोनों संसदीय सदनों में अकसर मर्यादा का मखौल उड़ाया जाता है?

अगर सत्ता और सिर्फ सत्ता की डोर का बंधन नहीं होता तो यकीनन दुर्योधन कृष्ण के इस प्रस्ताव को मान लेता कि वह पांडवों के साथ आधा-आधा राज्य बाँटने की संधि कर ले (उद्योगपर्व, 124.61)। पर दुर्योधन तो सुई की नोंक के बराबर जमीन भी देने को तैयार नहीं हुआ (उद्योगपर्व, 127.25)। संधि हो जाती तो निश्चित ही वह महाविनाश भी नहीं होता, जो अठारह दिनों के महायुद्ध में हुआ। पर सवाल है, संधि कैसे हो जाती? जिस समाज को राजसत्ता की अपनी बागडोर एक अंधे धृतराष्ट्र के हाथों सौंपते हुए कोई संकोच नहीं हुआ, दुर्योधन भी तो आखिर उसी समाज की परवरिश में बड़ा हुआ था। धृतराष्ट्र बड़ा था और पांडु छोटा। अगर धृतराष्ट्र के होते हुए भी पहले पांडु को राजा बनाया गया तो जाहिर है कि अंधा होना ही धृतराष्ट्र के आड़े आया होगा। पर, पांडु की असमय मृत्यु के बाद सिर्फ वही समाज परम बुद्धिमान और धर्मात्मा विदुर को उसका उत्तराधिकारी बनाने की सोच सकता था, जिस समाज में सत्ता के बजाय धर्म और मर्यादा का महत्त्व अधिक होता। खुद को राजा बनने देने में धृतराष्ट्र की सत्ता की भूख भी खूब काम कर रही होगी। यह इसी बात से जाहिर है कि राजा बनने के बाद से महाभारत संग्राम तक धृतराष्ट्र हर क्षण इसी चतुराई में लगा रहा कि कैसे उसका उत्तराधिकार युधिष्ठिर के बजाय दुर्योधन को मिले। आप चाहें तो इस सतत चतुराई के ताजा-तरीन नमूने हमारे देश में राजनीतिक दलों की हर उस मुहिम में देख सकते हैं, जो केंद्र में या राज्यों में सत्ता जैसे भी हो, हथिया लेने के फेर में अकसर नजर आती रहती है। जैसे भी हो, सत्ता में रहना है, आज की हमारे देश की राजनीति का महाभारत कालीन नमूना फिर से वही मानसिकता दिखाता है कि लक्ष्य एक ही है—सत्ता में रहो या सत्ता हासिल करो। अगर यही अकेला लक्ष्य न होता तो पाँचों पांडवों को उनका माँ समेत मरवा देने के लिए वारणावत का लाक्षागृह बनवाया ही नहीं जाता। अगर यही अकेला लक्ष्य न होता तो जुए के बाद वनवास भुगत रहे पांडवों को धरती से उठा देने के इरादे से दुर्योधन द्वारा घोष-यात्रा न की जाती।

मद्रराज शल्य उस समय सत्तालिप्सा से प्रेरित होकर उठाए जानेवाले हथकंडों का सबसे ज्यादा मुखर नमूना है। शल्य उस माद्री के भाई थे, जो पांडु की पत्नी व

नकुल और सहदेव की माँ थी। यानी वे पांडवों के मामा थे। पांडवों को दिए वचन के अनुसार उन्हें युद्ध में पांडवों की ओर से ही लड़ना था। वे ऐसा करने के लिए अपनी विशाल सेना लेकर कुरुक्षेत्र की ओर चल भी पड़े थे। रास्ते में बिना जाने कि सारा प्रबंध दुर्योधन का है, उन्होंने उसकी शानदार आवभगत, हॉस्पिटैलिटी, स्वीकार की और फिर पता चलने पर वे दुर्योधन के ही हो गए। आयाराम-गयाराम की कहानी का यह अभी आधा हिस्सा है। बाकी हिस्सा और भी जोरदार है। यह बताने पर कि मैं अब दुर्योधन की ओर से लडूँगा, जब शल्य युधिष्ठिर से मिलने गए तो उसे भी एक वादा कर आए। वह यह कि युद्ध में उन्हें अच्छे सारथि होने के कारण जब कभी कर्ण का सारथि बनने का मौका आए तो वे युद्धस्थल में वहीं, कर्ण के रथ को हाँकते हुए ही, अर्जुन की तारीफ करते रहें और कर्ण को लगातार कोसते रहें। हम सब जानते हैं कि शल्य ने वैसा किया था। अब सोचने का मुद्दा यह है कि शल्य के किस काम को धर्म और मर्यादा के खाते में डाला जाए?

बड़ा मुश्किल सवाल है। पर जवाब बहुत ही आसान है कि शल्य के दोनों ही काम मर्यादा के विपरीत थे। इसलिए, आज की हमारी राजनीति के आयाराम-गयाराम की तरह शल्य भी हमारी राष्ट्रीय स्मृति में एक बेकार के आदमी यानी अपदार्थ की तरह हँसी के पात्र बनकर रह गए हैं। भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे धुरंधरों के मर जाने के बाद दुर्योधन ने शल्य को अपनी बची-खुची सेना का सेनापति बनाया था। इसी घटना पर संस्कृत में एक मजाक शुरू हो गया, 'शल्यो जेष्यति पांडवान्' यानी भीष्म, द्रोण व कर्ण सरीखे बड़े-बड़े योद्धा तो पांडवों को जीत नहीं सके, अब यह शल्य जरूर जीतेगा। सत्ता से डोर बँधी हो तो इस बात की पूरी संभावना रहती है कि सत्ता मिल जाए, पर जरूरी नहीं कि सम्मान भी मिले। अगर आपके दिलों में कुछ खास किस्म के राजनीतिज्ञों के प्रति सम्मान कतई शेष न बचा हो तो आप हमारे आलेख पुस्तक के इस हिस्से को बार-बार लुत्फ लेकर पढ़ सकते हैं।

वैसे इतिहास भी कई बार मजेदार काम करता है। कुछ नामों के साथ तो वह उपलब्धियों का अंबार लगा देता है कि हम बस गिनते ही रह जाते हैं। उधर कुछ नामों के साथ वह असफलताओं एवं अभिशापों का ऐसा सिलसिला जोड़ देता है कि हम उन्हें एक बार पढ़-सुनकर दोबारा याद नहीं करना चाहते। सवाल है कि शल्य के बाद अब आचार्य द्रोण को इन दो वर्गों में से किसमें रखा जाए? द्रोण हमारे इतिहास का एक बड़ा नाम तो है। बड़ा है, तभी तो इस देश के चंद बड़े नामों की तरह यह नाम भी देश के जन सामान्य की जुबान पर चढ़ा है। पर न तो वह

कोई ऐसा नाम है, जो कौरवों की तरफ होने के बावजूद सिर्फ धिक्कार-फटकार के ही लायक है और न ही वह कोई ऐसा नाम है, जिसके साथ कोई बड़ी उपलब्धि जुड़ी हुई है। हाँ, एक उपलब्धि आचार्य द्रोण के साथ जरूर जुड़ी है कि वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ योद्धा-ब्राह्मणों में हैं, जिन्हें हम आयुधजीवी ब्राह्मण कहते हैं। इस एक खास विशेषता को छोड़ दें तो बाकी क्या है?

बाकी यह है कि द्रोणाचार्य के नाम के साथ ऐसी अनेक घटनाएँ एवं कुछ बातें जुड़ी हैं, जो उन्हें ऊँचाई के योग्य सिद्ध नहीं करतीं, जिस ऊँचाई तक वे अन्यथा पहुँचे नजर आते हैं। मसलन कुछ बातें देख ली जाएँ। द्रोण और द्रुपद एक ही गुरु के विद्याकुल में पढ़ते थे और दोनों आपस में अत्यंत घनिष्ठ मित्र थे। इतने घनिष्ठ कि द्रुपद ने वायदा कर दिया कि जब वह राजा बनेगा तो अपना आधा राज्य द्रोण को दे देगा। वैसा मौका आने पर द्रोण द्रुपद से आधा राज्य माँगने गए तो द्रुपद ने द्रोण का अपमान कर दिया। फिर पता है, द्रोण ने क्या किया? मन-ही-मन द्रुपद से बदला लेने का संकल्प कर लिया और द्रोण का शेष जीवन अपने इस प्रतिशोध भरे संकल्प की पूर्ति में ही खर्च हो गया। महाभारत युद्ध में भीष्म के शर-शय्या पर गिर जाने के बाद द्रोण कौरव सेना के सेनापति बने तो युद्ध में द्रुपद को मारकर द्रोण ने अपने जीवन की महत्त्वाकांक्षा पूरी की और सेनापति बनने के बाद पाँचवें दिन द्रोण स्वयं भी द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा मार डाले गए।

गुरु के रूप में द्रोण ने कोई अनुकरणीय मानदंड कायम नहीं किए। महाभारतकार दो ऐसे नमूनों से हमारा परिचय कराता है कि जिनके कारण हम द्रोण को गुरु के रूप में शिष्यों के बीच भेदभाव करनेवाला और पक्षपाती माने बिना नहीं रह सकते। अपने पुत्र अश्वत्थामा को कौरवों और पांडवों से अधिक शस्त्रज्ञान देने के लिए द्रोण ने दो काम किए थे। वे अश्वत्थामा को पानी भरने के लिए बड़े मुँह वाला घड़ा दिया करते, जबकि बाकी शिष्यों को तंग मुँह वाला घड़ा दिया करते। इसलिए जहाँ बाकी शिष्य देर तक पानी भरते रहते, वहाँ अश्वत्थामा अपने काम में जल्दी निवृत्त होकर लौट आते (आदिपर्व, 131, 16-20)। तब द्रोण ने अश्वत्थामा को रात के अँधेरे में लड़ने की विद्या सिखाई, जिसका उपयोग अश्वत्थामा ने महाभारत युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद रात्रि को पांडव सेना के भीषण संहार के रूप में किया। यह अलग बात है कि अर्जुन ने अपनी निपुणता से अंततः द्रोण की यह चोरी-छिपे सिखाने की सुविधा खत्म कर दी और वह सबकुछ सीख लिया, जो अश्वत्थामा ने अकेले और गुपचुप सीखा था। पर द्रोण का चरित्र तो सामने आ ही गया।

पक्षपात का दूसरा नमूना अर्जुन के बारे में है। जब अपनी निपुणता से अर्जुन ने द्रोण को बाध्य कर दिया कि वे उसे वह सबकुछ सिखाएँ, जो अश्वत्थामा को गुपचुप सिखाया जा रहा था तो द्रोण इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अर्जुन को पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाने की ठान ली—प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः। त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ (महाभारत, आदिपर्व, 131.27), द्रोण अपनी इस नई महत्त्वाकांक्षा में इतने मोहांध हो गए कि अर्जुन के संभावित प्रतिद्वंद्वी एकलव्य का कैरियर खत्म करने के लिए उस भील बालक के दाहिने हाथ का अँगूठा गुरुदक्षिणा में माँगते हुए उनकी वाणी नहीं काँपी (आदिपर्व, 131.56)।

भेदभाव और पक्षपात के इन दो जबरदस्त उदाहरणों में से एकलव्य से किया गया क्रूरतापूर्ण व्यवहार आचार्य द्रोण की छवि को एक ही झटके में अपयश के रसातल में डुबो देता है। पहले तो द्रोण ने एकलव्य को धनुर्विद्या देने से ही मना कर दिया। हालाँकि द्रोण के तर्क में वजन नहीं है, फिर भी मान लेने में कोई हर्ज नहीं कि राजकुमारों को सिखाने के लिए प्रतिबद्ध हो चुके द्रोण ने भीलकुमार को अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया। पर जब एकलव्य ने द्रोण की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर और उसी में गुरु के प्रति संपूर्ण श्रद्धा का आधान कर अपने ही प्रयासों से विद्या पा ली तो अर्जुन की सर्वश्रेष्ठता बरकरार रखने के लिए एकलव्य का अँगूठा काटने की क्या जरूरत थी? यह द्रोण के चरित्र का अमानवीय पक्ष है।

पर द्रोण के चरित्र के दो इतने ही नकारात्मक पक्ष और भी तो हैं। पहला अवसर धृतराष्ट्र की राजसभा में कुरु कुलवधू द्रौपदी को बालों से खींचकर लाए जाने और फिर उसके वस्त्र-हरण का दुःशासन द्वारा प्रयास करने का है। जैसे इस मौके पर विदुर के अलावा शेष सभी चुप रहे, धृतराष्ट्र चुप रहे, भीष्म चुप रहे, वैसे ही आचार्य द्रोण भी चुप रहे। तो सवाल है कि क्या उन्हीं की चुप्पी को कुछ ज्यादा नकारात्मक मानकर चला जाए? द्रौपदी ने जब विलाप करते हुए कहा कि इस सभा में भीष्म और द्रोण जैसे लोग भी निःसत्त्व हो गए हैं (द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं—सभापर्व, 67.41) और उसने सवाल पूछा कि 'क्या मैं धर्मपूर्वक जीती गई हूँ?' तो अपनी विवशता, असमर्थता और न सोच पाने की विवेक-शून्यता को भीष्म ने कुछ हद तक फिर भी स्वीकार किया (सभापर्व, 67.47) (हालाँकि यह स्वीकार भी बेमतलब था), पर द्रोण का मुँह तक नहीं खुला। क्या कौरवों और पांडवों के गुरु और आचार्य होने के नाते उन्हें बोलना नहीं चाहिए था? क्या उन्हें कुछ करना नहीं चाहिए था? पर द्रोण चुप रहे, कुछ करना तो दूर। तो क्या इसे उनके वैसे ही उत्साहभंजक चरित्र का एक और नकारात्मक पहलू नहीं माना जाए?

पर अभिमन्यु की हत्या? द्रोण के नेतृत्व में छह-सात महारथियों द्वारा पहले अकेला कर और फिर निहत्था कर मारने का दारुण कर्म? कैसे इसके लिए द्रोण को माफी दे दी जाए? जब इस कथित धर्मयुद्ध में दोनों पक्ष और सभी महारथी अधर्म और धोखे से भी अपने शत्रु को मार गिराने में कोई संकोच नहीं कर रहे थे, तब द्रोण से यह अपेक्षा करना कि वे धर्म और मर्यादा की स्थापना करते, कुछ ज्यादती मानी जा सकती है। पर सवाल है कि अगर अनैतिकता के इस झंझावात में गुरु पद पर प्रतिष्ठित लोग भी अपने आपको नहीं बचा सके तो कैसे उन्हें बड़प्पन का ऊँचा आसन दे दें? कैसे उन्हें भारत की सभ्यता के विकास में योगदान करनेवाले नायक मान लें?

यानी द्रोण के चरित्र में, आयुधजीवी ब्राह्मण होने के अतिरिक्त ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें महान् सिद्ध कर सके। द्रोण के चरित्र में शस्त्र है, शास्त्र नहीं है; बल है, बुद्धि नहीं है; शौर्य है, विचार नहीं है; प्रतिशोध का भाव है, उदात्त जीवनदर्शन नहीं है; बाल्यकाल की निर्धनता की प्रतिक्रिया में से उपजी समृद्धि की ललक है, पर मर्यादा का संवेदनशील बोध नहीं है। इसलिए कौरव-पांडवों के रूप में जो शिष्य द्रोण ने तैयार किए, उनके पास शास्त्र नहीं है, बुद्धि का वैभव नहीं है, विचार की ताकत नहीं है और कोई उदात्त जीवन-दर्शन भी इसलिए नहीं है। यानी जैसे गुरु वे थे वैसे शिष्य उन्होंने बनाए, जो राज्य पाने की अंधी लालसा में आपस में लड़ मरे और लड़कर मरने के इस नरमेध में द्रोण ने पुरोहिती की तो क्या इससे बड़ी नकारात्मक टिप्पणी द्रोण के चरित्र पर हो सकती है?

महाभारतकार द्रोण के इस चरित्र पर कितना खफा हैं, इसे जानना हो तो द्रोण पर्व के अध्याय 190 के नौ श्लोक (32-40) पढ़ जाइए, जहाँ द्रोण को साफ-साफ पापी कह दिया गया है। जब अश्वत्थामा के मारे जाने की (झूठी) खबर प्रारंभ में भीम (द्रोणपर्व, 190.16) के मुँह से सुनकर भी, क्योंकि युधिष्ठिर ने तो यही बात बाद में कही थी (वही, श्लोक 55) द्रोण ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार (कि पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनते ही मैं शस्त्र त्याग दूँगा) शस्त्रों का त्याग नहीं किया और रणभूमि में मार-काट मचाते रहे तो जानते हैं, क्या हुआ? महाभारतकार ने यहाँ एक अनूठी कल्पना कर दी कि अग्निदेव के नेतृत्व में विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ और अत्रि कुछ अन्य सूक्ष्म ऋषियों के साथ वहाँ आए और द्रोण से कहने लगे कि 'तुमने अब तक अधर्मपूर्वक युद्ध किया है। तुम तो वेद-वेदांग जानते थे, फिर भी तुमने क्रूर कर्म किया है। ब्रह्मास्त्र न जाननेवालों को भी ब्रह्मास्त्र से जला देने का पाप तुमने किया है। इसलिए तुम अब शस्त्र छोड़ो और

अधिक पापिष्ठ मत बनो और मृत्यु का वरण करो।' क्या इससे ज्यादा प्रताड़ना द्रोण की हो सकती थी? युद्ध में अधर्म और पाप कर्म तो और भी कइयों ने किए थे। फिर क्यों द्रोण को ही अधर्मी और पापी कहने का मौका महाभारतकार ने निकाल लिया? शायद इसलिए कि गुरु और आचार्य होने के नाते द्रोण से अधिक व श्रेष्ठतर अपेक्षाएँ थीं, जो उन्होंने पूरी नहीं कीं।

यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि द्रोण की इस महती प्रताड़ना के बावजूद क्यों उन्हें इस देश के जनमानस में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया? हमारी स्मृतियों में द्रोण कोई घटिया और तिरस्कृत प्राणी के रूप में तो अंकित नहीं हैं, बल्कि उनके जन्म को गरिमापूर्ण बनाने का प्रयास ही पुराण कथाओं में हुआ है। उनके शौर्य और पराक्रम का गुणगान ही सर्वत्र हुआ है। वे परशुराम का शिष्यत्व प्राप्त कर सके, यह गौरव भी उन्हें प्रदान किया गया। कोई बड़ा, श्रेष्ठ, आदर्श और मर्यादा स्थापक काम न करने के बावजूद, बल्कि अपने चरित्र के (ऊपर गिनाए) इतने सारे नकारात्मक पहलुओं के बावजूद द्रोण को अगर इतना सम्मान हमारी परंपरा में मिला है तो इसका कारण उनका गुरु होना है और ठीक इसी नाते वे गुरु को दिया जानेवाला सम्मान बटोरकर ले गए हैं। वे गुरु के ऊँचे आदर्शपूर्ण आसन तक नहीं पहुँच पाए। बल्कि जैसे वे खुद थे वैसे ही शिष्य उन्होंने बनाए। पर द्रोण दुश्चरित्र नहीं थे, जितेंद्रिय थे और धर्म जानते थे, इसलिए हर नकारात्मक पहलू और महाभारतकार से मिली प्रताड़ना के बावजूद वे सिर्फ गुरु होने के नाते वहाँ पहुँच गए, जहाँ वे हमारे मानस में आज भी विराजमान हैं। पर अपने आसपास के इस मर्यादाहीन राज समाज के बीच रहकर वे कोई ऐसी मर्यादा भी स्थापित नहीं कर पाए, जो सामाजिक जीवन का मानदंड मानी जा सके।

'महाभारत' के मर्यादाहीन राज समाज के गुरु का तो आकलन हमने कर लिया, अब एक संक्षिप्त आकलन उसी मर्यादाहीन राज समाज के पितामह का भी कर लिया जाए, जो परम धर्मरूप, नीतिशास्त्रकार और परम तेजस्वी बेशक हैं; पर उन सभी खास मौकों पर चुप्पी मार जाते हैं, जब उन्हें बोलना ही चाहिए था और निर्णायक कर्म करना चाहिए था। क्या इसे भी उस समय के संपूर्ण मूल्य-विमुख वातावरण का मुखर प्रतीक माना जाए?

मानना ही पड़ेगा। क्यों? जवाब में पहले भीष्म का अध्ययन करते हैं। अगर दुर्योधन को यह भरोसा न होता कि पांडवों के विरुद्ध युद्ध में भीष्म उसके साथ होंगे तो क्या वह कुरुक्षेत्र की रणभूमि सजाता? उधर अगर पांडवों को निश्चित होता कि कौरवों के विरुद्ध युद्ध में उन्हें कृष्ण का सहकार मिलने वाला नहीं है तो

क्या वे कौरवों के विरुद्ध युद्ध करने की सोच पाते? व्यास और उनकी टीम द्वारा लिखी 'महाभारत' का शिखर कौरवों और पांडवों के युद्ध में है और युद्ध इसलिए हो पाया, क्योंकि दोनों पक्षों को अपनी-अपनी धुरी यानी पितामह भीष्म और वासुदेव कृष्ण की भागीदारी पर पूरा भरोसा था। इसलिए इन दोनों चरित्रों को 'महाभारत' का महानायक मानना ही ठीक लगता है। फिर बेशक राजसिंहासन पर क्रमश: पांडु और धृतराष्ट्र बैठे हों और बेशक हस्तिनापुर के राजप्रासाद के लिए युद्ध युधिष्ठिर और दुर्योधन के बीच ही क्यों न हुआ हो।

सवाल है कि अगर भीष्म भी महानायक हैं और कृष्ण भी, तो क्या कारण है कि भीष्म को उस रूप में प्रबंध काव्य 'महाभारत' ही नहीं, अनगिनत पीढ़ियों के जनमानस में भी वह जगह क्यों नहीं मिली, जो कृष्ण को मिली है? कृष्ण तो ईश्वर के सोलह कला-संपन्न पूर्णावतार मान लिये गए, पर भीष्म महज कौरवों और पांडवों के साझे पितामह बनकर रह गए? कृष्ण को 'भागवत' सरीखा महापुराण और न जाने कितने ही काव्य, नाटक और असंख्य लोकगीत मिले, पर भीष्म को महाभारत का सिर्फ एक पर्व ही मिल पाया—भीष्मपर्व? क्यों नहीं कृष्ण की तरह भीष्म का भी विरुदगान करनेवालों का शब्द-भंडार रिक्त हो गया और लेखनी थक गई? और तो और, क्यों खुद भीष्म ही कृष्ण के भक्त हो गए? और जब महाभारत संग्राम के बीच कृष्ण एक टूटे रथ का पहिया उठाकर भीष्म का वध करने दौड़े तो कृष्ण के हाथ के पहिए को पैने बाणों से छिन्न-भिन्न करने की बजाय भीष्म हाथ जोड़ खड़े हो गए कि "हे कृष्ण, हे माधव, हे वासुदेव! अपने हाथों मेरा संहार कर मेरा उद्धार कीजिए।" (भीष्मपर्व, 59, 96-98) कारण यह है कि भीष्म और कृष्ण दोनों ही इस लक्षश्लोकी प्रबंध काव्य के बराबर महानायक तो हो गए, पर जहाँ अपनी गति और कर्म-सातत्य के कारण कृष्ण छा गए, वहाँ अपनी जड़ता और प्रतिज्ञा में बँधे विराट् व्यक्तित्व की असहायता के कारण भीष्म कृष्ण जैसा यश नहीं पा सके, कृष्ण जैसा ईश्वरत्व नहीं पा सके।

भीष्म और कृष्ण के जीवन में यह एक ऐसा अंतर है, जिसने दो महानायकों के लिए इतिहास में अलग-अलग स्थान निर्धारित कर दिया। भीष्म के जीवन की जड़ता उनके व्यक्तित्व और स्वभाव का अंग न बनती; पर अपनी युवावस्था में ही भीष्म ने खुद को जिस प्रतिज्ञा से जकड़ लिया, उसने उन्हें पंगु बना दिया और वे हस्तिनापुर के सिंहासन की रक्षा को विवश हो गए। इस प्रतिज्ञा ने उनकी कर्मशक्ति का मानो संहार कर लिया। अन्यथा जो महानायक परशुराम को द्वंद्व में पानी पिला सकता था, जो महाभारत संग्राम में रोज 10,000 सैनिक मार सकता था और जो

इस कदर अजेय था कि उसके मरने का तरीका खुद उससे पूछा गया, उसे हस्तिनापुर के सिंहासन का गुलाम बनाने का अपराध उसके पिता ने किया था। इस आरोपित गुलामी को भीष्म ने एक मर्यादा और आदर्श की तरह ताजिंदगी चलाया।

ठीक इस बिंदु पर आकर भीष्म मात खा गए कि उन्होंने सत्यवती के भावी पुत्रों के लिए की गई प्रतिज्ञा को हमेशा के लिए एक अलंघ्य मर्यादा मानकर उसे पूजना शुरू कर दिया। मर्यादा और आदर्श के प्रति इस समर्पण ने भीष्म को पंगु और जड़ बना दिया। सत्यवती के पुत्रों के लिए जो प्रतिज्ञा भीष्म ने की थी, उसे वे पांडु, धृतराष्ट्र और दुर्योधन तक खींचते रहे। क्यों? भीष्म ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा तो नहीं की थी कि वे हमेशा हस्तिनापुर के सिंहासन की रक्षा करते रहेंगे, चाहे इस पर कोई भी सम्राट् बना बैठा हो। 'महाभारत' में इस तरह की कोई प्रतिज्ञा नहीं मिलती। हमारा मानना है कि सत्यवती-शांतनु के पुत्रों के लिए राज सिंहासन की और खुद आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर देवव्रत भीष्म मन से इतने दुर्बल हो गए कि जाने-अनजाने हस्तिनापुर के सिंहासन की रक्षा को विवश हो गए। प्रतिज्ञा की इस मर्यादा से बँध जाने के बाद उनके भीतर केवल एक सिंहासन-रक्षक योद्धा का तेज तो बच रहा, पर घटनाओं का तारतम्य कर उन पर अपना निर्णय सुनाने और जन-हित या यहाँ तक कि राज्य-हित में भी उस पर अमल करवाने की नैतिक शक्ति वे खो बैठे। अन्यथा क्या कोई दूसरा कारण समझ में आता है कि क्यों जब जुआ खेला जा रहा था, भीष्म हाथ मलते बैठे रहे? और क्यों जब कुलवधू द्रौपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र किया जा रहा था तो भीष्म अपना ब्रह्मास्त्र तरकश में सुरक्षित रखे रहे? भीष्म ने जिस हस्तिनापुर की खातिर खुद को प्रतिज्ञा-मर्यादा के प्रति समर्पित कर दिया, वही हस्तिनापुर उनकी आँखों के सामने नष्ट हो गया और आदर्श की रक्षा उन्होंने इस कठिन हद तक कर डाली कि इतिहास में उनका जीवन किसी के लिए आदर्श नहीं बन सका।

इसके विपरीत, कृष्ण को देखिए। भीष्म जैसे योद्धावाली ख्याति कृष्ण को कभी नहीं मिली। प्रतिज्ञा के आदर्श-पालन का आलम तो यह है कि जहाँ भीष्म ने एक कठिनतम प्रतिज्ञा को आजीवन निभाया, वहाँ युद्ध में हथियार न उठाने की छोटी सी प्रतिज्ञा को भी कृष्ण ने महाभारत संग्राम के महज तीसरे दिन ही तोड़ने की कोशिश कर डाली। भीष्म ने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की और उसे निभाया; जबकि कृष्ण ने यहाँ-वहाँ खूब शादियाँ कीं—आठ। भीष्म ने आजीवन हस्तिनापुर की रक्षा की, जबकि कृष्ण अपनी ही नगरी मथुरा का राज्य छोड़ सुरक्षा के लिए द्वारिका पलायन कर गए। अनुशासनपर्व में भीष्म ने राजनीति-शास्त्र की जैसी

अद्‌भुत प्रस्तुति की है, वैसा कृष्ण ने जीवन में एक बार भी नहीं किया। फिर क्यों कृष्ण भगवान् हो गए, पर भीष्म केवल पितामह?

कारण यह था कि जहाँ भीष्म ने खुद को एक आदर्श के रूपहीन आकाश में बाँध लिया, वहाँ कृष्ण हमेशा यथार्थ की जमीन पर खड़े रहे। परिणाम यह हुआ कि भीष्म और कृष्ण की जीवन-शैली में एक विशिष्ट गुणात्मक अंतर आ गया। भीष्म जड़ और घटनाओं के प्रति लगभग संवेदनहीन या लाचार हो गए, जबकि कृष्ण हमेशा कर्मशील और घटनाओं के प्रति अपनी प्रभावपूर्ण प्रतिक्रिया देनेवाले बन गए। घटनाएँ भीष्म के आसपास घट रही थीं और खूब घट रही थीं; पर उनके कारणों, परिणामों या स्वरूप-निर्धारण में भीष्म का योगदान नहीं के समान रह गया। दूसरी ओर, कृष्ण घटनाओं के पास जा पहुँचते और एक बार पहुँच जाने के बाद वे हमेशा हर घटना के केंद्र में आ जाते। कृष्ण नहीं थे तो जुआ खेला गया। कृष्ण नहीं थे तो द्रौपदी का चीर-हरण हो गया। भीष्म थे, पर दुर्योधन के मन, दुःशासन के हाथ और कर्ण की वाणी को लगाम नहीं दे पाए। कृष्ण होते तो क्या द्रौपदी की ऐसी अवमानना हो पाती? युद्ध की ओर आइए। दोनों सेनाओं के बीच अपना रथ खड़ा करवाने के बाद अर्जुन का मुँह सूखने लगा, गांडीव हाथों से खिसकने लगा, शरीर काँपने लगा, पाँव लड़खड़ाने लगे और वह माथे पर हाथ रखकर सफेद घोड़ोंवाले अपने रथ के पिछवाड़े जाकर हताश होकर बैठ गया। मान लीजिए कि कृष्ण उस वक्त यह कहते कि लड़ना है तो लड़ो, नहीं लड़ना तो मत लड़ो, मेरा इससे क्या जाता है, तो क्या महाभारत संग्राम हो पाता? पर किस वक्त क्या करना चाहिए, यह सोचकर कृष्ण ने वैसा किया और चूँकि उनके फैसले स्वार्थ या परमार्थ से नहीं, बल्कि जिसे आज की भाषा में प्रोफेशनलिज्म कहते हैं, ऐसे ठोस यथार्थ से प्रेरित होते थे, इसलिए उन्होंने हर मौके पर अपने विचार मनवाए। इसी ने कृष्ण के व्यक्तित्व को भीष्म के जड़ और लाचार व्यक्तित्व की तुलना में गतिशील, असरदार और हर मौके पर निर्णायक दिशा देनेवाला बना दिया। इसलिए भीष्म इतिहास के उस विलक्षण दौर में भी इतिहास को कोई आकार या दिशा नहीं दे पाए; जबकि कृष्ण ने जैसा चाहा वैसा इतिहास बना दिया। पहले पांडवों के लिए खांडवप्रस्थ बनवाया, फिर राजसूय यज्ञ करवा दिया। ओझल हुए तो पांडव सबकुछ गँवा बैठे। फिर से कृष्ण आए तो महासमर की भूमिका बना दी। शांति-स्थापना की तेजस्वी कोशिशें कीं, धृष्टद्युम्न को सेनापति बनवा दिया, गीता सुना दी, युद्ध करवाया, खुद भीष्म से उनके वध का उपाय पुछवाकर उस पर अमल करवा दिया, युधिष्ठिर सरीखे से झूठ बुलवाकर द्रोण को मरवा दिया,

सूर्यास्त का ढोंग रचाकर जयद्रथ का वध करवा दिया, घटोत्कच को आगे कर उस पर कर्ण की शक्ति चलवाकर अर्जुन के प्राणों की रक्षा की गारंटी कर ली, संकट में फँसे कर्ण को मारने के लिए अर्जुन को उकसाया और दुर्योधन को अनीति से मरवा दिया। क्या 'महाभारत' में कोई दूसरा पात्र इतना गतिशील और यथार्थपरक नजर आता है? नहीं। भीष्म तो कतई नहीं। इसलिए दोनों के साथ इतिहास ने जिस तरह से बरता है, उसमें अन्याय नजर नहीं आता।

भीष्म ने आजीवन एक आदर्श और मर्यादा की रक्षा की, फिर क्या कारण है कि इस देश ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम राम वाली विशिष्टतम गरिमा न सही, युधिष्ठिर सरीखा धर्मराज सम्मान भी नहीं दिया? इसका कारण भी दूर नहीं है। भीष्म का आदर्श तो बहुत बड़ा और कठिन था, पर उस आदर्श का तमाम बड़प्पन और उसकी तमाम कठोरता हस्तिनापुर की सीमा नहीं लाँघती थी। पिता की प्रसन्नता की खातिर जब भीष्म ने सत्यवती के पुत्र के हक में राज्य छोड़ने की भी प्रतिज्ञा की तो उसमें मानवीय पहलू की इतनी उदारता का समावेश था कि अपने पिता के सुख के लिए पुत्र कहाँ तक बलिदान कर सकता है। पर जैसे ही भीष्म ने आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की तो उनकी यह अविवाह-मर्यादा किसी मानवीय गरिमा को अलंकृत करने के बजाय हस्तिनापुर के सिंहासन की बँधुआ बन गई। प्रतिज्ञाएँ करने के बाद भीष्म हस्तिनापुर छोड़ जाते, नई दिशाओं में नए साम्राज्य की रचना करते या विद्या के किसी एक या एकाधिक क्षेत्रों में व्यास कर्म करते तो उनकी प्रतिज्ञाएँ उनके लिए मर्यादा पुरुषोत्तम या धर्मराज बन जाने का उपकरण बन जातीं। राम ने सामाजिक और मानवीय संबंधों में आदर्श और व्यवस्था की मर्यादा बनाए रखने में जीवन होम किया, किसी राज्य की रक्षा या विस्तार के लिए नहीं। इसलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम हो गए। युधिष्ठिर की मर्यादा हमेशा धर्म अर्थात् व्यवस्था बनाए रखने की खातिर थी, जिसमें वे व्यक्तिगत बलिदान या हानि को भी झेलना अच्छा मानते थे। वे धर्मराज हो गए। पर भीष्म का आदर्श हस्तिनापुर के कूट षड्यंत्रों से मुँह फेर लेने का या लाचार दृष्टिपात का पर्यायवाची बन गया। इसलिए जहाँ राम पूजनीय और युधिष्ठिर उल्लेखनीय हो गए, वहाँ भीष्म तो बस भीष्म यानी डरावने हो गए। उन्हें राम और कृष्ण की तरह अनुयायी नहीं मिले।

हस्तिनापुर के सिंहासन के प्रति वफादार होने को लाचार बना दिए गए भीष्म के साथ सबसे बड़ी त्रासदी यह हुई कि उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान दे दिया गया। यानी उन्हें महल के षड्यंत्रों के हर पहलू को लाचार देखना तो है ही, पर मरना तब है, जब वे चाहें। इसलिए वे प्रकारांतर से हस्तिनापुर को ठीक करने की कभी

न पूरी हो सकनेवाली मृग-मरीचिका का शिकार हो गए; पर न ठीक कर पाए और न खुद प्राणांत कर सके। यह जानते हुए भी कि उनका मन दुर्योधन के साथ नहीं है, वे उसी की ओर से लड़ रहे थे और मर भी नहीं रहे थे कि कहीं मृत्यु की इच्छा को बेईमानी न मान लिया जाए। इसलिए जब पांडव उनसे उनके वध का उपाय पूछने आए (भीष्मपर्व, 107, 73-75) तो यकीनन उन्हें बड़ा सुकून मिला होगा कि अब इस लाचारी से न्यायपूर्वक और निष्कलंक तरीके से छुटकारा मिल सकता है। उन्होंने झट से तरीका बता दिया और अगले दिन रणभूमि में गिरा दिए गए। विडंबना देखिए कि शर-शय्या पर लेटकर उन्होंने युधिष्ठिर को जैसा राजधर्म समझाया, अगर वे इस ज्ञान का प्रतिज्ञा-बंधनों से मुक्त होकर सहज भाव से प्रयोग करते तो शायद भीष्मराज्य भी रामराज्य की तरह एक आदर्श बन जाता। पर जितना राजधर्म और मानवधर्म उन्होंने 'महाभारत' के अंतिम पर्वों में बताया है, उतना ही यह बताने के लिए पर्याप्त है कि कैसे एक प्रखर प्रतिभा उस समय भारत में आई थी, जिसके विचार भविष्य में लिखे जानेवाले अर्थशास्त्रों और धर्मशास्त्रों की आधारशिला बन गए। पर अपने गतिहीन और कर्महीन जीवन की वजह से वे अपने समय के मर्यादाहीन राज समाज को कोई रास्ता नहीं दिखा सके, नेतृत्व करना तो बहुत दूर की बात है। अपने संपूर्ण जीवन को हस्तिनापुर की रक्षा में खपा देनेवाले भीष्म जब सूर्य के उत्तरायण में आने की प्रतीक्षा में शर-शय्या पर लेटे थे तो इस देश का परिचय अपने युग के एक तेजस्वी ज्ञानी महापुरुष से हुआ। वैसे तो वे भीष्म भी कम तेजस्वी नहीं थे, जिन्होंने अपने पिता को दी गई अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और उससे रंच मात्र भी इधर-उधर नहीं हुए। पर यहाँ नियति ने भीष्म से वंचना यह की कि अंततः इस महापुरुष को हस्तिनापुर के एक ऐसे सिंहासन का रक्षक बनने को विवश कर दिया, जिस पर धृतराष्ट्र जैसा अनैतिक व स्वार्थी सम्राट् बैठा था और जिसका उत्तराधिकार दुर्योधन जैसे अहंकारी युवराज के नाम लिख देने के षड्यंत्र चलते रहते थे। भीष्म की कमजोरी यह रही कि वे इस नियति से संघर्ष नहीं कर पाए, बल्कि उसी नियति के दास बन गए। पर कल्पना करिए, यदि हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर युधिष्ठिर जैसा मर्यादावान् राजा बैठा होता तो कैसे भीष्म से हमारा परिचय होता? तब हमें वैसे भीष्म के पूरी महाभारत कथा में सतत दर्शन होते रहते जैसे दर्शन महाभारत के शांतिपर्व और अनुशासनपर्व में होते हैं।

इन पर्वों में प्रकट हुए भीष्म इतने महान् हैं, इतने विद्वान् हैं कि उनके इस रूप पर मुग्ध भारत देश ने उनके उस रूप को ठीक ही महत्त्वहीन मान लिया, जिस रूप में बँधे भीष्म अपनी नाक के नीचे अपने ही पड़पोतों को जुआ खेलते देख मन-

ही-मन सुलगते रहे, अपनी ही कुलवधू पांचाली का चीर-हरण अपने ही द्वारा रक्षित राज्य के राजदरबार में होते हुए टुकुर-टुकुर विवश देखते रहे और कुरुक्षेत्र की रणभूमि में उस पांडव पक्ष के विरुद्ध युद्ध करने को बाध्य कर दिए गए जिस पांडव पक्ष की विजय-कामना वे हृदय से करते थे।

जानते हैं, शर-शय्या पर पड़े ये भीष्म कैसे थे? युधिष्ठिर के राजा बन जाने के बाद एक बार जब कृष्ण युधिष्ठिर के साथ दूर रणभूमि में शर-शय्या पर सोए भीष्म से मिलने गए तो कृष्ण ने भीष्म को प्रणामपूर्वक कहा कि आपको संपूर्ण इतिहास और पुराणों का ज्ञान है ही, समग्र धर्म भी आपको पूरी तरह विदित रहता है। इतना ही नहीं, इस समाज में जो भी ऐसे प्रकरण हैं, जिन्हें लेकर मनुष्य के हृदयों में कभी कुछ संशय पैदा होता हो, हे भीष्म! आपके पास इन सब संशयों को दूर करने की प्रतिभा है। (शांतिपर्व, अध्याय 50, 36-37)

क्या इससे बढ़कर कोई प्रशंसा किसी की हो सकती है? यदि किसी को ऐसा व्यक्ति मान लिया जाए कि वह सभी तरह के संशयों को दूर करने की क्षमता रखता है तो जाहिर है कि ऐसा व्यक्ति वही हो सकता है, जो न केवल परम ज्ञानी है, बल्कि उसके ज्ञान और निष्पक्षता पर लोगों को विश्वास भी है। इसलिए उस कृष्ण ने, जो अपने युग के अग्रपूज्य मान लिये गए थे, जब युधिष्ठिर से कहा कि जाओ, शर-शय्या पर लेटे भीष्म से नीति सीखकर आओ। (शांतिपर्व, 46, 21-23) तो निश्चित ही कृष्ण युधिष्ठिर को एक ऐसे महापुरुष के पास जाने को कह रहे थे, जो विलक्षण थे और ज्ञान में जिनके जैसा दूसरा कोई उस वक्त नहीं था। और भीष्म? वे तो बस संकोच में गड़े जा रहे थे और कृष्ण की स्तुति किए जा रहे थे। पर कृष्ण ने भीष्म को प्रेरणा दी कि देहावसान से पूर्व वे अपने ज्ञान को युधिष्ठिर को बताने के माध्यम से सदा के लिए सुरक्षित कर दें, जिस ज्ञान के उनके मरने के बाद उनके साथ ही नष्ट हो जाने का खतरा है—'अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर।' (शांतिपर्व, 51.17)

'महाभारत' के शांतिपर्व और अनुशासनपर्व कृष्ण की प्रेरणा से मुखर हुए भीष्म के ज्ञान-संपन्न व्यक्तित्व से हमारा परिचय करवा देते हैं। इन पर्वों के श्लोक बेशक वेदव्यास और उनकी टीम के हैं, पर उनमें जो कहा गया है वह भीष्म का है। आज जब हमें राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रों की पूरी प्राचीन परंपरा उपलब्ध है तो कोई कह सकता है कि भीष्म की बात में नया क्या है? परंतु कल्पना करें कि महाभारत काल के दौर में इस देश में एक ऐसे महापुरुष का आगमन हुआ, जो राजनीति और धर्म का परम ज्ञाता था, इन दोनों विषयों की विचार परंपरा का जिसे

गहरा ज्ञान था और इन दोनों विद्याओं को पीड़ादायक शर-शय्या पर लेटे-लेटे ही जिसने इस कदर शास्त्रीय बनाकर भी सहज ढंग से पेश कर दिया कि उनका प्रत्येक कथन आगे चलकर इन दोनों विद्याओं पर लिखे जानेवाले शास्त्र ग्रंथों का वैसे ही आधार बन गया जैसे कृष्ण की 'गीता' भविष्य की तमाम भारतीय दार्शनिक परंपरा का आधार बन गई। भारत की सभ्यता में इतना बड़ा और इस तरह का मौलिक योगदान करनेवाले पितामह को भूल सकते हैं क्या? तभी तो वे कौरव-पांडवों ही नहीं, पूरे देश के पितामह हमेशा-हमेशा के लिए बन गए।

भीष्म के ज्ञान की रेंज भी कमाल की है। युधिष्ठिर ने पूछा तो भीष्म पितामह ने शुरुआत तो राजधर्म से की, पर युधिष्ठिर जैसा एक ऐसा अद्‌भुत जिज्ञासु उनके सामने बैठा था कि वे उपदेश देने के प्रवाह में बहते चले गए और फिर विषयों की कोई सीमा भीष्म के लिए नहीं रही। 'महाभारत' ऐसा सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जिसमें सबसे पहले राजधर्म का विशद शास्त्रीय विवेचन हमें मिलता है और भीष्म ने निरंतर पुरुषार्थ और उसके जरिए प्रजारंजन को राजा का पहला और मूलभूत कर्तव्य माना है। अर्थात् अपने शास्त्रीय प्रवचन की शुरुआत भीष्म ने यह कहकर की है कि प्रजा की सुख-सुविधा की चिंता राजा का प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। और इस दायित्व की पूर्ति वह निरंतर उद्योगशील रहकर ही कर सकता है। हालाँकि उस समय के शासक ठीक इससे उलट कर रहे थे। उसके बाद तो भीष्म ने राजनीति और समाज के बारे में जो-जो कहा, वह आगे चलकर शास्त्रकारों और नागरिकों की जुबान पर मानो हमेशा के लिए चढ़ गया। बाद के अर्थशास्त्र के लेखकों ने राजा के जो भी कर्तव्य बताए हैं, वे सभी भीष्म बता चुके हैं। राज्य का प्रबंध कैसे करना चाहिए, इसका विवेचन भीष्म ने कर दिया है। राष्ट्र की समृद्धि के लिए कर प्रणाली कैसी होनी चाहिए, यह आपको शांतिपर्व में लिखा मिल जाता है। राष्ट्र की सुरक्षा के लिए दुर्ग प्रणाली कैसी हो, इसका विशद निरूपण भी भीष्म करते हैं, जिन्होंने अठारह दिनों तक चले युद्ध के पहले दस दिनों तक, यानी शर-शय्या पर गिर जाने तक, रोज 10,000 सैनिकों का वध किया था।

जानना रोचक रहेगा कि भीष्म ने आदर्श मंत्रियों के लिए क्या मानदंड बताए हैं। कौन होने चाहिए मंत्री? वे, जो श्रेष्ठ कुल में पैदा हुए हों, विश्वासपात्र हों, स्वदेशीय हों, रिश्वत न खानेवाले हों, व्यभिचार-दोष से रहित हों, जिनकी अच्छी तरह से परीक्षा कर ली गई हो, जो अहंकार-दोष से मुक्त हों और जिनमें विनय, बुद्धि, सुंदर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धैर्य और स्थिरता जैसे गुण कूट-कूटकर भरे हों (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 83, श्लोक 19-57)। इतने

अधिक श्लोकों में मंत्रियों के गुणों की परीक्षा का विवरण भीष्म ने किया है कि उससे जाहिर है कि राज्य में सुचारु संचालन में मंत्रियों की भूमिका को वे कितना महत्त्व देते हैं।

भीष्म के कथन महत्त्वपूर्ण हैं तो कहने की शैली उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। युधिष्ठिर कई दिनों तक अविराम उनसे अपनी जिज्ञासाओं की शांति के लिए आते रहे, यह एक पहलू है। पर मजाल है कि कोई भी पाठक भीष्म के ज्ञान को पढ़ते-पढ़ते कहीं भी अटक जाए या पढ़ने से विरक्त हो जाए। भीष्म की शैली कथा-समृद्ध है। वे अपनी बातें कहानियाँ सुना-सुनाकर समझाते चलते हैं और कहानियाँ भी ऐसी हैं कि भीष्म के ज्ञान के साथ भीष्म द्वारा उद्धृत कथाएँ भी भारत के जनमानस की अविस्मरणीय विरासत बन गई हैं।

एक ओर प्रतिज्ञा की भीष्मता यानी भयानकता, एक ओर उनका विलक्षण शौर्य और एक ओर उनका अगाध अद्भुत शास्त्रीय ज्ञान—इन सबके मिले-जुले भीष्म क्या कोई सामान्य व्यक्तित्व रह सकते थे? कतई नहीं। इसलिए हमने अपनी स्मृतियों में बसे भीष्म को सिर्फ शांतनु का पुत्र भीष्म नहीं रहने दिया, सिर्फ गंगा-पुत्र भीष्म नहीं रहने दिया, बल्कि हमने उनमें देवत्व की प्रतिष्ठा कर दी है। हमने भीष्म को वसुओं में से एक, आठवाँ वसु मान लिया। वसु एक देव जाति है और इस तरह हमने भीष्म को देव जाति में बिठाकर ही संतोष प्राप्त किया। पर हमारी परंपरा यहाँ तक ही नहीं रुकी। हमने भीष्म की माँ गंगा को वही गंगा मान लिया, जो गंगोत्री से उत्पन्न होकर बंगाल के समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं और हमारे हृदयों में गंगा को जो सिंहासन प्राप्त है, उसी में हम गंगापुत्र यानी गांगेय भीष्म के प्रति इस देश की उदात्त और श्रद्धापूर्ण भावनाओं का अनुमान लगा सकते हैं। जिस पिता ने अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए अपने युवा और तेजस्वी पुत्र को आजीवन अविवाहित रहने को विवश किया, उस पुत्र की महानता का एक और ग्राफ देखिए कि कैसे एक महान् पुत्र अपने पिता को भी बड़प्पन दे देता है। भीष्म के पिता होने के कारण शांतनु को भी महान् ही होना चाहिए, इसलिए मानो हमने मान लिया कि शांतनु के हाथों के स्पर्श से ही अशांत व्यक्ति को शांति मिल जाती थी (भागवत महापुराण, 9-22.13-14)। सच में, हमारे लिए तय कर पाना मुश्किल हो रहा है कि उस समय के मर्यादाहीन राज समाज के बीच परम ज्ञानी पर संवेदनशील मौकों पर मौन रह जानेवाले भीष्म का सिंहासन कहाँ डालें?

हम अपने इस संक्षिप्त विवेचन में ही अब तक कुछ शब्दों का प्रयोग अनेक बार कर चुके हैं; मसलन—अनैतिक, मर्यादाहीन, मूल्य-विमुख वगैरह। और इन

तथा ऐसे विशेषणों का प्रयोग हमने महाभारतकालीन भारतीय समाज के लिए बार-बार दिया है और इसके लिए कारण भी बताया है कि कैसे वैभव और टेक्नोलॉजी के शिखर पर पहुँचा समाज स्वत: ही ऐसे विशेषणों की शरण-स्थली बन जाता है। हमने अब तक 'महाभारत' की अनेक घटनाओं और पात्रों के आधार पर इस कारण-परिणाम मीमांसा पर लिखा है। पर हमने उस महाघटना का सिर्फ दूसरे-दूसरे संदर्भों में ही जिक्र किया है, जो वेदव्यास के इस एक लाख श्लोकोंवाले प्रबंध काव्य की मुख्य कथावस्तु है, अर्थात् कौरवों और पांडवों के बीच अठारह दिनों तक लड़ा गया महासंग्राम; क्योंकि महाभारत का महासंग्राम ही वह केंद्रीय घटना है, जिसके चारों ओर इस प्रबंध काव्य के कथानक का ताना-बाना बुना हुआ है। और हम सब जानते हैं कि मूल्यों का जितना हनन इस युद्ध के अठारह दिनों में हुआ, मर्यादाओं की जैसी हत्या इस युद्ध में हुई और धर्म का जैसा विलोप इस भीषण संग्राम में हुआ, वैसा कहीं अन्यत्र देख पाना शायद आसान न होगा।

इस पर तुर्रा यह है कि 'महाभारत' का महासंग्राम शुरू होने की पूर्व संध्या पर दोनों पक्षों ने मिलकर युद्ध की मर्यादा बनाए रखने के लिए कुछ विधि-निषेध, कुछ 'ड्ज' और कुछ 'डोंट्स' तय किए । मसलन, दोनों पक्षों ने तय किया (भीष्मपर्व, पहला अध्याय) कि युद्ध बंद होने के बाद संध्याकाल में सब मिल-जुलकर प्रेमभाव से रहेंगे, जो लड़ने का इच्छुक होगा उसी से युद्ध किया जाएगा, जो सेना से बाहर होगा उसका वध नहीं होगा, रथी रथी से, घुड़सवार घुड़सवार से और पैदल पैदल से युद्ध करेगा, विपक्षी को सावधान करके ही उस पर प्रहार किया जाएगा, शस्त्र-विहीन को नहीं मारा जाएगा, सारथियों पर कोई प्रहार नहीं करेगा वगैरह। पर इन अठारह दिनों में शायद ही कोई दिन ऐसा बीता होगा, जब इन मर्यादाओं का हनन न किया गया हो।

कुरुक्षेत्र में अठारह अक्षौहिणी सेना मर गई, पर उल्लेखनीय मृत्यु सिर्फ पाँच लोगों की रही—भीष्म, अभिमन्यु, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन। दिलचस्प यह है कि ये पाँचों ही छल से मारे गए। बल्कि पहले चार योद्धा तो तब मारे गए जब वे निहत्थे थे; और युद्ध की मर्यादाओं में तय किया गया था कि निहत्थे को नहीं मारना। शिखंडी को सामने देखकर भीष्म ने हथियार रख दिया और अर्जुन ने उन्हें धोखे से बींधकर रख दिया। भीष्म जानते थे कि बाण शिखंडी के नहीं, अर्जुन के हैं—अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः। (भीष्मपर्व, 119.61-65) पर वे अपने आदर्श की आन पर, यानी पूर्व जन्म में स्त्री, लेकिन इस जन्म में नपुंसक बने व्यक्ति पर बाण न चलाने की अपनी प्रतिज्ञा की आन पर हथियार फेंककर खड़े रहे

और अर्जुन ने उन्हें बाणों की सेज पर लिटा दिया।

पांडव पक्ष के जिस एकमात्र उल्लेखनीय योद्धा का वध हुआ, ऐसे अभिमन्यु को तो छह-छह महारथियों ने घेरकर निहत्था करके बर्बरतापूर्वक मारा। द्रोण को भी मारने से पहले निहत्था कर दिया गया और उन्हें निहत्था करने में युधिष्ठिर ने अपने जीवन भर की सत्य पूँजी एक धीमे से बोले गए झूठ पर कुरबान कर दी। कर्ण तो निहायत नियम-विरुद्ध छल से अर्जुन द्वारा तब मार दिए गए, जब वे रणभूमि में जमीन के अंदर धँस गए अपने रथ के पहिए को निकाल रहे थे। दुर्योधन को वहाँ गदा मारी गई (जाँघों पर), जहाँ मारने का विधान गदा-युद्ध में नहीं था, बल्कि निषेध था।

अर्थात् मामला धर्म और मर्यादा का था ही नहीं। युद्ध जीतना खालिस लक्ष्य था। इसलिए हर उस योद्धा को जैसे भी हो, मार डाला जाए जिसका न मरना शत्रु को दिन के तारे दिखा सकता था। पांडवों को यह अधर्म कई बार करना पड़ा, क्योंकि कौरवों की ओर अजेय किस्म के योद्धा ज्यादा थे। अगर कोई दुर्योधन को मौके पर सुझा देता, जैसा कृष्ण ने भीम को सुझा दिया था, तो वह भी भीम को वर्जित स्थान पर गदा मारकर लिटा देता, जैसे भीम ने उसे लिटा दिया था। कर्ण का बस चलता तो वह कभी अर्जुन को छोड़ देता क्या? आखिर मौका मिलते ही गुरु कृपाचार्य के साथ मिलकर द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को, द्रौपदी के भाई और पांडव सेना के प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न को युद्ध-समाप्ति के बाद रात को सोते में मार देने का जघन्य काम कर ही दिया था। तो कैसे फैसला करें कि किस पक्ष ने धर्मयुद्ध किया।

सबसे बड़ा मर्यादा-शून्य काम तो अश्वत्थामा ने किया। इस महाभारत युद्ध में ब्रह्मास्त्र नामक सर्वाधिक विनाशक अस्त्र चलाने की क्षमता कइयों के पास थी। कृष्ण, भीष्म, द्रोण, अर्जुन इन सबको ब्रह्मास्त्र चलाना भी आता था और चलाने के बाद उसे वापस लौटा लेना भी आता था; जबकि अश्वत्थामा को चलाकर वापस लौटाना नहीं आता था। जैसे आज के परम विनाशक अणु-अस्त्र के बारे में है, वैसे ही तब के सर्वाधिक विनाशक ब्रह्मास्त्र के बारे में चलानेवाले को खुद का अनुशासन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इसलिए कृष्ण, अर्जुन, भीष्म और द्रोण ने चलाना और चलाकर वापस लेना जानते हुए भी ब्रह्मास्त्र नहीं चलाया, चलाने की सोची भी नहीं। तो ब्रह्मास्त्र चलाया किसने? अश्वत्थामा ने, जो युद्ध में कहीं भी महत्त्वपूर्ण नहीं था, पर जिसने ब्रह्मास्त्र चलाया भी कहाँ, पांडवों की पुत्रवधू उत्तरा के गर्भ पर, जिस गर्भ में अभिमन्यु की संतान परीक्षित का भ्रूण पल रहा था। ब्रह्मास्त्र

चलाने की तमाम मर्यादाओं का उल्लंघन अश्वत्थामा ने उसका सबसे घिनौना प्रयोग करके किया। फिर कृष्ण ने ब्रह्मास्त्र को निष्क्रिय कर परीक्षित को बचाया, वह अलग कहानी है।

सभी नियमों और उसूलों को तोड़नेवाले इस मर्यादा-विहीन युद्ध में 'प्रेम और युद्ध में सब जायज है' का प्रतिमान जरूर स्थापित हो गया। धर्म का मखौल सबसे ज्यादा इस तथाकथित धर्मयुद्ध में ही हुआ। जरा इस धर्मयुद्ध वाले पहलू पर थोड़ा विस्तार से बात हो जाए।

संस्कृत में एक कहावत है—यतो धर्मस्ततो जयः, जहाँ धर्म है वहाँ विजय निश्चित है। महाभारत पढ़ जाएँ तो आपको इन्हीं या ऐसे शब्दों में यह कहावत कई बार पढ़ने को मिल जाएगी। यह कथन कोई आसमान से नहीं टपका। देखने को मिल ही जाता है कि सत्य के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति जीवन में एक बार विजयी अवश्य होता है। अन्यायी को बार-बार विजयी होता देखकर भी सत्य के पथिक को एक उम्मीद सत्य के मार्ग से बाँधे रखती है कि कभी तो जीत होगी और जब होती है तो वह ऐतिहासिक मान और बना दी जाती है। उसी में से यह कहावत चल पड़ी है।

पर खुद इस कहावत से एक अन्याय भी हुआ है कि कई बार विजयी पक्ष को सत्य और धर्म का पक्ष मान लिया जाता है, क्योंकि धर्म की विजय होनी ही है। पांडवों के साथ कुछ-कुछ ऐसा ही हो गया है। चूँकि पांडव जीते और धर्म की जीत होनी ही है, इसलिए पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष मान लिया गया। तात्पर्य यह नहीं कि कौरव धर्मात्मा और पुण्यात्मा थे और पांडव नहीं। दोनों में अंतर था और बहुत था। पर पांडव इसलिए जीते कि वे सही और धर्मात्मा थे, इस बात को खुद व्यास और उनकी टीम ने भी अतिरिक्त महत्त्व कभी नहीं दिया। महाभारत परवर्ती संस्कृत साहित्य में तो पासा ही पलटा हुआ नजर आता है। एक नायक के रूप में युधिष्ठिर ने संस्कृत साहित्यकारों को कभी आकृष्ट नहीं किया। जबकि भास के एक नाटक 'ऊरुभंग' का तो नायक ही दुर्योधन है और नाटककार की सहानुभूति भी उसी के साथ है। भारवि के महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' में नायक तो अर्जुन ही है, पर काव्य में जहाँ युधिष्ठिर की अच्छी भद पिटी है, वहाँ दुर्योधन को अति लोकप्रिय और कुशल प्रशासक दिखाया गया है। भीम को नायक बनाकर नाटक लिखे गए। मसलन भास का एक नाटक है 'मध्यम व्यायोग' और भट्टनारायण का नाटक 'वेणीसंहार'। पर युधिष्ठिर का खाता संस्कृत साहित्य में नहीं खुला। क्या ऐसे विजेता पर हैरानी नहीं होती कि जिसे न तो क्लासिकल साहित्य में और न ही लोक-साहित्य में वह

स्थान मिल पाया, जो पराजित दुर्योधन को मिला?

पर जैसे पांडवों की जीत उनके पक्ष को आवश्यक रूप से धर्म का पक्ष सिद्ध नहीं करती, वैसे ही दुर्योधन को परवर्ती साहित्य में मिली सहानुभूति उसके पक्ष को बलवान् नहीं बनाती। महाभारत काल से ही इस पर बहस जारी है कि कौन सही था। यहाँ सही का एक ही मतलब है कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन का असली वारिस कौन था—दुर्योधन या युधिष्ठिर? वह दुर्योधन, जिसके पिता धृतराष्ट्र अंधे होने के कारण राज्य से पहले वंचित कर दिए गए थे, पर पांडु की मृत्यु के बाद राजा बना दिए गए, या वह युधिष्ठिर, जो राजा पांडु के और इस परिवार के ज्येष्ठ पुत्र थे? इसमें कई उपप्रश्न भी फँसे पड़े हैं। क्या असली राजा धृतराष्ट्र थे, जो नेत्रहीन होने के कारण राजा नहीं बन सके और पांडु को उनके प्रतिनिधि के रूप में राजा बनाया गया, या कि पांडु ही अभिषिक्त होने के कारण असली राजा थे, जिनका प्रतिनिधित्व बाद में धृतराष्ट्र ने किया? उपप्रश्न यह भी है कि अगर पांडु के मरने के बाद राजा बनाए जाने पर नेत्रहीनता धृतराष्ट्र के आड़े नहीं आई तो उन्हें शुरू में ही राजा बनाने के सवाल पर क्यों आड़े आई? इन प्रश्नों का उत्तर अगर मिल जाता तो फिर महाभारत का युद्ध ही क्यों होता? तो फिर यह बहस आज तक क्यों चलती रहती? महाभारत का प्रबंध—काव्यत्व इसी में है कि वह हमारे सामने सवाल तो खड़े कर देता है, पर हमें अपने उत्तरों का बँधुआ नहीं बनाता और जवाब ढूँढ़ने के लिए हम सभी को खुला छोड़ देता है।

फिर आमतौर पर युधिष्ठिर को धर्मराज और दुर्योधन को खलनायक की छवि क्यों मिली? यह तो दुर्योधन के निंदक भी मानेंगे कि वह अहंकारी बेशक था, पर मूर्ख नहीं था। हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर उसने अगर अपना दावा मरते दम तक नहीं छोड़ा तो इसका कारण सिर्फ मिथ्या अहंकार ही नहीं, कहीं-न-कहीं दावे के सही होने के प्रति पूरा यकीन भी था। महाभारत में युधिष्ठिर ने अपने दावे को कभी यकीन और तीव्रता के साथ नहीं रखा, जैसे दुर्योधन ने रखा। संस्कृत साहित्य में दुर्योधन की छवि राज्य-वंचक और युधिष्ठिर की छवि राज्य-वंचित की कभी नहीं उभरी। लोगों के बीच दोनों नायकों के प्रति राग-द्वेष का आधार वंचक-वंचित होना प्रायः नहीं रहा। अगर युधिष्ठिर राज्य के प्रति इतने ही दावेदार थे तो सत्य से कभी न डिगनेवाले इस व्यक्ति को पाँच गाँवों से संतोष की पेशकश कभी नहीं करनी चाहिए थी। (उद्योगपर्व, 72, 14-17)। यानी कुल मिलाकर मामला इतना उलझा हुआ है कि एक लंबी बहस भी आपको कहीं पहुँचाती नहीं।

इसलिए कहने का साहस नहीं होता कि दुर्योधन के पक्ष में अधर्म था और धर्म

का पलड़ा निर्णायक रूप से पांडवों की ओर झुका था। राजसिंहासन पर दावा स्पष्ट नहीं। युद्ध में सहारा छल का लिया गया। फिर क्या इसलिए पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष मान लें कि वे जीत गए और इसलिए उन्हें जीता हुआ मान लें कि वे राजा बनने के लिए बचे रह गए? सचमुच व्यास को एक बड़ा रैफरी मानना होगा। जिन्होंने ऐसा करतब भरा मैच खिलाया कि 5,000 साल बाद भी फैसला करना मुश्किल हो रहा है कि जीत-हार की परवाह किए बिना कौन धर्म मार्ग पर चला।

'महाभारत' में धर्म पांडवों के साथ था या कौरवों के साथ, इस उलझन के बावजूद इस यथार्थ को मानना होगा कि इतिहास के राजप्रासाद में पांडवों को रहने को ऊपर की मंजिल मिली है, जबकि दुर्योधन को सिर्फ एक छोटा, कोने का कमरा ही मिला है। ऐसा क्यों हुआ है? कौरवों के साथ हुए इस कथित अन्याय के कारण उनके प्रति कभी-कभी सहानुभूति से भरे हृदयों को कुछ बातें बतानी जरूरी हैं। पांडवों के पिता की मृत्यु तब हो गई, जब पाँचों भाई अभी नाबालिग थे। ऐसे बच्चों को कहानी पढ़नेवालों की ओर से करुणा का सबसे बड़ा खजाना खुद-ब-खुद मिल जाता है। पांडवों को यह खजाना मिला। उधर धृतराष्ट्र को राज्य मिला; पर मुकुट पहनते ही उसने अपनी प्राथमिकताएँ बदल लीं। उसका सारा जोर दुर्योधन को अपना वारिस बनाने पर केंद्रित हो गया और भाई के पुत्रों की उसकी ओर से वैसी देखभाल नहीं हुई। पितामह भीष्म न रहे होते तो धृतराष्ट्र पांडु-पुत्रों को तरीके से बड़ा ही नहीं होने देता। व्यास ने महाभारत में जगह-जगह पर धृतराष्ट्र के इस कलुष को उघाड़ा है। चूँकि यह सारा कलुष बरबाद करने में काम आता रहा, इसलिए इतिहास की आँखें पीड़ित, पितृहीन बालकों के लिए हमेशा अश्रुपूरित रहीं।

वारणावत के लाक्षागृह में कुंती और उनके पुत्रों को उनके किसी अपराध के बिना ही, बल्कि भरोसे का भ्रम पैदा कर, जिंदा जलाकर मार देने का षड्यंत्र रचा गया। जिंदा जला देने का षड्यंत्र ऐसा था, जिसके कलंक से धृतराष्ट्र और दुर्योधन न कभी उबर सके और न उबर सकेंगे। इतिहास की सहानुभूति को पांडवों की ओर बहा देनेवाली यह निर्णायक दुर्घटना थी। अकेला यही षड्यंत्र सिद्ध करता है कि धृतराष्ट्र कहीं-न-कहीं दुर्योधन को नहीं, युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के सिंहासन का वैध हकदार मानता था और उससे पिंड छुड़ाना उसके जीवन का एक कुत्सित प्रयोजन हमेशा के लिए बन गया। कपट भरा जुआ खेलकर पांडवों से इंद्रप्रस्थ छीनकर दुर्योधन ने अपने कलंक रूपी कफन पर हमेशा के लिए खुद ही कील गाड़ दी। दुर्योधन के कुकर्मों की चरम सीमा तब हो गई, जब उसने कुरु राजसभा में द्रौपदी को निर्वस्त्र करने की नीचतापूर्ण कोशिश की। इसे संयोग कहें या पांडवों के धर्मात्मा होने का

प्रमाण कि इस समय तक उनकी ओर से एक भी ऐसा काम नहीं हुआ, जो उन्हें खलनायक, कपटी या दुष्ट सिद्ध करता।

एक बात और। भारतीय समाज राज्य-लोलुप को कभी सम्मान नहीं देता, जबकि राजसंन्यासी को वह सिर-माथे पर बिठा लेता है। दुर्योधन लगातार राज्य सँभालने की बातें कर रहा था। पांडव नहीं कर रहे थे। सिर्फ कभी-कभार अपना पक्ष रख देते। पांडव पाँच गाँवों (की जमींदारी) से संतुष्ट हो जाने की बातें कर रहे थे, जबकि घमंड से भरे दुर्योधन ने सुई की नोंक के बराबर जमीन न देने का बड़बोलापन दिखाया। कृष्ण शांति का प्रस्ताव लेकर आए थे। दुर्योधन युद्ध के नगाड़े बजा रहा था। ऐसा पात्र कभी भी आम हिंदुस्तानी का आदर्श पुरुष नहीं बन सकता था। आदर्श पुरुष तो पांडव भी नहीं बने, भले ही कृष्ण ने अर्जुन को अपना ही रूप माना—पाण्डवानां धनंजयः। (गीता, 10.37, महाभारत, भीष्मपर्व, 34, 37) अपने समय का यह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर भी आदर्श की मूर्ति बनकर लोगों के दिलों का राजा कभी नहीं बन पाया। आदर्श पुरुष न बनकर भी पांडवों ने अपने पक्ष में सहानुभूति तो अर्जित कर ही ली थी और वैसा होने में उनके अपने पुरुषार्थ की अपेक्षा धृतराष्ट्र, दुर्योधन, शकुनि, दु:शासन के कॉकस यानी चौकड़ी के षड्यंत्र और तिरस्कार ज्यादा बड़े कारण बन गए।

पर क्या इससे पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष बन जाता है? अगर उस समय के भारत के राजाओं के वोट लिये जाएँ तो ग्यारह अक्षौहिणी सेना जुटा लेनेवाला दुर्योधन सात अक्षौहिणी सेना जुटा पानेवाले पांडवों पर विजयी होता नजर आता है। देश के ज्यादातर महान् योद्धा उस वक्त दुर्योधन के साथ थे। कंस, शिशुपाल और जरासंध का वध न हो चुका होता तो वे भी दुर्योधन के पाले में खड़े नजर आते। पांडवों को मुख्य रूप से द्रुपद का ही सहारा था। उन्हें द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न को अपना सेनापति बनाना पड़ा, इसी से जाहिर है कि उनके पास महान् वीरों का टोटा था, जबकि दुर्योधन के पक्ष में भीष्म, द्रोण जैसे अजेय योद्धा खड़े थे। पर धृतराष्ट्र के सौ पुत्र मारे गए और पांडु के पाँचों पुत्र बचे रहे, इसलिए राज्य के उत्तराधिकारियों का कोई विकल्प बचा ही नहीं था। पर क्या इसी कारण कौरवों को हारा हुआ और पांडवों को जीता हुआ मान लें?

इसलिए 'महाभारत' किसी फैसले तक हमें नहीं पहुँचाता। उसने पांडवों को महात्मा और धृतराष्ट्र-दुर्योधन को कपटी तो सिद्ध कर दिया है, पर युद्ध में विजय को लेकर उसने प्रश्नचिह्न लगा दिया है। सहानुभूति उसने जरूर पांडवों को दिलाई है, पर सहानुभूति को विजय का पर्यायवाची कैसे मान लें?

सहानुभूति चूँकि विजय का पर्यायवाची नहीं है, इसलिए विजेता पांडवों का राजपाट भी इतिहास का कोई उल्लेखनीय काल बनकर दर्ज नहीं हुआ है। युधिष्ठिर अपने समय के मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वे राम के द्वापर संस्करण थे। धर्म का उन्हें गहरा ज्ञान था और जीवन को अनुशासन और मर्यादा के दायरों में रखकर जीने की कला में वे माहिर थे। पर उनके राजपाट की शैली कोई ऐसी नहीं थी कि युधिष्ठिर-राज्य को रामराज्य जैसी कोई बड़ी मान्यता मिली हो। रामराज्य, जिसका कोई ब्लू प्रिंट भले ही हमें नहीं मिलता, छह हजार साल बाद भी, आज तक हम भारतीयों के मन में अपनी अमिट छाप के साथ बसा हुआ है। पर युधिष्ठिर-राज्य की कोई छवि हमारे मन-मस्तिष्क में नहीं है। बल्कि युधिष्ठिर के बार-बार समझाने के बावजूद भीम धृतराष्ट्र का अपमान करने से चूकता नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप धृतराष्ट्र को वन यात्रा और अंततः अग्नि प्रवेश को विवश होना पड़ा। अर्जुन के किसी उल्लेखनीय शौर्य कर्म की गाथा हमें बाद में पढ़ने को नहीं मिलती, जबकि एक-दो बड़ी पराजयों की घटनाएँ जरूर पढ़ने को मिल जाती हैं।

ये सब बातें बताने का प्रयोजन पांडवों को गरिमाहीन या श्रीहीन करना नहीं है। उद्देश्य इतना भर जताना है कि पांडवों के पास धर्म-स्थापना का कोई ऐसा लक्ष्य या विचार नहीं था कि जिसको सुंदर रंग प्रदान करने के लिए उन्हें राज्य पाना और सत्ता में आना जरूरी लग रहा हो। इतना ही नहीं, उनके कारण धर्मराज्य की स्थापना हुई हो, ऐसा भी नहीं हुआ। राज्य वैसा ही चला जैसा दुर्योधन चला रहा था। तुलना करें तो दुर्योधन शायद ज्यादा कुशल शासक के रूप में उभरकर हमारे सामने आया। जाहिर है कि महाभारत का युद्ध इसलिए लड़ा गया कि फैसला करना था कि हस्तिनापुर का असली वारिस कौन है—दुर्योधन या युधिष्ठिर। घटनाओं और कृष्ण की कुशल रणनीति ने फैसला युधिष्ठिर के पक्ष में दिया। कौरव इतिहास के खलनायक बन गए और धर्मराज युधिष्ठिर की जीत ने धर्म का काँटा पांडवों के पक्ष में झुका दिया।

इसलिए पांडवों की जीत को भी जीत न माननेवाले इतिहास और वर्तमान में कम नहीं रहे हैं। बेशक यह एक कुंठा है। पर कौरवों को भी पिछले 5,000 साल से अगर सहानुभूति की क्षीण धारा में निरंतर स्नान का अवसर मिला है तो जाहिर है कि आज तक एक सर्वसम्मत फैसला नहीं हो पाया कि अठारह दिन के महाभारत में कौन जीता और कौन हारा? अब पता नहीं खूबी किसमें है, फैसला हो जाने में या निरंतर बहस में?

□

5

वेदव्यास : धर्म की अवहेलना पर एकाकी विलाप

व्यास को हम सामान्य तौर पर महाभारतकर्ता के रूप में जानते हैं, जो ठीक ही है। पर यकीनन व्यास के बारे में इतनी जानकारी बेहद अधूरी है। लगभग आठ पीढ़ियों से जुड़े वेदव्यास की आयु कितनी लंबी रही होगी, इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। और जैसा कि हम उस वक्त लंबी आयु जीनेवाले लोगों की एक पीढ़ी को औसत 30 वर्ष का समय देकर चल सकते हैं तो व्यास की कुल आयु ढाई-तीन सौ वर्षों के बीच ही कहीं रखी जा सकती है, इससे कम नहीं। और ये आठ पीढ़ियाँ कौन सी हैं? कृपया नाम नोट कर लीजिए—शांतनु, विचित्रवीर्य, (पांडु और) धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय, शतानीक। इतनी लंबी आयु जीनेवाले वेदव्यास ने अपने जीनव का एक-एक पल सार्थक रूप से जिया।

महर्षि व्यास पराशर मुनि के पुत्र थे। हम कह चुके हैं कि एक बार सत्यवती जब उन्हें अपनी नाव में बिठाकर नदी पार करा रही थी तो सत्यवती के सौंदर्य पर मुग्ध पराशर ने उससे उस नाव में सहवास कर लिया और सत्यवती गर्भवती हो गई। व्यास का जन्म उसी गर्भ से हुआ। विचित्र बात यह है कि स्वयं सत्यवती अद्रिका नाम की अप्सरा की संतान मानी जाती है, वही अद्रिका, जिसके बारे में पहले ही चर्चा हो चुकी है। और सत्यवती-पुत्र व्यास भी आगे चलकर कभी घृताची नाम की एक अप्सरा से आकृष्ट हो गए थे और उस अप्सरा से उन्हें

शुकदेव नामक परम ज्ञानी पुत्र की प्राप्ति हुई थी। इन व्यास का जन्म आज से करीब 5,000 वर्ष पूर्व किसी वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था, पर उनके ठीक-ठीक जन्म वर्ष के विषय में विद्वानों में मतभेद कायम है। व्यास का रंग काला था, इसलिए इनका नाम कृष्ण था। पर उसी युग में कृष्ण के नाम से जब देवकीनंदन कृष्ण की एकरूपता स्थापित हो गई तो उनसे अलग दिखाने के लिए व्यास का नाम प्रसिद्ध कर दिया गया—कृष्ण द्वैपायन, अर्थात् वे कृष्ण, जो द्वीप में पैदा हुए थे। व्यास ने अपने जीवनकाल में बदरी आश्रम में घोर तपस्या की थी। यह आश्रम हिमालय में सरस्वती और अलकनंदा के संगम पर था। शायद यह आश्रम उसी स्थान पर था, जहाँ आज भारत का एक महान् तीर्थ बदरीनाथ है, आजकल जिसे अज्ञानवश हम 'बद्रीनाथ' कहते हैं। यहाँ तप करने के कारण व्यास का नाम बादरायण मुनि पड़ गया। तप का और प्रभाव जो हुआ सो हुआ, इसके कारण व्यास को दूरदृष्टि प्राप्त हो गई। महाभारत युद्ध के वक्त यही दूरदृष्टि उन्होंने धृतराष्ट्र को देनी चाही थी, पर धृतराष्ट्र डर गए तो फिर संजय को उन्होंने यह सुविधा मात्र युद्ध के समय के लिए प्रदान की। जरा सोचिए तो, एक आदमी शांतनु के समय से लेकर जनमेजय के सर्पयज्ञ के समय ही नहीं, उसके एक पीढ़ी बाद तक जीवित रहा तो क्या उसका जीवन उसके लिए भार नहीं हो गया होगा? व्यास को उनका अपना जीवन अगर भार नहीं हुआ तो उसका कारण साफ है कि उन्होंने अपने जीवन में इतने अद्भुत काम कर दिए, जो किसी एक व्यक्ति के लिए लगभग असंभव मान लिये जाएँगे। पर व्यास ने वह संभव कर दिखाया।

भाषा के साथ जिनका परिचय सामान्य से अधिक है, वे जानते हैं कि व्याकरण और भाषा-विज्ञान में एक शब्द है : समास, जिसका अर्थ है—संक्षेप। समास से उलटा एक शब्द है व्यास, और इसका अर्थ है विस्तार। विशेषणवाची बन जाने पर व्यास का अर्थ हो जाता है—वह व्यक्ति, जिसने विस्तार कर दिया हो। आज भी हमारे देश में कथावाचकों की गद्दी को व्यास-गद्दी कहते हैं, क्योंकि कथावाचक वे लोग होते हैं, जो उदाहरण और दृष्टांत देकर, कई तरह की कथाएँ-उपकथाएँ सुनाकर कथा को खूब फैला देते हैं। कृष्ण द्वैपायन का नाम अगर व्यास पड़ गया है तो सवाल है, उन्होंने किस चीज का विस्तार किया? उत्तर उनके पूरे नाम वेदव्यास में निहित है, अर्थात् उन्होंने वेदों का विस्तार किया। अर्थ यह नहीं कि उन्होंने कोई बहुत सारे मंत्र लिख दिए, बल्कि सच्चाई यह है कि उनके नाम से एक भी मंत्र हमें लिखा नहीं मिलता। उन्हें वेदव्यास इसलिए कहा जाता है कि वेदों की चार संहिताओं का यानी यजुर्वेद संहिता, ऋग्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता का

जो रूप हमें आज मिलता है, वह रूप वेदव्यास ने ही दिया है और इसलिए उनका नाम 'वेदव्यास' पड़ गया है। ऐसा भी नहीं कि इससे पहले ये चार संहिताएँ नहीं थीं, बल्कि परंपरा यह है कि इससे पहले भी समय-समय पर संहिताओं को बाकायदा ग्रंथ रूप मिलता रहा और उनमें अधिकाधिक सूक्त जुड़ते चले गए। लेकिन वेदव्यास की खूबी यह है कि उन्होंने जब चार संहिताएँ बना दीं तो इसके बाद फिर उनमें कोई फेर-बदल, घटा-बढ़ी नहीं हुई। जितना जुड़ा और जो जुड़ा वह थोड़ा सा ही था और इसे परिशिष्ट माना गया। वेदव्यास ने न केवल चार संहिताओं को अंतिम रूप से ग्रंथ का आकार दे दिया, बल्कि देश भर में उनके पठन-पाठन की एक ऐसी गुरु-शिष्य परंपरा का भी विकास कर दिया कि वेदों का अध्ययन-अध्यापन सारे देश में होने लगा। इस गुरु-शिष्य परंपरा का एक लाभ यह हुआ कि वेदों की प्रतिलिपियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी लिखी जाने लगीं और उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद किया जाने लगा। परिणामस्वरूप चारों वेदों का एक शब्द तो क्या, एक मात्रा भी इधर-उधर नहीं होने पाई। संपूर्ण मंत्र-राशि हमारे पास पूरी तौर पर अविकृत रूप में है और इसकी ज्ञान-परंपरा हमारी स्मृतियों का अमिट हिस्सा बन गई है। वेदों को इस तरह से हमेशा के लिए सुरक्षित कर देने के लिए और उसे सैकड़ों गुरु-शिष्यों की शाखाओं में फैला देने के कारण भी कृष्ण द्वैपायन का 'वेदव्यास' नाम सार्थक लगता है।

तो क्या वेदव्यास ने अठारह महापुराणों की भी रचना की थी? परंपरा शिथिल रूप से ऐसा ही मानती है। 'भागवत महापुराण' की रचना वेदव्यास ने की और उनके पुत्र शुकदेव ने उसे राजा परीक्षित को सुनाया, इन और दूसरे तर्कों के आधार पर एक यह धारणा लोगों के बीच बिठा दी गई है कि सभी अठारह महापुराणों की रचना वेदव्यास ने की थी। पर इतिहास के इस दूसरे घटनाक्रम को थोड़ा गंभीरता से विचारेंगे तो इसका तार्किक निष्कर्ष हम पा सकते हैं। ठीक-ठीक तारीख बता पाना शायद आज संभव नहीं होगा, परंतु महाभारत के करीब 1500 साल बाद नैमिषारण्य में एक बहुत बड़ा हुजूम इकट्ठा हुआ था। अगर घटनाओं के सिलसिले को उनके सही संदर्भों में समझा जाए तो शौनक मुनि ने इस विशाल हुजूम को वहाँ जुटाया था। उस समय, यानी महाभारत से करीब 1500 साल बाद जिन शौनक ऋषि ने नैमिषारण्य में इतने बड़े ऋषि-मुनि समुदाय को इकट्ठा किया, जाहिर है कि वे उसी शौनक ऋषि के उत्तराधिकारी वंशज थे, जिनका कभी मंत्र-रचना में भारी योगदान रहा था। और इन शौनक मुनि का एक ही स्थान पर इतने सारे मुनियों को इकट्ठा करने की जरूरत अनुभव हुई तो निश्चित ही कोई बहुत बड़ी विवशता देश

और समाज के सामने आ खड़ी हुई होगी। सूतजी को इस विराट् सम्मेलन में विशिष्ट अतिथि के रूप में बुलाया गया था और शौनक के नेतृत्व में सभी ऋषि-मुनियों ने उनसे खूब सवाल किए, जवाब पाए। नैमिषारण्य के इस महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक और लंबे, कई वर्षों तक चले संवाद में जो कुछ उभरा, उसी को अलग-अलग पुराणों में विस्तृत रूप में लिपिबद्ध किया गया है और उस प्रयास में नैमिषारण्य संवाद के तत्काल बाद की सदियों में उन पुराणों में काफी कुछ जोड़ा जाता रहा है। इसलिए प्रश्न यह है कि अगर उन पुराणों की रचना इस तरह से हुई तो उनका संबंध वेदव्यास से क्या है? महाभारत और भागवतपुराण में जिस शैली का, जो एक तरह से वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड की शैली पर आधारित है, सूत्रपात हुआ। सारे पुराण-उपपुराण चूँकि इस शैली पर आधारित हैं, इसलिए वेदव्यास के प्रभाव को वेदव्यास की रचना के रूप में मान लिया गया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि हमारे देश की साहित्य-परंपरा में किसी पुराण-संहिता नामक एक ग्रंथ की रचना का श्रेय वेदव्यास को दिया जाता है। चूँकि सभी पुराण किसी-न-किसी रूप में इस पुराण-संहिता से अनुप्राणित रहे होंगे, इसलिए सभी पुराणों के साथ वेदव्यास का नाम जोड़ दिया जाना अस्वाभाविक नहीं लगता।

पर जिन वेदव्यास ने चारों वेदों को अंतिम रूप में पुस्तक रूप में बाँधा, एक लाख श्लोकोंवाले 'महाभारत' प्रबंध काव्य को लिखनेवाली टीम को नेतृत्व दिया, चारों वेदों की हिफाजत के लिए गुरु-शिष्य परंपरा का प्रवर्तन किया, पुराण-संहिता के रूप में आगे लिखे जानेवाले पुराणों-उपपुराणों की रचना का बीज बो दिया, भागवत महापुराण इस देश को दिया, कुरु वंश को नष्ट न होने देने के लिए विचित्रवीर्य के देहावसान के बाद उसकी पत्नियों अंबिका और अंबालिका के साथ अपनी माँ सत्यवती के आदेश पर नियोग कर धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म होने में सहायता की, भयानक तनावों से ग्रस्त उस संकटपूर्ण युग में हमेशा धर्म और न्याय का मार्ग ही दिखाया और आजीवन आठ पीढ़ियों में फैले अपने दीर्घ व सार्थक जीवन में अनवरत सक्रियता दिखाई, उन वेदव्यास का जीवन कितनी निराशा में खत्म हुआ होगा, इसका नमूना वह श्लोक है जिसमें वेदव्यास ने अपनी भयानक व्यथा व्यक्त की है—'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे, धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।' (स्वर्गारोहणपर्व, 5.62) वेदव्यास की व्यथा है कि ''मैं बाँहें उठाकर लोगों को समझा रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए क्यों नहीं धर्म के मार्ग पर चलते? पर कोई मेरी सुनता ही नहीं।'' वेदव्यास की व्यथा हर उस जागरूक व्यक्ति की पीड़ा है, जो जानता है कि कैसे

दुनिया ठीक चल सकती है, पर जिसकी सुनी नहीं जाती।

वेदव्यास के इस एकाकी विलाप पर कुछ विस्तार से विवेचन किया जाए, इससे पहले एकाध सामान्य रुचिपूर्ण जानकारी ले लेने में कोई हर्ज नहीं। जरा 'रामायण' की ओर चलते हैं। रामायण के शुरू में चार सर्ग ऐसे हैं, जो वाल्मीकि द्वारा लिखे प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वे स्वयं वाल्मीकि के बारे में हैं और वाल्मीकि का इस अर्थ में गुणगान करते हैं कि कैसे वाल्मीकि नामक एक व्यक्ति वाल्मीकि नामक महाकवि बन गए। परंपरा के मुताबिक माना जाता है कि वे सर्ग उनके शिष्य भरद्वाज ने लिखे और क्रमशः वे चार अध्याय रामायण का और स्वयं रामकथा का भी अविभाज्य अंग बन गए। वेदव्यास के साथ भी कुछ ऐसा हुआ है। हमारे देश में परंपरागत रूप से ऐसा माना जाता है कि भार्गव और आंगिरस कुल के ब्राह्मणों ने देश-काल की जरूरत के हिसाब से रामायण, महाभारत, अठारह पुराणों और सभी उपपुराणों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी खूब जोड़-घटा कर दिया, शायद जोड़ ही ज्यादा किया और घटा कम या नहीं के बराबर किया। ऐसा ही एक जोड़ हमें 'महाभारत' के आखिरी पर्व यानी 'स्वर्गारोहणपर्व' के आखिरी अध्याय यानी पाँचवें अध्याय के रूप में मिलता है। हम इसे इस तरह का जोड़ इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि यह अध्याय सीधे-सीधे वेदव्यास पर है और इस क्रांतदर्शी महाकवि का गुणगान करता है।

पर यह संक्षिप्त सा गुणगान आज के हम हिंदुस्तानियों के लिए पढ़ना बहुत लाभदायक रहनेवाला है। वेदव्यास का नाम कृष्ण था, इसलिए उनके द्वारा रची महाभारत को कार्ष्णवेद (स्वर्गारोहणपर्व, 5.41) भी कहा गया था। शायद उच्चारण में आसान न होने के कारण यह नाम चल नहीं पाया। पर परंपरा ने 'महाभारत' को इतना ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना कि चार वेदों के बाद इसे पाँचवाँ वेद ही स्वीकार कर लिया—'भारतं पंचमो वेद:' और इस पाँचवें अध्याय में 'महाभारत' को वेद ही कहा गया है। इससे वेदों का हमारे समाज में स्थान और उस स्थान पर वेदों के साथ बैठा दिए गए इस प्रबंध काव्य का ही महत्त्व रेखांकित हो रहा है। इसी अध्याय के श्लोक 45 में और भी ध्यान देने लायक बात यह कह दी गई कि इस ग्रंथ का नाम भारत इसलिए है, क्योंकि इसमें भरत की संतानों की कथा है और भारत का ही महत्त्व, भारी महत्त्व दिखाने के कारण इस ग्रंथ का नाम 'महाभारत' है। यानी लिखनेवाला महाभारत के महत्त्व को बताना चाहता है और हर तरह से वैसा करने की कोशिश में है। फिर अगले ही दो श्लोकों में उसने एक और मजेदार बात कर दी है कि आप (तराजू में, ऐसा शब्द उसने प्रयोग नहीं किया) एक

ओर अठारह पुराण, तमाम धर्मशास्त्र, चारों वेद और उनके सहायक ग्रंथ वेदांग रख दीजिए और दूसरी ओर अकेला महाभारत प्रबंध काव्य रख दीजिए तो वजन बराबर रहेगा। वैसा तराजू वाला दृष्टांत 'महाभारत' के आदिपर्व (1.271-273) में साफ तौर पर लिखा भी मिल जाता है।

ये सब कहने के तरीके हैं और अपने कहने के हर तरीके से इस पाँचवें अध्याय का रचनाकार देश और दुनिया के सामने महाभारत का महत्त्व बताने की कोशिश कर रहा है। इस पाँचवें अध्याय के लेखक ने ये सब बातें न भी कही होतीं तो भी हम उससे सहमत होते, क्योंकि 5,000 साल पहले लिखे इस महाग्रंथ का आज भी इस देश के सवा सौ करोड़ लोगों के दिलो-दिमाग पर जो असर है और आज तक इसकी जो जगह हमारे संस्कारों में बनी हुई है (जो जगह लगातार मजबूत होती जा रही है), वह सब उन्हीं बातों का सत्यापन ही तो है, जो बातें इस अध्यायकार ने कही हैं।

किसी सामान्य कवि की रचना को यह महत्त्व नहीं मिल सकता और अगर महाभारत नामक प्रबंध काव्य को यह महत्त्व मिला है तो उसका कवि कोई क्रांतदर्शी ही होना चाहिए। तो कौन होता है क्रांतदर्शी कवि? पंचम अध्यायकार ने श्लोक संख्या 36-39 में ऐसे महाकवि की, यानी क्रांतदर्शी महाकवि की विशेषताएँ भी गिनवा दी हैं। उसने कृष्ण द्वैपायन को सत्यवादी कहा है—'कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना।' (36)। कृष्ण मुनि यानी वेदव्यास किसी एक विचारधारा की गुलामी ओढ़कर हथौड़ा उठाए नहीं घूम रहे थे। वे सत्यवादी थे। शांतनु से लेकर जिन आठ पीढ़ियों को कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने खुद देखा और जैसा देखा, उसे बिना किसी खास टीका या टिप्पणी के वैसा-का-वैसा लिख दिया। घटनाओं से ओत-प्रोत करीब 250 वर्षों के दौर का वह सब घटनाक्रम तो लिख ही दिया, जो वेदव्यास को अपने समय के लिए और आनेवाले समय के लिए लिपिबद्ध कर देना जरूरी लगा। अध्यायकार कहता है कि वेदव्यास सारी घटनाएँ जानते थे, जैसी हुई वैसी की जानते थे, धर्म और ज्ञान के संदर्भ में घटनाओं को परख सकते थे। वे अतींद्रिय यानी राग द्वेष से ऊपर थे, पवित्र हृदय थे, तपस्या से उन्हें शुभ दृष्टि मिल चुकी थी। (हस्तिनापुर राजमहल का अभिन्न अंग होने की वजह से) वे ऐश्वर्य संपन्न थे, पर सांख्य की दृष्टि, ज्ञान-संपन्न दृष्टि भी उनके पास थी। वे किसी एक विचार से प्रभावित होते ही नहीं थे। इसलिए उन्होंने महात्मा पांडवों की कीर्ति का प्रसार करनेवाले इस इतिहास ग्रंथ की रचना की (5.36-39)। इतना ही नहीं, वेदव्यास ने यह काम तीन वर्षों की सतत साधना से पूरा किया (5.48)। वेदव्यास

के जिन खास, अलभ्य और अपरिहार्य गुणों का विवरण अध्यायकार ने दिया है, वे गुण आप में हैं तो आपको क्रांतदर्शी होने से कौन रोक सकता है भला! और अगर नहीं है तो पक्षपातियों और पर-प्रेरित बुद्धिवालों के विचारों और उद्धत सिंहनादों को इतिहास व पीढ़ियाँ क्यों स्वीकार करेंगी?

अध्यायकार क्रांतदर्शी वेदव्यास के इस प्रबंध काव्य की सर्वतोमुखी विपुलता से इस कदर तृप्त है, आप्यायित है कि उसे लगता है कि दुनिया में जो है वह सब महाभारत में है और जो महाभारत में नहीं है, और कहीं भी नहीं (5.50)। किसी क्रांतदर्शी की प्रबंध रचना को इससे बड़ी विनम्रांजलि और क्या हो सकती है? वेदव्यास इस विनम्रांजलि के लायक और क्रांतदर्शी इसलिए बन पाए, क्योंकि सत्य घटनाओं के सत्य और यथावत् निरूपण में वे अपनी ओर से कोई टिप्पणी करते ही नहीं। एक लाख से भी अधिक श्लोकोंवाले उनके इस प्रबंध काव्य में उनके दिल से एक बार ही ऐसी टिप्पणी निकली है, जो टिप्पणी क्या है, वेदव्यास के हृदय का विलाप है और वह एकाकी विलाप भी स्वर्गारोहणपर्व के इसी अध्याय में लिपिबद्ध कर दिया गया है। हम वह श्लोक फिर से लिख देते हैं—'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति माम्, धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते?' (स्वर्गारोहणपर्व 5.62)। ''मैं अपनी बाँहें उठाकर लोगों को समझा रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की भी प्राप्ति होती है, इसलिए क्यों नहीं धर्म के मार्ग पर चलते? पर मेरी कोई सुनता ही नहीं।'' महाभारत काल के अर्थ और काम पर, समृद्धि और टेक्नोलॉजी पर, कमजोर मूल्यों पर और टूटती मर्यादाओं पर, आज के पश्चिम और पश्चिमोन्मुखी अपने भारत के वर्तमान के साथ इस सबकी तुलनाओं पर हम जो कुछ भी लिखते आए हैं, क्या उस तमाम का आकलन वेदव्यास के इस विलाप में नहीं हो जाता?

पर यह आकलन हम ठीक तरह से कर सकें, यह तभी हो पाएगा जब हम यह समझ पाएँ कि महाभारतकालीन समाज अपने आर्थिक वैभव और टेक्नोलॉजी की विपुलता के रथ पर सवार होकर जिस धर्म का नुकसान कर रहा था, वह धर्म है क्या?

सवाल पर बहस इसलिए जरूरी हो गई है, क्योंकि पश्चिम के, मार्क्सवाद के और इसलाम के प्रभाव के परिणामस्वरूप हमने धर्म की अपनी भारतीय अवधारणा को ही बिसार दिया है। पश्चिम, मार्क्सवाद और इसलाम—एक अजीब सा वर्गीकरण है यह। अजीब इसलिए कि इसलाम भी भारत के पश्चिम से ही भारत में आया, मार्क्सवाद का जन्म भी पश्चिम में हुआ और पश्चिम, यानी यूरोप और अमेरिका इत्यादि तो हमारे लिए पश्चिम हैं ही।

इस पूरे पश्चिम में धर्म की अवधारणा ऐसी है, जो भारत की धर्म की अवधारणा से कतई मेल नहीं खाती; पर पश्चिम और पश्चिम प्रभावित हमारे देश के पढ़े-लिखे लोगों द्वारा हम पर इस कदर थोप दी गई है कि हम 'धर्म' शब्द की अपनी अवधारणा को ही भुला बैठे हैं। इसलिए महाभारत कालीन अपने पूर्वजों के समाज में हुए धर्म के अवमूल्यन पर बात करनी है, उस अवमूल्यन का तार्किक आकलन करना है तो धर्म की अपनी परिभाषा को, धर्म के अपने स्वरूप को, यानी धर्म की भारतीय अवधारणा को तो समझना ही होगा।

पश्चिम ने हमें समझा दिया कि धर्म का अर्थ है—रिलीजन। ईसाइयत एक रिलीजन है, यानी पश्चिम के हिसाब से एक धर्म है। इसलाम एक रिलीजन है, यानी पश्चिम के हिसाब से एक धर्म है। अगर धर्म की परिभाषा, उसका स्वरूप-निर्धारण इस आधार पर होना है तो यकीनन भारत में कोई रिलीजन है ही नहीं; क्योंकि वैसा कोई धर्म भारत में है ही नहीं। अगर है तो हम जानना चाहेंगे। यकीनन।

पश्चिम को इस बात का ही अभ्यास है और है तो हमें इस पर कोई ऐतराज भला क्यों होना चाहिए, कि धर्म की स्थापना कोई एक ऐसा व्यक्ति करता है, जो ईश्वर का कोई रूप है, कि धर्म एक किसी धर्मग्रंथ के आधार पर परिभाषित रहता है और उसी के आधार पर पनपता है, फलता-फूलता है, कि उस धर्म को माननेवाले सभी एक ही प्रकार से ईश्वर की आराधना करते हैं। मसलन—ईसाइयत एक धर्म है, क्योंकि इसकी शुरुआत स्वयं को ईश्वर का पुत्र माननेवाले ईसा मसीह ने की। इस धर्म की परिभाषा और विकास का आधार एक धर्मग्रंथ है, जिसे पवित्र बाइबिल कहते हैं। जीवनयापन के नियम के लिए और इस धर्म के अनुसार ईश्वर की आराधना के लिए चर्च जाना होता है, जहाँ एक विशेष शब्दावली में ईश्वर के साथ खुद को जोड़ना होता है। जीवन, मृत्यु और मृत्यु के बाद की परिस्थिति इत्यादि का स्वरूप भी इसी धर्मग्रंथ के आदेशों के आधार पर तय होता है।

ईसाइयत का एक धर्म के रूप में बाहरी आकार-प्रकार इसी आधार पर तय होता है और जीवन और अध्यात्म की तमाम गहराइयाँ इसी स्रोत में से प्रवाहित होती हैं। यह ईसाई धर्म है। इसी प्रकार इसलाम भी एक धर्म है, जिसकी स्थापना ईश्वर के दूत मोहम्मद पैगंबर ने की। इसलाम का अपना एक धर्मग्रंथ है पवित्र कुर्आन, जिसके आधार पर इसलाम में जीवनयापन के नियम, मृत्यु, मृत्यु के बाद की परिस्थितियाँ आदि तय होती हैं। और इसलाम में आराधना की एक विशेष विधि है, जिसे नमाज कहते हैं, जो मसजिद में या कहीं भी एक विशेष शब्दावली

और एक विशेष नियम तथा प्रकार से ही हो सकती है। फिर से बताएँ कि इसलाम का एक धर्म के रूप में आकार-प्रकार इसी आधार पर तय होता है और जीवन तथा अध्यात्म की तमाम गहराइयाँ इसी स्रोत में से प्रवाहित होती हैं।

यहूदी धर्म भी कुछ इसी प्रकार का धर्म है। ये तीनों वे धर्म हैं, जिनसे पश्चिम का परिचय रहा है। अगर धर्म को इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाए, और वैसा स्वीकार करने के अलावा हमारे पास चारा भी क्या है, तो कोई सामान्य-से-सामान्य भारतीय भी कह उठेगा कि अगर धर्म यह है तो फिर हमारे यहाँ तो धर्म है ही नहीं। और अगर हमारे यहाँ धर्म है ही नहीं, यानी अगर हमारे यहाँ कभी धर्म था ही नहीं तो फिर बेचारे क्रांतदर्शी वेदव्यास को ऐसा विलाप करने की क्या जरूरत आन पड़ी, जिस विलाप को हम इस अध्याय में अब तक दो-दो बार पढ़ आए हैं?

इसलिए, जाहिर है कि कहीं-न-कहीं कोई बड़ी गलतफहमी है, जिसके कारण अर्थ का अनर्थ होने की संभावना बनती नजर आ रही है। सवाल यह है कि इस तरह अर्थ के अनर्थ की संभावना क्यों बनती नजर आ रही है? इसका जवाब इस कारण में छिपा है, जिस कारण को समझने की जितना जरूरत है, उससे ज्यादा जरूरत इस कारण को बिना किसी अहंकार के विनम्रतापूर्वक और मुकम्मल तौर पर मानने की है। कारण यह है कि जहाँ हमारे देश के बुद्धिजीवी पश्चिम, इसलाम और मार्क्सवाद के प्रभाव के परिणामस्वरूप धर्म की वही परिभाषा बना बैठे हैं, जो उन्होंने इसलाम और ईसाइयत के संदर्भों में ही जानी है, वहाँ दूसरी ओर यानी इसके ठीक विपरीत आम हिंदुस्तानी धर्म का स्वरूप वेद, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, पुराण और विशेष रूप से भारत की पूरी-की-पूरी अध्यात्म और ज्ञान की परंपरा के तहत ही जानता व समझता है और उसी को मानता भी है।

यह एक गैप है और यकीनन बहुत बड़ा गैप है। इस बहुत बड़े और अर्थ का अनर्थ कर देने की संभावना से भरपूर गैप का कारण अगर एक ही धारणा में कहा जाए तो वह यह है कि जहाँ भारत के बुद्धिजीवी का धर्म-ज्ञान पश्चिम और सिर्फ पश्चिम से प्रभावित है, वहीं आम हिंदुस्तानी का धर्म-ज्ञान भारत और सिर्फ भारत की संपूर्ण परंपरा और विरासत से प्रभावित है।

यहाँ लगे हाथ एक और सवाल भी विचार के लायक बनकर हमारे सामने उभरकर आ जाता है। सवाल यह है कि अगर भारत की समूची परंपरा और विरासत में धर्म का वह मतलब है ही नहीं, जो मतलब 'रिलीजन' शब्द के अर्थ के रूप में पश्चिम ने हम पर थोप दिया है, तो क्या भारत में कभी रिलीजन जैसी कोई चीज रही ही नहीं?

सवाल इतना पेचीदा है कि इसका जवाब सीधे-सीधे हाँ या न में देने से पहले कई बातों पर सोचना पड़ेगा। पहली बात तो यही है कि पश्चिम की शब्दावली के प्रभाव में भारत को एक धार्मिक या धर्म-प्रधान देश मान लिया गया है और इस हद तक इसे प्रचारित कर दिया गया है कि इसके बरक्स यह कहना कि भारत के लोग उस तरह के धार्मिक या धर्म-परायण नहीं हैं जिस तरह से ईसाई और इसलाम धर्म को माननेवाले हैं, कई दूसरे तरह के अर्थ के अनर्थों को जन्म दे देगा और वैसा कोई क्यों करना चाहेगा।

दूसरा पहलू यह है कि जरूरी नहीं कि विश्व के किसी एक भूभाग में वहाँ की परंपरा और विरासत के आधार पर जिस तरह की मानसिकता बनी हो, सिर्फ उसी तरह की मानसिकता विश्व के दूसरे भूभागों में भी बनी हो। इसलिए किसी एक शब्द के खास अर्थ को विश्व के सभी भूभागों पर समान रूप से लागू करने का आग्रह जितना मनुष्य-विरोधी और बेमानी है, उतना ही बेमानी यह भी है कि किसी एक ही खास शब्द के समानार्थक पर्यायवाची को विश्व के दूसरे भूभागों में भी ढूँढ़ने या होने का आग्रह किया जाए। इसलिए यह आग्रह बेमानी है कि पश्चिम को अपनी परंपरा और विश्वास की वजह से समझ में आनेवाले रिलीजन या मजहब शब्द का समानार्थक पर्यायवाची भारत में भी होने या ढूँढ़ने का आग्रह पाला ही जाए।

पर अपने सवाल के जवाब में एक और पहलू भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। और वह पहलू यह है कि अगर हमारी जिज्ञासा वास्तव में ईमानदार और वास्तव में गंभीर है कि हम भारत के संदर्भों में 'रिलीजन' या 'मजहब' शब्द का पर्यायवाची ढूँढ़ें तो इसका निकटतम कोई शब्द अगर है तो वह शब्द है 'संप्रदाय'। जिन्हें अब हम पश्चिम के असर की वजह से बौद्ध धर्म, जैन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, सिख धर्म वगैरह कहने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं और यह राजनीतिक घोषणा करते फूले नहीं समाते कि भारत अनेक धर्मों का देश है, वे सभी भारत की ज्ञान, अध्यात्म और पौराणिक परंपरा के हिसाब से बौद्ध संप्रदाय, जैन संप्रदाय, शैव संप्रदाय, वैष्णव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय, सिख संप्रदाय उसी प्रकार हैं जिस प्रकार हमारा परिचय वेदांत संप्रदाय, मीमांसा संप्रदाय, रामानुज संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय, सांख्य संप्रदाय, वैशेषिक संप्रदाय आदि से है। इसलिए भारत के संदर्भ में उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सही परिभाषा के संदर्भ में यही वक्तव्य देना उचित है कि भारत विभिन्न संप्रदायों का देश है, बजाय यह कहने के कि भारत विभिन्न धर्मों का देश है।

पर यहाँ भी एक समस्या पैदा कर दी गई है। किसी भी राष्ट्र-जीवन में राजनीति कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, बल्कि उसकी भूमिका कितनी अधिक निर्णायक होती है, यह इसी से जाहिर है कि पश्चिम-प्रेरित बुद्धिजीवियों द्वारा स्वीकार कर ली गई धर्म की गलत परिभाषा भारत की राजनीति के हाथों अपनाई जाकर भारत के व्यक्तित्व की अवधारणा से कैसा खिलवाड़ कर चुकी है। ठीक वैसे ही भारत में राजनीतिक स्वीकृति के परिणामस्वरूप 'संप्रदाय' शब्द भी, जो भारत की ज्ञान परंपरा, आध्यात्मिक परंपरा और पौराणिक परंपरा में बहुत ही सम्मानित और खास विशेषताओं का प्रतिपादक शब्द रहा है, आज एक भद्दी गाली का पर्यायवाची बन गया है। इसी भारत में जहाँ 'वेदांत-सांप्रदायिकाः इमे' (ये वेदांत सांप्रदायिक हैं), 'बौद्ध-सांप्रदायिकाः इमे' (ये बौद्ध सांप्रदायिक हैं) जैसी अभिव्यक्तियाँ पाने के लिए लोग आजीवन ज्ञान-साधना में लीन रह जाते थे, उसी भारत में 'सांप्रदायिक' शब्द कहते ही आज कैसे चेहरों पर शिकन आना शुरू हो जाती है, इस बारे में बताना जरूरी है क्या? खुद को भूल जाने, अपने व्यक्तित्व को, खुद की बनाई पहचान को खो देने पर कैसे अपने वरदान भी अभिशाप लगने लगते हैं! आज बेशक हम अपनी हालत खुद ही वैसी बनाते जा रहे हैं।

अपने समय के भारतीय समाज पर वेदव्यास की हताशा से भरे इस एकाकी विलाप का मर्म समझने के लिए हमें कितना द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ रहा है, इस पर क्या कहा जाए? परिस्थितियाँ जैसी भी हैं, हमारे सामने हैं, फिर भी जानना तो होगा ही कि धर्म की जिस दुरवस्था पर वेदव्यास सरीखा क्रांतदर्शी कवि रो रहा है ('विरौमि'), वह धर्म क्या है?

आइए, इस धर्म को समझने के लिए खुद 'महाभारत' से ही मदद ली जाए। प्रबंध काव्य महाभारत में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है, इतनी बार कि गिनने की जरूरत ही नहीं। 'धर्म' शब्द से क्या-क्या अभिप्रेत है, इसका खुलासा करने की कोशिश भी हमारे क्रांतदर्शी कवि वेदव्यास ने कई बार की है। क्यों न उन्हीं कुछ खुलासों में कुछ से मदद ली जाए? आदिपर्व (11.13) में ही व्यास ने अहिंसा को परम धर्म कहा है 'अहिंसा परमो धर्मः' और इस वाथ्य को महाभारत में कई बार दोहराया भी है। अनुशासनपर्व (5.24) में व्यासदेव कहते हैं—'अनुक्रोशो हि साधूनां महद् धर्मस्य लक्षणम्।' यानी दूसरों पर दया करना ही सबसे बड़ा धर्म है। कर्णपर्व (69.57) में कहा है कि अहिंसा ही धर्म है—'अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।' फिर अनुशासनपर्व (104.9) में अच्छे आचरण को धर्म माना है। वनपर्व (313.76) और अनुशासनपर्व (47.20) में 'आनृशंस्यं परोधर्मः' कहकर

करुणा को बड़ा धर्म कह दिया है। फिर वनपर्व (2.75) में दशलक्षण धर्म की परवर्ती शैली में अष्टविध, आठ तरह के धर्म का विवरण है—'इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः। अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥' अर्थात् धर्म आठ तरह का बताया गया है—यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, सत्य, क्षमा, दम और अलोभ यही धर्म है।

ये तो कुछ नमूने हैं। ऐसे वाक्य पूरी महाभारत में जहाँ-तहाँ खूब बिखरे पड़े हैं। जाहिर है कि इन तमाम वाक्यों के आधार पर हम धर्म की वैसी कोई परिभाषा बना ही नहीं सकते, जैसी कोई परिभाषा बना पाने में पश्चिम खुद को सफल मान रहा है और जिस परिभाषा से प्रेरित हमारे देश के बुद्धिजीवी हमें कुछ उलटा-सीधा समझा देना चाहते हैं। व्यास की धर्म की परिभाषाएँ कुछ-कुछ उस तरह की हैं जिस तरह की धर्म की परिभाषा अत्याधुनिक काल में महात्मा गांधी ने यह कहकर दी है कि 'सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है'। यानी वेदव्यास से लेकर महात्मा गांधी तक, अर्थात् भारत के संपूर्ण इतिहास में, धर्म की हमारी अपनी एक समझ रही है, जिसे हमने घुट्टी की तरह पी रखा है; पर जिसे हमारे देश के पश्चिम-प्रेरित महाब्राह्मण चाहते हैं कि हम भूल जाएँ। भला कैसे भूल जाएँ! क्या वेदव्यास को भूल जाएँ? या फिर भूल जाएँ महात्मा गांधी को? क्या हम इतने दयनीय हो गए हैं कि अपना खजाना भूलकर भीख माँगने के लिए कटोरा हाथ में लेकर निकल पड़ें?

अगर धर्म की स्पष्ट समझ (परिभाषा नहीं, समझ) हम भारतीयों को और हमारे क्रांतदर्शी पूर्वज वेदव्यास को नहीं होती तो वे स्वर्गारोहणपर्व में न तो वह विलाप करते, जिसने हमें अपने आलेख का यह अंश लिखने को विवश किया है और न ही पूरे प्रबंध काव्य में बार-बार हमें समझाते कि धर्म का पालन करने से कितना सुख मिलता है। वे कहते हैं कि धर्म की रक्षा करोगे तो वह आपकी रक्षा करेगा—धर्मो रक्षति रक्षितः (वनपर्व 30.8)। यह वाक्य देश के करोड़ों भारतीयों को याद है। आश्वमेधिकपर्व (92) में व्यास कहते हैं कि धर्म पर आचरण करने से धर्म में बढ़ोतरी होती है। वे कहते हैं—धर्म से बढ़कर फायदेमंद चीज जीवन में और क्या है? न धर्मात् परमो लाभः।

धर्म के आचरण पर जोर देनेवाले वेदव्यास धर्म के प्रति नासमझ तो हो ही नहीं सकते। धर्म की उनकी समझ खूब होगी और खूब परिपक्व भी रही होगी। पर, इसके बावजूद, व्यास साफ कह देते हैं कि धर्म क्या है, यह ठीक-ठीक बता पाना किसी के बस की बात नहीं है; क्योंकि वह अति सूक्ष्म है और इसलिए उसे जानना आसान नहीं—सूक्ष्मो धर्मो दुर्विदश्च। (कर्णपर्व, 70.28) पर इस सबके

बावजूद व्यासदेव का उसी कर्णपर्व (69.58) में भरपूर आग्रह है कि धर्म के कारण ही प्रजा खुद को बचाकर रख पाती है, इसलिए धर्म वही है, जो हमें बचे रहने में मदद करे—'धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजा:।'

इतने सारे पन्नों की बहस के बावजूद, व्यासदेव द्वारा किए गए धर्म-कथनों को उद्धृत करने के बावजूद, पश्चिम-प्रेरित भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा प्रदान की गई धर्म-व्याख्याओं के बावजूद हम वहीं-के-वहीं खड़े हैं, जहाँ हम अध्ययन के शुरू करने के पहले खड़े थे। अर्थात् वेदव्यास ने बेशक धर्म की कोई दो-टूक गणितीय परिभाषा न दी हो, पर धर्म की उनकी समझ इस हद तक मँजी हुई है कि उन्हें धर्म के स्वरूप के बारे में कोई शक है ही नहीं। इसलिए उनका विलाप इस बात को लेकर है कि यह जानने के बावजूद कि धर्म के कारण ही अर्थ और काम की, यानी धन और कामनाओं की पूर्ति होती है, इसलिए धर्म पर ही चलना चाहिए, पर कोई धर्म का आचरण करने को तैयार ही नहीं है।

इसलिए अपने अब तक के पूरे आकलन का एक बार सिंहावलोकन कर लेने में कोई नुकसान नहीं कि महाभारत कालीन हमारे पूर्वजों ने ऐसा क्या-क्या आचरण किया, जो धर्म की हमारी समझ से मेल नहीं खाता। हम खुद ही खुद से कुछ सवाल महाभारत कथा के आधार पर पूछ लेते हैं। सवाल इस तरह से है—

1. क्या पराशर मुनि का सत्यवती से बिना विवाह सहवास करना धर्म-विरुद्ध था?
2. क्या वयोवृद्ध शांतनु का एक सद्य:युवती कन्या सत्यवती से विवाह करना धर्म-विरुद्ध था?
3. क्या स्वयं वेदव्यास का घृताची से बिना विवाह किए सहवास धर्म-विरुद्ध था?
4. क्या कुंती का विवाह पूर्व संतान प्राप्त कर लेना धर्म-विरुद्ध था?
5. क्या माता सत्यवती के आग्रह पर व्यास द्वारा नियोग से अंबिका और अंबालिका से कुरु वंश के लिए संतान प्राप्त कर लेना धर्म-विरुद्ध था?
6. क्या धृतराष्ट्र का अपनी दासी से सहवास कर एक संतान प्राप्त कर लेना धर्म-विरुद्ध था?
7. क्या भीष्म का विचित्रवीर्य के लिए काशिराज की कन्याओं का हरण करना धर्म-विरुद्ध था?
8. क्या सर्वगुण-संपन्न गांधारी का अंधे धृतराष्ट्र से विवाह करवा दिया जाना धर्म-विरुद्ध था?

9. क्या वारणावत का लाक्षागृह बनवाकर उसमें कुंती और उसके पाँचों पुत्रों को जलवा देने का प्रयास धर्म-विरुद्ध था?
10. क्या द्रौपदी को पाँच पतियों की पत्नी बनाने की परिस्थितियाँ पैदा करना और उसको पाँच पुरुषों की पत्नी बनने देना धर्म-विरुद्ध था?
11. क्या इंद्रप्रस्थ नामक नया नगर बसाने के लिए विशाल खांडव वन का विनाश कर देना धर्म-विरुद्ध था?
12. क्या राजसूय यज्ञ में वैभव और शक्ति का प्रदर्शन करना धर्म-विरुद्ध था?
13. क्या इंद्रप्रस्थ के राजमहल में भीमसेन द्वारा दुर्योधन की खिल्ली उड़ाना धर्म-विरुद्ध था?
14. क्या हस्तिनापुर के राजमहल में जुआ खेला जाना धर्म-विरुद्ध था?
15. क्या युधिष्ठिर द्वारा जुए में भाइयों और पत्नी द्रौपदी को दाँव पर लगाना धर्म-विरुद्ध था?
16. क्या द्रौपदी का खुद उसी के देवरों द्वारा राजमहल के भीतर सरेआम वस्त्र-हरण करना धर्म-विरुद्ध था?
17. क्या एक बार सारा मामला रफा-दफा हो जाने के बाद फिर से जुआ खेला जाना धर्म-विरुद्ध था?
18. क्या सिंहासन पर उत्तराधिकार का फैसला करने के लिए संग्राम लड़ा जाना धर्म-विरुद्ध था?
19. क्या युद्ध में भीष्म को धोखे से मारना धर्म-विरुद्ध था?
20. क्या युद्ध में निहत्थे अभिमन्यु को घेरकर क्रूरतापूर्वक मारना धर्म-विरुद्ध था?
21. क्या द्रोण को झूठ बोलकर निहत्था कर मारना धर्म-विरुद्ध था?
22. क्या कर्ण को संकट में पड़ा होने के बावजूद मार देना धर्म-विरुद्ध था?
23. क्या पूरे युद्ध के दौरान शल्य का व्यवहार धर्म-विरुद्ध था?
24. क्या दुर्योधन की जाँघ पर गदा मारकर उसे मार देना धर्म-विरुद्ध था?
25. क्या अश्वत्थामा द्वारा पांडवों के सेनापतियों को, जिनमें द्रौपदी के पाँचों पुत्र और भाई धृष्टद्युम्न भी शामिल थे, रात को नींद की मदहोशी में मार देना धर्म-विरुद्ध था?
26. क्या अश्वत्थामा द्वारा अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र चलाना धर्म-विरुद्ध था?
27. क्या भीम द्वारा अपने घर में रह रहे धृतराष्ट्र और गांधारी के साथ अपमानजनक

व्यवहार करना धर्म-विरुद्ध था?

ये वे कुछ सवाल हैं, जो हम हिंदुस्तानियों को इस कदर याद हैं कि हम उन्हें भूल ही नहीं पा रहे, 5,000 साल के बाद भी नहीं भूल पा रहे। ये तो वे कुछ सवाल हैं, जो हमने अपने इस आलेख के विषय-विन्यास में से ले लिये हैं। अन्यथा एक लाख श्लोकोंवाला 'महाभारत' प्रबंध काव्य पढ़ेंगे तो ऐसे कई, कई सवाल आपको हर पर्व और हर अध्याय में मिल जाएँगे। महाभारत काल था ही ऐसा तनावों से भरा समय कि तब के हमारे पूर्वज इस तरह का व्यवहार कर रहे थे कि जिस पर सवाल-दर-सवाल खड़े हो सकते हैं।

तो क्या है जवाब हम भारतवासियों का? उन भारतवासियों का, जो आज तक धर्म की पश्चिम के जैसी कोई दो-टूक परिभाषा नहीं बना पाए, पर जिनकी धर्म की समझ पर शक करना सूरज को दीया दिखाना जैसा होगा? तो क्या है जवाब उन भारतवासियों का, जो अपने देश के पश्चिम-प्रेरित बुद्धिजीवियों द्वारा दी गई धर्म और संप्रदाय की मान्यताओं को आज तक अपने गले नहीं उतार पाए? तो क्या है जवाब?

जाहिर है कि हम भारतवासियों का जवाब आज भी वही है, जो 5,000 साल पहले वेदव्यास का था और इन पूरे 5,000 सालों में वैसा ही बना रहा है। जवाब है कि हाँ, ये सारे काम धर्म-विरुद्ध थे। ये सारे काम किस धर्म-परिभाषा के आधार पर धर्म-विरुद्ध थे, यह सफाई दे पाना हम सभी के लिए न कभी संभव था, न संभव है और शायद आगे भी संभव न रहे, बशर्ते कि भारत के बौद्धिक पश्चिमीकरण की बेतहाशा कोशिशें असफल रहीं (और भारत के व्यक्तित्व की गहराई को देखकर लगता यही है कि वे असफल ही रहने वाली हैं)। परिभाषा की बात छोड़ दें, हमारे लिए फिलहाल यह बता पाना आसान नहीं कि हम करोड़ों-करोड़ों भारतवासी अपनी किस धर्म-समझ के आधार पर इन सभी कामों को धर्म-विरुद्ध करार देते रहे हैं और आज भी करार दे रहे हैं? अर्थात् क्या है हमारी धर्म की समझ? धर्म की परिभाषा पर न सही, पर धर्म की समझ पर तो बात हो सकती है? लगता यही है कि इस समझ पर भी हम फिलहाल कुछ कह पाने की स्थिति में पूरी तरह नहीं हैं। आगे किसी और पुस्तक-निबंध के जरिए वैसा कर पाना संभव हुआ तो वैसी कोशिश जरूर की जाएगी।

वेदव्यास का जवाब भी इन सवालों को लेकर यही था कि ये सारे काम धर्म-विरुद्ध थे। इतना भर ही नहीं। हम तो महाभारत काल के 5,000 साल बाद वैसा कह रहे हैं, तब जबकि ये तमाम घटनाएँ हमारे आस-पास नहीं घट रहीं (बेशक

तत्सम घटनाएँ हमारे आसपास हरदम घटती ही रहती हैं), पर वेदव्यास की व्यथा कैसी रही होगी? और वेदव्यास भी कैसे? क्रांतदर्शी प्रबंध कवि की महती संवेदनशील विवेक-बुद्धि से भरपूर? और ऐसे कमल-कोमल महाकवि के आसपास ये तमाम घटनाएँ घट रही हैं, बल्कि सारा-का-सारा समाज ऐसे ही वातावरण से सराबोर है और वे न केवल उस समाज का हिस्सा हैं, बल्कि महाभारत के तमाम घटनाचक्र का एक पात्र भी हैं। और वे बेबस हैं, कुछ कर नहीं सकते, इसीलिए उनका यह विलाप है कि 'मैं बाँहें उठाकर लोगों को समझा रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए क्यों नहीं धर्म के मार्ग पर चलते? पर कोई मेरी सुनता ही नहीं।'

कितनी मशक्कत करनी पड़ी है हमें वेदव्यास के इस एकाकी विलाप के संदर्भ को समझने में। आखिर विलाप किसका है? एक क्रांतदर्शी महाकवि का। विलाप किस पर है? अपने समय के अधर्मी समाज पर। और यह विलाप क्यों? ताकि मनुष्य अर्थ और काम प्राप्त कर सुंदर जीवन बिता सके। पर कोई सुनता ही नहीं। क्यों सुनाना चाहते हैं वेदव्यास! क्या पड़ी है उन्हें सुनाने की? वे चाहते क्या हैं? इस प्रश्न कथा पर लिखने से पहले हम उन कुछ स्थितियों पर विचार कर लेते हैं, जो धर्म की महाभारत कालीन समझ के संदर्भ में जान लेनी चाहिए।

दुनिया में, किसी भी युग में और किसी भी देश में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो यह मानता हो कि जुआ खेलना धर्मसम्मत गतिविधि है। पर महाभारत युग इसका एक छोटा सा अपवाद पेश करता है, जब महाराज धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को जुआ खेलने का निमंत्रण दिया और युधिष्ठिर ने उसे धर्म मानकर स्वीकार किया और जुआ खेला। इस प्रसंग के संदर्भ में हम इस अध्याय के अंत में और भी लिखने वाले हैं। बोले जाने पर जुआ खेलना धर्म है और जुआ खेलनेवाले युधिष्ठिर थे, जिन्हें वेदव्यास ने धर्मराज माना है। कितना कठिन रहे होंगे हमारे महाभारत कालीन पूर्वजों के मूल्य-मानक?

यही कठिनाई हमारे द्वारा उठाए गए उन पहले पाँच-सात प्रश्नों के संदर्भ में भी आती है; जिनमें स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर कुछ कहा गया है। उन तमाम प्रश्नों का उत्तर है कि हाँ, ये सभी काम धर्म-विरुद्ध हैं; पर, उसके बावजूद, सत्यवती और कुंती को महाभारत कालीन समाज में राजमहिषी का सम्मान मिला और वे दुराचारिणी कतई नहीं मानी गईं, न आज तक भी मानी जाती हैं। धर्म के विलोप पर विलाप करनेवाले वेदव्यास ने स्वयं घृताची नामक अप्सरा से बिना विवाह के शुकदेव जैसे परम आध्यात्मिक पुत्र को प्राप्त किया। महाराज पांडु ने भी

स्वयं संतान-प्राप्ति में असमर्थ होने के कारण अपनी पत्नियों कुंती और माद्री को प्रणीत पुत्रों को पाने की प्रेरणा दी। इससे पहले व्यासदेव अपनी माँ सत्यवती की आज्ञा से अंबिका और अंबालिका के साथ नियोग विधि से पांडु और धृतराष्ट्र (तथा विदुर) को जन्म देने में सहायता कर चुके थे। आज के हिसाब से यह सब अधर्म माना जाएगा, पर तब इसे धर्मसम्मत मानकर ही इस पर आचरण किया गया था।

क्या यही निष्कर्ष सामने नहीं आया कि भारत में धर्म उसे माना गया जिसे संपूर्ण समाज ने जीवन और समाज के सुचारु चलते रहने के लिए मान्यता दे दी? कितना गहरा फर्क है पश्चिम के धर्म यानी 'रिलीजन' और भारत के धर्म यानी सामाजिक मर्यादा में? इस संदर्भ में आँकेंगे तो हमें पुत्रधर्म, पिताधर्म, पतिधर्म, पत्नीधर्म, देशधर्म, मनुष्यधर्म, पड़ोसीधर्म और इस तरह के हर धर्म का अर्थ समझ में आने लगेगा। इसी दृष्टि से देखेंगे तो धर्म, मर्यादा और सदाचार के तमाम मानदंडों क़ो तोड़ने में मजा लेनेवाले महाभारत काल के उस तनाव भरे और मर्यादाहीन समाज में महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज कहलाया जाना सटीक और अर्थपूर्ण नजर आएगा। महाभारत काल के धर्महीन, मर्यादा-विमुख, अहंकार से परिपूर्ण, स्वार्थी और तनावग्रस्त पात्र समूह के बीच में विदुर के अलावा कृष्ण और युधिष्ठिर ही ऐसे पात्र नजर आते हैं, जो विलक्षण हैं और समाज को उस आदर्श की प्राप्ति करवाने में सक्षम नजर आते हैं जिन आदर्शों के अभाव पर वेदव्यास विलाप करते दिखाए गए हैं। कृष्ण विलक्षणतम व्यक्ति हैं, जो महाभारत की फलश्रुति हैं और जिन पर एक अध्याय अलग से लिखा जा रहा है। पर युधिष्ठिर को वेदव्यास ने अगर धर्मराज कहा है तो जाहिर है कि जिस धर्म की हानि पर वे विलाप कर रहे हैं, अगर वह हानि न हो और मनुष्य धर्म पर चले तो वह कैसा हो सकता है, इस प्रश्न के उत्तर के रूप में ही उन्होंने मानो युधिष्ठिर को धर्मराज के रूप में पेश कर दिया है। युधिष्ठिर मानो त्रेतायुग के राम की तरह द्वापर युग के मर्यादा पुरुषोत्तम सरीखे बनाकर हमारे सामने कवि द्वारा पेश कर दिए गए हैं।

युधिष्ठिर का जैसा व्यक्तित्व है, उसे देखते हुए उन्हें उनके पूर्ववर्ती अयोध्या-नरेश ऋषभदेव और उनके परवर्ती मिथिला-नरेश महावशी जनक के वर्ग में रखने का लालच किसी भी भारतवासी को हो सकता है। इस देश में राजा-महाराजाओं को वैसा महत्त्व कभी नहीं मिल पाया जैसा महत्त्व विचारकों और तत्त्व-चिंतकों को प्राप्त हुआ है। सिर्फ उन्हीं राजाओं को दूसरे राजाओं की तुलना में अधिक महत्त्व मिला है, जो शासक होने के साथ-साथ विचारक और तत्त्व-चिंतक भी रहे हैं। दुर्योधन में बेशक अनेक नायकोचित गुण रहे हों, बेशक दुर्योधन की कुटिलताओं

और मूर्खताओं ने उन नायकोचित गुणों पर अपयश और जनापवाद की मोटी परत चढ़ा दी हो, पर दुर्योधन की ऐतिहासिक हीनता का वास्तविक कारण यह है कि उनके सामने एक ऐसा भाई खड़ा है, जो बाहुबल में शायद तो क्या, निश्चित ही कम पड़ता होगा, पर जो विचारबल और तत्त्वार्थ विवेचन में कहीं ज्यादा भारी पड़ता है और दुर्योधन को मीलों पीछे छोड़ देता है। दुर्योधन की तुलना यदि भीम से होती या अर्जुन से होती तो इतिहास के राजप्रासाद में उन्हें शायद बराबरी का, थोड़ा ऊपर-नीचे एक कक्ष मिल जाता; पर तुलना चूँकि युधिष्ठिर से है, राजा चूँकि दुर्योधन या युधिष्ठिर में से एक को बनना है, इसलिए दुर्योधन का हीन नजर आना अनिवार्य है। दुर्योधन अगर महाभारत संग्राम जीत भी जाता तो भी वह पराजित युधिष्ठिर की कीर्ति का सामना नहीं कर पाता।

इसलिए कई बार उस युधिष्ठिर से सहानुभूति होने लगती है, जब हम इस व्यक्ति को उन कसौटियों पर कसा जा रहा देखते हैं, जो कसौटियाँ सामान्य बुद्धि और सामान्य जीवन-दृष्टिवाले लोगों के लिए तो ठीक हो सकती हैं, युधिष्ठिर जैसे धर्मतत्त्वज्ञों के लिए नहीं। मसलन इतिहास बार-बार सवाल पूछता रहेगा कि क्यों युधिष्ठिर ने जुआ खेला? इसके उत्तर में हम हर बार युधिष्ठिर को दोषी पाएँगे, यदि हम दो बातें नहीं समझेंगे। पहली बार युधिष्ठिर इसलिए जुआ खेलने आए, क्योंकि उन्हें वैसा करने को आमंत्रित किया गया था। उस समय की परंपरा के अनुसार ऐसे आमंत्रण को ठुकराना अधर्म था और युधिष्ठिर अधर्म नहीं कर सकते थे—आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्। (सभापर्व, 59.18), अर्थात् ''बुलाए जाने पर मैं पीछे नहीं रहूँगा, यह मेरा निश्चित व्रत है।'' दूसरी बार जुआ खेलने की आज्ञा पिता समान धृतराष्ट्र की थी, जिसे न मानना अधर्म था और युधिष्ठिर अधर्म नहीं कर सकते थे—अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च। जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ (सभापर्व, 76.4), अर्थात् ''यह जानते हुए भी कि जुआ विनाशकारी है, मैं स्थविर राजा के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता।'' अगर युधिष्ठिर से या किसी से भी अन्याय नहीं करना तो हम किसी के चरित्र का आकलन उस युग के मूल्यों और मर्यादाओं के संदर्भ में ही कर सकते हैं, किसी दूसरे युग के नहीं। ठीक इसी आधार पर क्या ऐसे धर्मराज युधिष्ठिर के लिए यह संभव था कि वे जुआ हारने के बाद बारह साल के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की शर्त तोड़कर तथा सेना लेकर हस्तिनापुर पर हमला बोल देते और राज्य छीन लेते? चूँकि संभव नहीं था, इसलिए देखकर लगभग दया आती है कि अपनी जिस पत्नी और अपने जिन चार भाइयों के साथ वे जीवन जीने को बाध्य थे, युधिष्ठिर उनसे कहीं अलग और कहीं बड़े थे।

द्वैतवन में जब पांडव लोग बारह साल का वनवास पूरा कर रहे थे तो पहले द्रौपदी ने और फिर भीम ने युधिष्ठिर को खूब हड़काया और दुर्योधन पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। पर धर्म का तत्त्व उसके गहनतम रूप में जाननेवाले महाराज युधिष्ठिर ने एक नहीं सुनी, उन दोनों को धर्म के मार्ग पर चलने की सलाह दी और उस वक्त का धर्म यह था कि जिस शर्त पर आप जुआ खेले, बेशक हार गए, अब उस शर्त का पूरी तरह पालन होना ही चाहिए।

इसलिए महाभारत के माहौल में युधिष्ठिर का चरित्र और स्वभाव सभी से एकदम अलग और विलक्षण नजर आता है। बार-बार बताने पर भी कोई हर्ज नहीं कि महाभारत के उस काल में माहौल भयानक तनाव से भरा हुआ था, जहाँ हर कोई कसमें उठा रहा था और प्रतिज्ञाएँ कर रहा था। सभी ने जीवन को क्षुद्र संकल्पों से जोड़ दिया था। द्रौपदी के बाल खुले थे, जिन्हें दु:शासन की छाती के रक्त से स्नान होने तक खुले ही रहना था। भीम के जीवन के दो ही लक्ष्य थे—दु:शासन की छाती का खून पीना और दुर्योधन की जाँघ तोड़ना। अर्जुन के जीवन का लक्ष्य था—सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी के रूप में स्थापित होना और जो कोई भी उसके गांडीव की निंदा करे तो उसके प्राण तुरंत ले लेना। दुर्योधन आदि के अहंकार की तो खैर सीमा ही नहीं थी। धृतराष्ट्र का जीवन बेटे को मुकुट पहनाने के मोह में बँधा था। द्रोण को द्रुपद का तो धृष्टद्युम्न को द्रोण का वध कर जीवन धन्य बनाना था। भीष्म बेचारे हस्तिनापुर बचाने के कठिन, निर्जीव संकल्प में बँधे थे। तनावों और क्षुद्रताओं के माहौल में जरा युधिष्ठिर को तो देखिए। कोई तनाव नहीं, इसलिए कोई संकल्प-विकल्प भी नहीं। संकटों के झंझावात में भी सही क्या है, इसका विचार कर उस पर आचरण करनेवाले युधिष्ठिर कैसे रहे होंगे? दो उदाहरण देखें।

पांडव लोग वनवास के दौरान द्वैतवन में रह रहे थे। युवराज दुर्योधन की इच्छा इन्हें चिढ़ाने की हुई। पूरे ताम-झाम के साथ वे घोषयात्रा पर निकल पड़े। मन में था कि अगर अकेले पड़ चुके पांडवों का वध भी लगे हाथ हो जाए तो घोषयात्रा की सफलता में चार चाँद लग जाएँ। अपने अहंकारवश वे चित्रसेन गंधर्व से भिड़ गए और बंदी बना लिये गए। दुर्योधन के सेवक हाँफते हुए पांडवों के पास आए और सारा किस्सा कह सुनाया। भीम खुश थे कि अच्छे फँसे बच्चू, अब पता चलेगा। पर युधिष्ठिर? उनकी सोच सबसे अलग। कहने लगे कि बेशक सौ कौरव और पाँच पांडव घर में अलग-अलग हों, पर घर से बाहर दोनों मिलकर एक सौ पाँच हैं—'वयं पंचोत्तर शतम्।' (वनपर्व, 243.3क) यह कहकर भीम को भेजा और दुर्योधन को ससम्मान छुड़वाया।

दूसरा उदाहरण। यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की घटना हम सबको पता है। युधिष्ठिर के उत्तरों से प्रसन्न होकर जब यक्ष ने कहा कि वे अपने चार मरे हुए भाइयों में से किसी एक का जीवन माँग लें तो युधिष्ठिर के धर्म-तत्त्वज्ञान का श्रेष्ठतम उदाहरण हमारे सामने आ प्रकट होता है। युधिष्ठिर भीम या अर्जुन का जीवन नहीं माँगते। वे नकुल का जीवन माँगते हैं और इसके लिए उनके पास एक अकाट्य तर्क है। तर्क यह है कि उनके पिता की दो पत्नियाँ थीं—कुंती और माद्री। युधिष्ठिर चाहते हैं कि उनकी दोनों माताओं के पुत्र जीवित रहें। कुंती के पुत्र के रूप में वह स्वयं जीवित हैं। माद्री के पुत्र के रूप में उन्होंने नकुल का जीवनदान चाह लिया—'यथा कुंती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयो:। मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥' (वनपर्व, 313.132)। यह अलग बात है कि इस बात से प्रसन्न होकर यक्ष ने युधिष्ठिर के चारों भाइयों को जीवनदान दे दिया।

'महाभारत' में युधिष्ठिर को हम किसी बड़े दर्शनवेत्ता के रूप में नहीं देखते। वे न तो अपने से कई पीढ़ी पहले के महाराज ऋषभदेव के समान सत्य के अनेकांतवादी रूप की व्याख्या कर रहे हैं और न ही अपने बाद आनेवाले महाराज महावशी जनक की तरह (ये सीता के पिता वाले जनक नहीं हैं) किसी वैराग्य भाव को दिखा रहे हैं कि अगर मेरी राजधानी में आग लगी है तो मुझे इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। युधिष्ठिर बाकायदा सांसारिक जीवन जी रहे हैं; पर उनका जीवन धर्म और मर्यादा की कसौटियों पर जिया जा रहा है, किसी लाभ या हानि के लिए नहीं। वे कृष्ण की तरह कर्तव्य-अकर्तव्य का पूरा विवेक करके ही कोई फैसला करते हैं। पर कृष्ण और युधिष्ठिर के कर्तव्याकर्तव्य विवेक में एक मौलिक अंतर है। कृष्ण का विवेक धर्म की परमस्थापना के लिए वांछित उस समय की व्यावहारिक जरूरतों से तय होता है, जिस समय किसी वस्तु या व्यक्ति के बारे में कोई फैसला लिया जा रहा होता है। इसके विपरीत, युधिष्ठिर का कर्तव्याकर्तव्य विवेक धर्म पर आधारित है। अब तक हमें जाहिर ही हो चुका है कि धर्म का अर्थ रिलीजन या मजहब नहीं, बल्कि धर्म वह मर्यादा है, जिस पर सामाजिक मान्यताएँ और जीवन की उदात्तता टिकी होती है। युधिष्ठिर का कर्तव्याकर्तव्य विवेक मर्यादाओं को कभी लाँघता नहीं। इसलिए युधिष्ठिर सबकुछ हारने का खतरा उठाकर भी जुआ खेलते हैं, क्योंकि वैसा करना पिता समान धृतराष्ट्र की आज्ञा है और पिता की आज्ञा का पालन करना धर्म है। जबकि कृष्ण साफ कहते हैं कि अगर वे तब हस्तिनापुर में होते तो जुआ कभी नहीं होने देते (वनपर्व, अध्याय 13.2)। व्यवहार और मर्यादा में फर्क का नमूना इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

इसलिए कृष्ण के जैसा अपने समय का सर्वप्रिय व्यक्ति पाकर भी युधिष्ठिर कृष्ण के नहीं, राम के पाले में खड़े नजर आते हैं। कृष्ण योगेश्वर हैं, पर राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। राम की ही परंपरा में युधिष्ठिर धर्मराज हैं। मर्यादा और धर्म चूँकि एक स्तर पर आकर पर्यायवाची बन जाते हैं, इसलिए राम और युधिष्ठिर भी एक ही वर्ग के दो महापुरुष नजर आते हैं। बस, विडंबना इतनी भर है कि मर्यादा के साथ-साथ व्यावहारिकता को धर्म मानकर उसी को फैसलों का आधार बनानेवाले कृष्ण सरीखे महानायक प्रखर तेजस्वी बनकर उभर आते हैं तो मर्यादा की कसौटी पर ही सौ टंच खरा उतरने के इच्छुक महापुरुषों को वैसी प्रखरता नहीं मिल पाती। पर चूँकि प्रखरता कोई एकमात्र काम्य वस्तु नहीं है, इसलिए व्यावहारिकता के बजाय मर्यादा के मानदंड कायम करनेवालों की भी पूजा इस देश ने कम नहीं की है। युधिष्ठिर का अर्थ यही है कि तनावों के झंझावात में भी क्यों न धर्म और मर्यादा के सहारे एक संतुलित जीवन जिया जाए? शायद वेदव्यास के धर्मलोप संबंधी एकाकी विलाप का कारण भी यही नजर आता है कि वे हर मनुष्य में युधिष्ठिर की तसवीर देखना चाहते थे। पर इस पूरे झंझावाती युग में उन्हें अकेले युधिष्ठिर ही ऐसे नजर आए, जो उनके मानदंडों पर खरा उतर पा रहे थे। इसीलिए वेदव्यास ने उन्हें धर्मराज बनाया तो सारा भारत आज तक उन्हें वैसा ही मानता चला आ रहा है।

सदियों बाद जब भारत ने तत्त्वज्ञान आधारित जीवन-दर्शन को केंद्र में रखकर जीवन के लक्ष्यों व प्राप्तव्यों को लेकर व्यवस्थित चिंतन शुरू किया, जो फिर सदियों तक चलता रहा, उस दौर में धर्म की महाभारत कालीन सोच में विशिष्ट विकास आया। तब से धर्म का संबंध जीवन के उदात्त आध्यात्मिक लक्ष्यों से जुड़ गया। पर मर्यादित जीवन का मौलिक स्वरूप तब भी धर्म चिंतन की आधार शिला बना ही रहा। इस पर शीघ्र ही अपने अगले एक आलेख में हम लिखने ही वाले हैं। □

अर्थस्य पुरुषो दासः

अपने इस आलेख के अब तक के संपूर्ण कथन-उपकथन, घटना-उपघटना के विवरण और तर्क-प्रतितर्क की प्रस्तुति से हम अपनी इस अवधारणा को आश्वस्ति-भाव से रेखांकित कर सकते हैं कि किसी भी समाज में जब-जब आर्थिक और टेक्नोलॉजी प्रगति अपनी ऊँचाई पर होती है, वित्त और तकनीकी का वैभव अपने शिखर पर होता है, समृद्धि और टेक्नोलॉजी-जनित महारतें अपनी पूरी छटा में होती हैं, ऐसे समाज में सामाजिक और मानवीय मूल्यों में हर प्रकार की व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामूहिक मर्यादाओं में ह्रास आ जाता है।

विचित्र बात यह है कि अर्थ और टेक्नोलॉजी से समुन्नत ऐसे समाज में स्त्री के अधिकार, स्त्री की स्वतंत्रता जिस अनुपात में सकारात्मक उठान लेती है, उसे सह पाने में असमर्थ पुरुष समाज का अहं स्त्री को अधिकाधिक प्रताड़ित करने व उपभोग के लायक एक वस्तु मात्र बनाकर रख देने का प्रयास भी उसी समाज में करता है।

आज का पश्चिम, खासकर अमेरिका, वैसा बन चुका है और ठीक इसी तरह की परिस्थितियों के परिणामों को झेलकर त्राहिमाम् करना भी शुरू हो चुका है। अपने देश ने अभी इस तरह की उन्नति की राह पर अभी चलना शुरू भर किया है और उसी अनुपात में उसके परिणामों की तपिश को उसने अभी से अनुभव करना भी शुरू कर दिया है।

तो, मर्यादाहीनता आ जाएगी, मूल्यों का ह्रास हो जाएगा, समाज में मनुष्य का, खासकर स्त्री का उत्पीड़न शुरू हो जाएगा तो क्या इन संभावित कुपरिणामों के

डर के मारे हम अर्थ और टेक्नोलॉजी की उन्नति की राह पर चलें ही नहीं? हमेशा आदिम, असभ्य और जाहिल बने रहें? वेदव्यास ऐसा नहीं मानते। कोई भी क्रांतदर्शी कवि, विचारक ऐसा मानेगा भी नहीं। तो क्यों आती है अर्थ और टेक्नोलॉजी में उन्नति के साथ ऐसी गिरावट? ऐसा क्या करें कि आर्थिक वैभव भी हो, टेक्नोलॉजी का सतत विकास भी हो और समाज अपने मूल्यों, मान्यताओं व मर्यादाओं को भी बनाए रख सके? ऐसा क्या किया जाए कि वैभव भी हो, पर साथ-ही-साथ मर्यादाएँ, सात्त्विकताएँ, स्त्री का सम्मान और सामाजिक गरिमाएँ भी बनी रहें? अगर वे दोनों परिस्थितियाँ अर्थात् वैभव और मूल्यहीनता, एक दूसरे का कारण-परिणाम होते हुए भी सामाजिक अनुशासन में आ सकती हों तो क्या उपाय है कि सर्वविध वैभव भी हो और सर्वविध सात्त्विकता भी बदस्तूर बनी रहे? क्या ऐसा हो पाना संभव है?

जितना हम वेदव्यास को समझ पाए हैं, हमें लगता है कि महाभारतकार का मानना है कि ऐसा हो सकता है। ऐसा हो सकता है कि समृद्धि भी हो और सात्त्विकता भी हो, विकास भी हो और मर्यादाएँ भी हों, स्त्री अधिकार-संपन्न भी हो और उसे सम्मानपूर्ण तथा भयमुक्त जीवनयापन का सहज वातावरण भी मिले। महाकवि उपदेशक नहीं होता। वह सुझाव नहीं देता। आदेश तो नहीं ही देता। वह संदेश देता है, वह भी अपनी सहज व स्वाभाविक प्रस्तुतियों के जरिए, कथा-विवरणों के माध्यम से, अपनी क्रांतदृष्टि के तेज से। उसका संदेश क्या है, ग्रहण हमें करना होता है। वेदव्यास ने ही कहाँ कहा है कि वैभव और समृद्धि सात्त्विकता, मूल्यों और मर्यादाओं की हानि करते हैं? कहीं नहीं कहा। परंतु पूरी महाभारत कथा इसके अतिरिक्त और कुछ कहती भी नहीं, रेखांकित करती भी नहीं। कुछ और कहती हो तो यह देश जानना चाहेगा। ठीक इसी क्रांतद्रष्टा प्रबंधकार ने अपने प्रबंध काव्य 'महाभारत' के अपने पाठकों को 5,000 साल पहले ही बता दिया था कि अगर आर्थिक समृद्धि चाहते हैं, तकनीकी वैभव चाहते हैं, पर अपना मनुष्यत्व, स्त्री का स्त्रीत्व, समाज की समस्त मर्यादाएँ, जीवन के समस्त मूल्य भी बचाए रखना चाहते हैं तो जरा इस विवरण को इत्मीनान से, गहराई में उतरकर पढ़ लें, जो आपके पास भीष्मपर्व के अध्याय 43 में पहुँचाया जा रहा है।

'गीता' का गान हो चुका था और 'गीता' की स्तुति में या प्रशस्ति में जो श्लोक हर भारतवासी अकसर गुनगुनाता रहता है, वह श्लोक भी वैशंपायन के माध्यम से हम तक पहुँचाया जा चुका था—गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥' (भीष्मपर्व, 43.1)

अर्थात् स्वयं नारायण के मुखकमल से उत्पन्न हुई 'गीता' को ही खूब पढ़ और हृदयंगम कर लिया तो फिर दूसरे-दूसरे शास्त्रों को पढ़ने की जरूरत ही नहीं रह जाती।

ठीक इसके बाद कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में समुद्र-सी लहराती सेनाओं से परिपूर्ण (भीष्मपर्व, 43.11) उस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एक ऐसी विलक्षण घटना घटी, जिसका विवरण तो प्राय: हर भारतवासी के हृदय में बसा हुआ है, पर जिसके निहितार्थ को हम अपने इस आलेख की थीम के साथ जोड़कर पुन: पाठ कर लेना चाहते हैं। पहले उस विलक्षण घटना की संक्षेप में पुन: स्मृति कर ली जाए। जब कृष्ण द्वारा दार्शनिक रूप से प्रबुद्ध कर दिए जाने के बाद अर्जुन ने फिर से गांडीव धारण कर लिया और उस गांडीवधारी योद्धा को देखकर पांडवों की सेना ने और जवाब में कौरवों की सेना ने भी तुमुल ध्वनि-प्रतिध्वनि की और शायद कहीं से भी पहला बाण छूटा ही चाहता होगा कि उसी समय महाराज युधिष्ठिर ने एक नया ही काम कर डाला।

इंद्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर ने अपने कवच उतारकर रथ में रखे, धनुष और बाण को भी उतारकर रथ में रख दिया। रथ से वे नीचे उतरे। हाथों को प्रणाम मुद्रा में जोड़कर फिर वे पैदल ही, विनम्र भाव से, उस ओर चल दिए जहाँ दोनों पक्षों के पितामह गंगापुत्र भीष्म युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर अपने रथ पर विराजमान थे। युधिष्ठिर द्वारा सहसा कर दिए इस आरंभ से युद्ध के उस मैदान में हलचल होनी ही थी, सो हुई। भाँति-भाँति के अनुमान लगाए ही जाने थे, सो लगाए गए। महाराज युधिष्ठिर डर गए और युद्ध से विमुख होना चाहते हैं, इस हद तक की चर्चाएँ दोनों सेनाओं और उनके सेनानियों के बीच होने लगीं।

पर इस सबकी ओर से विमुख होकर महाराज युधिष्ठिर चले जा रहे हैं अपने गंतव्य की ओर। भीम, अर्जुन, कृष्ण, नकुल, सहदेव भी अपने रथों से उतरकर अपने महाराज के पीछे चल दिए। किसी को समझ नहीं आ रहा था कि धर्मराज के मन में क्या है। उनके पीछे चलनेवालों में से अकेले कृष्ण ही थे, जो धर्म का और इसलिए धर्मराज के हृदय का मर्म समझ रहे थे। उन्होंने चारों भाइयों से मुसकराते हुए कहा कि "हमारे यहाँ प्राचीन काल से शास्त्र-सम्मत परंपरा है कि अगर अपने गुरुजनों से युद्ध करने की स्थिति बन जाए तो पहले उनसे आशीर्वाद लेकर ही फिर उनसे युद्ध करना चाहिए और युधिष्ठिर चूँकि अब पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और शल्य से युद्ध करेंगे, इसलिए वे सर्वप्रथम इन गुरुजनों से आशीर्वाद लेने जा रहे हैं।" (भीष्मपर्व, 43, 21-24)

कृष्ण का अनुमान शत-प्रतिशत ठीक था। युधिष्ठिर क्रमशः भीष्म, द्रोण, कृपा और शल्य के पास युद्ध के लिए अनुमति और विजय का आशीर्वाद लेने गए और प्रत्येक से उनके वध का उपाय भी पूछा। सबने उन्हें आशीर्वाद दिया। वध का उपाय पूछने पर भीष्म ने स्पष्ट कहा कि "मुझे तो स्वयं इंद्र भी नहीं मार सकते, इस युद्ध में तो मुझे कोई क्या मार पाएगा। और, अभी तो मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है।" (हम जानते हैं कि भीष्म को इच्छा-मृत्यु का वरदान अपने पिता महाराज शांतनु से मिला हुआ था।) पर द्रोण ने अपने वध का उपाय बता दिया। उपाय यह बताया कि "यदि कोई विश्वसनीय व्यक्ति मुझे युद्धभूमि में ही कोई अप्रिय समाचार सुना दे तो मैं शस्त्र छोड़ दूँगा और निःशस्त्र हालत में ही मुझे मारा जा सकता है।" (श्लोक 65, 66) कृपाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया कि "मैं अवध्य हूँ। तुम जाओ, युद्ध करो और विजय प्राप्त करो।" (श्लोक 74) युधिष्ठिर ने शल्य से वध का उपाय नहीं पूछा, शायद इसलिए कि वे अपने मातुल के शौर्य की औकात जानते थे। पर शल्य से उन्होंने यह प्रतिज्ञा अवश्य करवा ली कि जब कर्ण और अर्जुन के बीच युद्ध की स्थिति आए तो आप कर्ण का मनोबल तोड़ते रहना (श्लोक 86)। और शल्य ने वैसा करने का प्रतिज्ञान युधिष्ठिर से कर भी दिया।

पर इन चारों योद्धाओं ने एक समान तर्क देकर महाराज युधिष्ठिर को आश्वस्त करने का प्रयास किया, परोक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से भी, कि हम दुर्योधन के पक्ष में इसलिए युद्ध कर रहे हैं, क्योंकि हम उसके द्वारा दिए जानेवाले धन के दास हैं, अर्थात् उससे मिलनेवाले पैसे के गुलाम हैं, यानी हम उसके वेतनभोगी हैं। चारों ने एक ही बात कही, जिसे मानो बल प्रदान करने की सारस्वत इच्छा से महाकवि वेदव्यास ने एक ही अध्याय (43) में चार बार पुनरुक्त किया है। पितामह भीष्म कहते हैं—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥
अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्यैः युद्धादन्यत् किमिच्छसि॥"

—भीष्मपर्व, 43.41-42

अर्थात् 'महाराज युधिष्ठिर, पुरुष अर्थ का दास है। अर्थ यानी पैसा किसी का दास नहीं होता। यही सत्य है। मुझे कौरवों ने इसी अर्थ, यानी धन, यानी पैसे से बाँध रखा है। हे कुरुनंदन! मैं तुम्हारे सामने नपुंसक की तरह बात कर रहा हूँ कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने मेरा भरण-पोषण किया है, इसलिए युद्ध को लेकर तुम्हारी कोई

सहायता नहीं कर सकता। तुम इसके अतिरिक्त कुछ और माँग लो।'

जरा शब्दावली देखिए—'मैं कौरवों के पैसे से बँधा हूँ', 'मैं नपुंसक की तरह बात कर रहा हूँ', 'धृतराष्ट्र-पुत्रों ने मेरा भरण-पोषण किया है', 'युद्ध के अतिरिक्त और कुछ माँग लो' इत्यादि। फिर ठीक यही शब्दावली वेदव्यास ने द्रोणाचार्य से, वर्ण से ब्राह्मण और कौरव-पांडवों के गुरु द्रोणाचार्य से, कुलगुरु कृपाचार्य से और पांडवों के मातुल मद्रदेश के राजा शल्य से कहलवाई है।

महज पाठकों की विचारोत्तेजना के लिए ही हम तीनों के कथन भी उद्धृत किए देते हैं, पुनरुक्ति का खतरा उठाकर भी—

द्रोण कहते हैं—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थॉ न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥
ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया॥

(श्लोक संख्या 56,57)

कृपाचार्य कहते हैं—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥
तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः।
अतस्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि॥

(श्लोक संख्या 71,72)

शल्य ने भी यही दोहराया—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम्।
ब्रबीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छासि॥

(श्लोक संख्या 82,83)

इन चारों महाव्यक्तित्वों ने महाराज युधिष्ठिर से जो कहा, वह लगभग एक जैसा ही है और प्रत्येक ने एक-एक बात अलग से भी कही है। जो बातें चारों ने समान रूप से कही हैं, वे ये हैं—(1) मनुष्य पैसे का गुलाम है, यही सत्य है। (2) पैसा किसी का गुलाम नहीं होता। (3) मैं इस पैसे की गुलामी की वजह से कौरवों से बँधा हूँ। (4) युद्ध के अतिरिक्त अर्थात् युद्ध से जुड़ी किसी बात के अतिरिक्त

तुम जो चाहो, माँग लो। (5) मैं तुमसे यह बात एक नपुंसक की तरह कह रहा हूँ। इन तमाम बातों के अतिरिक्त सभी ने अपने-अपने संदर्भ में कुछ अलग से भी कहा था। भीष्म ने कहा कि मैं इस युद्ध में किसी के लिए भी अजेय हूँ और मेरा मृत्युकाल अभी दूर है। कृपाचार्य ने कहा कि मैं अवध्य हूँ। द्रोणाचार्य ने अपने वध का उपाय बताया तो शल्य ने कहा कि 'भानजे (भागिनेय), इसके अतिरिक्त बता कि मैं तेरे किस काम आ सकता हूँ।' और वे जिस काम आए, पहले बता आए हैं।

आपातत: देखने से ही युधिष्ठिर में और इन चारों के व्यक्तित्वों में कितना बड़ा अंतर दिखाई देता है। युधिष्ठिर आयु में इन सबसे बहुत छोटे हैं। पितामह के तो वे पोते ही हैं। मामा शल्य के भानजे हैं, अर्थात् पुत्र की आयु के हैं। दोनों आचार्यों के वे शिष्य हैं और आयु में उनके भी वे पुत्र समान ही हैं। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, वहाँ भी इन सब में, केवल इसी प्रस्तुत सीमित संदर्भ में, अद्भुत समानता है। युधिष्ठिर धर्म का पालन करते हुए इन सभी गुरु-पितामह जनों से आशीर्वाद लेने गए तो इन सभी ने यह कहकर धर्म की बात ही कही कि वे जिस महाराज धृतराष्ट्र के या फिर युवराज दुर्योधन के वेतन से बँधे हैं, उसे देखते हुए वे कौरवों की ओर से लड़ने को बाध्य हैं। यहाँ तक तो मामला कुल मिलाकर धर्मसम्मत ही कहा जाएगा।

पर इससे आगे वह संदेश है, जो क्रांतदर्शी प्रबंधकार वेदव्यास अपने पाठकों को देना चाह रहे हैं। इन चारों महायोद्धाओं के कथन की शब्दावली में ही वेदव्यास ने स्पष्ट कर दिया है कि चारों को धर्म का ज्ञान है। उनके कथन में बसी बेबसी से ही जाहिर है कि उन्हें पूरा आभास है कि इस महासंग्राम में धर्म का पलड़ा किस ओर झुका हुआ है। इन चारों की वाणी में से झलकती विवशता बता रही है कि उनका वश चलता तो वे युधिष्ठिर की सेना का हिस्सा बनकर धृतराष्ट्र-पुत्रों से लड़ते। अर्थात् मन से वे पांडवों के साथ हैं, पर कर्मणा उन्हें कौरवों, अर्थात् अधर्म का सहयात्री बनकर, पांडवों से अर्थात् धर्म के प्रतीक से युद्ध करना पड़ रहा है तो इसलिए कि दुर्योधन से मिलनेवाले धन की पट्टी ने सबकी आँखों को अंधा, कानों को बहरा और जबान को गूँगा बना दिया है, यानी उन्हीं के शब्दों को उद्धृत करें तो, नपुंसक बनाकर रख दिया है। जब वारणावत का षड्यंत्र रचा गया, जब जुआ खेला गया, जब महारानी द्रौपदी को राजदरबार में सबके सामने निर्वस्त्र करने का महापाप किया गया, तब शल्य तो नहीं, बाकी तीनों महानुभाव राजधानी हस्तिनापुर का राजवैभव भोग रहे थे और अपने सामने ही घट रहे इन अधर्म-आचरणों के अंध-बधिर-मूक साक्षी बने रहे और इन सभी के सामने-सामने इन अधर्मपूर्ण

कृत्यों को अंजाम दिया गया। तब इनमें से कोई भी या तो बोला नहीं या फिर ऐसे बोला कि उस कथन को, बोलनेवाले के अलावा, कोई सुन-समझ ही न पाए, सीख ग्रहण तो करना बहुत दूर की बात है। इसलिए कि सबके आँख-कान-मुँह महाराज धृतराष्ट्र और युवराज दुर्योधन से मिलनेवाले वेतन से, यानी भरपूर सुख-वैभव से बंद हुए पड़े थे।

तो क्या यह मान लें कि क्रांतदर्शी प्रबंधकार वेदव्यास यह कहना चाह रहे हैं कि धनार्जन में कोई बुराई नहीं, समृद्धि-वैभव में कोई बुराई नहीं, हर तरह की सांसारिक प्रगति में कोई बुराई नहीं। समस्या सिर्फ तब आती है जब इस अर्थ को, पैसे को, समृद्धि को, वैभव को हम जीवनयापन का माध्यम बनाने के स्थान पर जीवन का ही स्थानापन्न परम लक्ष्य या एकमात्र प्राप्तव्य मान लेते हैं। जिस समाज ने विष्णु को अपना उपास्य माना है, वह समाज विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का अनादर करने की बात स्वप्न में भी सोच नहीं सकता। फिर जिस समाज ने साल में कई-कई दिन लक्ष्मी पूजा के लिए नियत कर रखे हों, वह समाज लक्ष्मी से दूर रहने का जीवन-दर्शन भला बना भी कैसे सकता है? इसलिए वेदव्यास ने पूरे महाभारत प्रबंध काव्य में धनार्जन को कहीं भी हेय नहीं कहा है, समृद्धि की कहीं भर्त्सना नहीं की है, लक्ष्मी का कहीं तिरस्कार नहीं किया है। पर जब यही धन, यही वैभव, यही ऐश्वर्य जीवनयापन का माध्यम बनने के बजाय जीवन का लक्ष्य बन जाए, बंधन बन जाए तभी समस्या का जन्म होता है—उस समस्या का, अधर्म के जीवन पर हावी हो जाने की समस्या का, जिसने कभी हस्तिनापुर को क्षत-विक्षत कर दिया था, जिसने आज पूरे पश्चिमी संसार को क्षत-विक्षत कर दिया है और जिसने अपने नए उदीयमान भारत को भी क्षत-विक्षत करना शुरू कर रखा है। भीष्म की समस्या यही थी, द्रोण और कृपाचार्य भी इसी समस्या से असफलतापूर्वक जूझ रहे थे, मातुल शल्य तो इस समस्या के संकट से आपादमस्तक परिचित ही थे।

शल्य तो इस अधर्म रूपी सोच का बहुत ही नायाब, जीता-जागता, नकारात्मक नमूना हैं। वे पांडवों के आमंत्रण पर मद्रदेश की राजधानी से चले थे अपने भानजे पांडवों की ओर से लड़ने के लिए। रास्ते में शकुनि-दुर्योधन नामक मामा-भानजों ने उनकी सुख-सुविधाओं का भरपूर प्रबंध कर उनका अद्‌भुत स्वागत किया, पर खुद सामने नहीं आए। पैसे से मिलनेवाली सुविधाओं को बस यूँ ही ग्रहण कर लेने के मानो अभ्यस्त हो चुके शल्य ने पता करने का भी कष्ट नहीं उठाया कि उनकी आवभगत कौन और क्यों कर रहा है। मान लिया कि उनके अपने भानजों अर्थात् पांडवों की ओर से ही यह सब किया जा रहा है। उन्होंने संपूर्ण सत्कार को संपूर्ण

रूप से ग्रहण कर लिया। जब सच्चाई पता चलती, तब तक देर हो चुकी थी। और अर्थ की, पैसे की गुलामी के अभ्यस्त शल्य अब दुर्योधन की ओर से लड़ने को बाध्य थे। अर्थ की गुलामी ने उन्हें कितना बेईमान बना दिया था, यह इसी से स्पष्ट है कि वे लड़ तो रहे थे दुर्योधन की ओर से, पर उसी के परमप्रिय और शुभचिंतक सेनापति कर्ण का मनोबल गिराने का काम भी बखूबी, सफलतापूर्वक कर गुजरे, जैसा करने का प्रतिज्ञान उन्होंने युधिष्ठिर से युद्ध के प्रारंभ होने से पूर्व ही कर दिया था।

शल्य को वेदव्यास ने वैसे भी किसी मर्यादावान् व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। वे तो विशिष्ट व्यक्तियों की पंक्तियों में बस इसलिए थे, क्योंकि युद्ध पूर्व क्षण में महाराज युधिष्ठिर जिन लोगों से मिलने गए, उनमें शल्य भी मातुल होने के कारण शामिल कर लिये गए। कर्ण का मनोबल तोड़ते रहने की रणनीति में मानो धर्मराज ने उनका सही उपयोग शायद सोच-समझकर ही कर लिया। पर असली नायक तो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य हैं, जो सभी गुरु तुल्य हैं, सभी को धर्म का ज्ञान है, सभी संयमी और वेदविद् हैं; पर इन सभी गुणों पर भारी पड़ते पैसे का रंग तो देखिए कि सभी पैसे की अपनी गुलामी को अठारह अक्षौहिणी सेनाओं, पाँचों पांडवों और खुद भगवान् कृष्ण के सामने खुलेआम स्वीकार कर रहे हैं। खुद को नपुंसक भी बेहिचक कह रहे हैं। क्या इन सभी धर्मवेत्ताओं को पानी से निकाल बाहर किनारे पर ला खड़ा करनेवाले महाकवि वेदव्यास के बारे में आप कोई राय नहीं बनाना चाहेंगे? राय यह बनती है कि ऐसा कोई दूसरा निर्मोही कवि हो तो हम उसे भी नमस्कार करना चाहेंगे, निस्संदेह।

अगर हम अपना विषय-विचार यहीं समाप्त कर लें तो भी कोई अंतर नहीं पड़ेगा; क्योंकि धन के प्रति, अर्थ के प्रति, पैसे के प्रति हमारा दृष्टिकोण, अर्थात् लोलुपतापूर्ण दृष्टिकोण कैसे तकनीकी समृद्धि और आर्थिक वैभव को क्रमशः मूल्यहीनता की ओर ले जा सकता है, कवि वेदव्यास ने इस एक विवरण में ही मानो डंके की चोट पर इस अवधारणा को अपने पाठकों और आनेवाली समस्त पीढ़ियों तक इसे पहुँचा दिया है। कह दिया है कि पैसा ही जीवन का लक्ष्य है तो द्रौपदी को निर्वस्त्र किए जाने पर भी हम कुछ नहीं बोलेंगे; पांडु-पुत्रों को उनकी माँ कुंती सहित जलाकर राख कर देने का वारणावत षड्यंत्र सामने आ जाने पर भी षड्यंत्रकारियों की चाकरी में बने रहेंगे; पैसा हमारे लिए सर्वस्व है, इसलिए धर्म का मर्म जानते हुए भी क्या ठीक है; क्या गलत, उसका विवेक रखते हुए भी अधर्म के पक्ष में खड़े रहेंगे; इतना ही नहीं, अधर्म के पक्ष में युद्ध करते हुए अपने प्राणों

को न्योछावर करने को भी तैयार रहेंगे। पाठकों से क्षमायाचनापूर्वक, यदि क्रांतद्रष्टा कवि वेदव्यास के इस अद्‌भुत संदेश को आपके अपने भारत महादेश के परिप्रेक्ष्य में आँकने की कोशिश करें तो हम देश की राजनीति में बढ़ते स्वार्थ और भ्रष्टाचार पर, समाज में बढ़ते कुसंस्कारों पर, स्त्री के प्रति हमारे दैनिक सार्वजनिक व्यवहार में बढ़ती अवमानना पर, स्त्री की बढ़ती असुरक्षा पर और समाज के लगभग प्रत्येक वर्ग में जन्म ले चुकी और अब निरंतर बढ़ रही कर्तव्य-विमुखता और काहिली पर हम धर्म की हानि और धन के प्रति हमारी बढ़ती भूख के संदर्भों में गहन विमर्श क्यों नहीं कर सकते?

कर सकते हैं, क्योंकि ठीक ऐसा ही गहन विमर्श 'महाभारत' के ही लगभग समकालीन या थोड़ा पूर्ववर्ती महाग्रंथ अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से किया गया हमें नजर आता है। वेद चार हैं—यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। अपने देश के प्रथम सम्राट् मनु महाराज द्वारा (जिनकी स्मृति में आगे चलकर हजारों साल बाद 'मनुस्मृति' नामक एक धर्मशास्त्र की रचना की गई) देश को बाकायदा प्रदान की गई शासन-प्रणाली से पहले ही देश में यज्ञ प्रणाली का विकास हो चुका था और यज्ञ में बोले जानेवाले मंत्र अर्थात् यजुष् गद्य में लिखे जा रहे थे जिनका संकलन आगे चलकर यजुर्वेद में हुआ। अयोध्या-नरेश मनु से कुछ पीढ़ी बाद हुए, कान्यकुब्ज-नरेश विश्वामित्र ने राजकाज छोड़कर पुष्कर (राजस्थान) में कठिन तपस्या के बाद जब पहली बार गायत्री मंत्र की रचना की तो छंदों में बँधी कविता में मंत्र रचना होनी शुरू हो गई और ये सभी छंदोबद्ध मंत्र अर्थात् ऋचाएँ ऋग्वेद में संकलित हैं। अयोध्या-नरेश दशरथ और मिथिला-नरेश जनक के समय एक ओर वाल्मीकि ने रामायण के माध्यम से तब की बोलचाल की भाषा संस्कृत में 'तंत्रीलय समन्वित' (वह विशेषण स्वयं वाल्मीकि ने अपने श्लोक के बारे में लिखा है) संगीतमय श्लोकों की रचना की और उनके समकालीन सहयोगी वामदेव ने पुरानी चली आ रही वैदिक मंत्रों की भाषा संस्कृत में संगीतमय मंत्रों की रचना की तो उन्हें साम कहा गया, साम अर्थात् संगीत और इन मंत्रों का संकलन सामवेद में है। इन तीनों वेदों में देवताओं की स्तुति में मंत्रों की रचना हुई है। वेदव्यास के आसपास ही अथर्वा ऋषि ने अभिव्यंजना की तीनों शैलियों (त्रयी) में, अर्थात् गद्य, पद्य और साम में, देवताओं की स्तुति के साथ-साथ और उनसे आगे जाकर भी, देवताओं से इतर यानी लौकिक-सामाजिक विषयों पर भी स्वयं की मंत्र-रचना की और समकालीन कवि- और कवयित्रियों से मंत्र की रचना करवाई और ये सभी मंत्र अथर्ववेद में संकलित हैं। अपनी पुस्तक 'भारतगाथा' में हम इस विषय पर बहुत

ही विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। इस संदर्भ में इतना और बता दिया जाना आवश्यक है कि अथर्वा अपनी ओर से पूरी कोशिश कर रहे थे कि इस मंत्र-रचना को लोगों के बीच ले जा सकें जो मंत्र, अर्थात् कविताएँ, उस समय के समाज में वैभव और धन-संपन्न से पैदा हुई मूल्यहीनता के संकट का सामना करने योग्य वातावरण बना सकें, फिर से लोगों के बीच चारित्रिक और नैतिक दिव्यता का संचार कर सकें।

इसी प्रयास के तहत अथर्ववेद में एक सूक्त है 'श्री सूक्त', जिसमें धन को, वैभव को, समृद्धि को दिव्यता प्रदान करने का उपक्रम है। स्त्री और पुरुष के संबंधों को सुखद रूप देनेवाली मंत्रपूत संस्कारों से सुशोभित विवाह परंपरा का प्रवर्तक सूक्त 'विवाह सूक्त' इसी अथर्ववेद में संकलित है, जिस सूक्त की रचना महाभारत काल के आसपास तब की तेजस्वी कवयित्री सूर्या सावित्री ने की थी, जिस पर इसी आलेख में हम आगे चलकर लिखने ही वाले हैं। वैभवकामी, पर वैभवजनित मूल्यहीनता से बँधकर मनुष्य कैसे पर्यावरण का अनियंत्रित उपभोग अपनी स्वार्थ-साधना में करने लगता है, इसी पर मानो एक मर्यादा, एक लगाम लगाने के लिए ही अथर्ववेद में एक सूक्त संकलित है—भूमिसूक्त, जिसमें भूमि को माँ और स्वयं को अर्थात् हम सभी को उसका पुत्र, उसकी संतान कहकर मनुष्य और पर्यावरण अर्थात् प्रकृति के बीच ममता और स्नेह से भरपूर अपनापन उत्पन्न करने का सारस्वत प्रयास जबरदस्त सफलतापूर्वक किया गया है।

जरा कल्पना करिए, महाभारत कालीन उन दो विराट् सरस्वती-पुत्रों की, वेदव्यास और अथर्वा की, जो अपने समय की वैभवजन्य मूल्यहीनता से किस कदर गहराई से संघर्ष कर रहे थे। अपने सारस्वत संदेशों को प्रस्तुत करने के लिए न उनके पास छापाखाना था, न पत्र-पत्रिकाएँ थीं, न कोई टेलीविजन चैनल थे और न कोई सिनेमा था। नेट, ट्वीट या फेसबुक की कोई सुविधा भी नहीं थी। पर अपनी गहरी अभिव्यंजनाओं से पाठक के मन को गहरे तक विचलित करके रख देनेवाली सच्चे कवि-साहित्यकार-मंत्रकार की व्यथा उनके पास थी, जिस व्यथा की झलक का मुकाबला दुनिया की कोई दूसरी ताकत कर नहीं सकती। अर्थात् परम वैभव और तकनीकी ऊँचाइयों में जीने के अभ्यस्त उस समय के समाज को सुचारु, सुसंस्कृत और सुसभ्य बनाए रखने की एक पीड़ा थी, एक तड़प थी, संघर्ष कर स्थितियों को बदलने का जीवट भी था। इस जीवट का, इस संघर्ष, व्यथा-अभिव्यक्ति के इस आंदोलन का क्या परिणाम सामने आया, अंतिम अध्याय में इसी पर कुछ चर्चा अवश्य की जाएगी।

वैभव और वैभवजनित मूल्यहीनता के संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार करना अभी बचा है। यदि 'महाभारत' नामक प्रबंध काव्य के रचयिता महर्षि वेदव्यास हमें संदेश दे रहे हैं कि आर्थिक और तकनीकी समृद्धि समाज को मूल्य-विमुखता की ओर धकेलने का बल रखते हैं, तो प्रश्न यह है कि हमारे ही देश के दूसरे प्रबंध काव्य अर्थात् 'रामायण' के रचयिता महर्षि वाल्मीकि क्यों नहीं हमें वैसा संदेश दे रहे? बेशक हर समाज में वैभवशीलता से जुड़े विभिन्न आयाम आवश्यक नहीं कि एक सरीखे हों। वे अलग ही प्राय: होते हैं। पर वाल्मीकि का संपूर्ण प्रबंधकाव्य पढ़ने के बाद हमें दूर-दूर तक यह आभास नहीं होता कि उस समय का समाज मूल्यों की दृष्टि से कहीं से भी एक पतित समाज था। तो क्या कारण है कि समान परिस्थितियों के परिणामस्वरूप निर्मित दो समाज एकदम दो पृथक् चित्रों से हमारा परिचय करवा रहे हैं?

नोट करने लायक बात यह है कि इस प्रश्न का, जो कवि वेदव्यास के लिए इस शब्दावली में तो निश्चित रूप से अनाहूत ही रहा होगा, बड़ा ही तार्किक उत्तर महाभारतकार ने दे ही दिया है। शैली वही है। विराट् दृष्टिवाले कवि न तो आदेश देते हैं, न ही उपदेश और न ही सुझाव देते हैं। उनकी क्रांतदृष्टि में से संदेश स्वयमेव, स्वत:स्फूर्त रूप से निकलते हैं। अगर हममें क्षमता नहीं है तो हम उन्हें कभी ग्रहण नहीं कर पाएँगे।

उत्तर पाने के लिए हमें 'महाभारत' के शांतिपर्व को पढ़ने के लिए जाना होगा, जहाँ प्रश्न का उत्तर उसी धर्मवेत्ता भीष्म के मुँह से कहलवाया गया है जिस भीष्म की अर्थ की दासता के बखान के माध्यम से वेदव्यास ने वैभवशाली समाज में मर्यादाहीनता और धर्मलोप के कारण का बखान करवाया था। शर-शय्या पर लेटे हुए भीष्म से धर्म और राजनीति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा तो कृष्ण के साथ ही महाराज युधिष्ठिर भीष्म के पास गए। दादा-पोते के बीच धर्म, समाज, राजनीति आदि को लेकर जो संवाद हुआ, वह संपूर्ण संवाद 'महाभारत' के शांतिपर्व में सुरक्षित है। बहुत ही लंबा संवाद है यह। जितना लंबा है उतना ही गहन भी है। कह सकते हैं कि संपूर्ण भीष्मनीति उसमें समाहित है, जिसे किसी विश्वविद्यालय के किसी शोध-छात्र की प्रतिबद्ध विवेचना की प्रतीक्षा है।

उसी संवाद के दौरान भीष्म ने युधिष्ठिर से जो एक श्लोक कहा, वह संपूर्ण मनुष्य समाज के लिए सार्वजनिक महत्त्व का बन गया और उसी श्लोक में हमारी मौजूदा जिज्ञासा का समाधान भी छिपा है। भीष्म ने कहा—

"कालो वा कारणं राज्ञो, राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥"

(शांतिपर्व, 69.79)

अर्थात् क्या परिस्थितियाँ अपने अनुकूल राजा के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं या कि राजा अपने समय की परिस्थितियों के रूप का निर्माण करता है? हे युधिष्ठिर! इसको लेकर किसी को कोई शक की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए। राजा ही अपने समय की परिस्थितियों का निर्माण करता है, अपने समय के स्वरूप का निर्धारण करता है, अपने समय का निर्माता होता है। राजा परिस्थितियों का परिणाम नहीं होता, वह उनका निर्माता होता है।

कितनी महत्त्वपूर्ण बात है यह। कभी कुछ कथित विचारकों की अधकचरी बातों की चकाचौंध के असर में हमारे देश के कुछ लोगों ने, खासकर युवाओं ने राजनीति को ही नकारना, बौना साबित करना और बेमतलब का मानना शुरू कर दिया। हम स्वातंत्र्योत्तर भारत की बात कर रहे हैं। पर यह चकाचौंध भरी धारणा कितनी गलत है, बल्कि राजनीति कितनी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, क्रमशः देश को यह पता पड़ने लगा तो फिर राजनीति को लेकर बोलचाल का मुहावरा भी बदला। राजा, शासक या राजनीति—यह सब 'राजनीति' शब्द के विभिन्न अर्थ व विभिन्न पहलू हैं। राजनीति यानी राज अर्थात् सर्वोच्च नीति। और राजनीति में नीति की सर्वोच्चता का कारण ही यही है कि उसके स्वरूप, उसके चरित्र और व्यवहार से पूरे समाज और पूरे देश का स्वरूप, चरित्र और व्यवहार का निर्माण करने की क्षमता होती है। इसी आलेख में हम पिछले अध्याय में देख आए हैं कि राजनीति द्वारा पाली-पोसी गई कई गलत व्याख्याओं और गलत अवधारणाओं के कारण इस देश के दर्शन-चिंतन-मनन के दो महत्त्वपूर्ण शब्दों—धर्म और संप्रदाय—के अर्थ का ऐसा अनर्थ कर दिया गया कि हम 'धर्म' शब्द का अर्थ जानने के लिए अब अँधेरों में भटकने को बाध्य हुए पड़े हैं और यकीनन यह अँधेरा वह नहीं है जो 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' नामक श्लोकांश में से प्रतिध्वनित हो रहा है।

देश का राजा, देश का शासक, देश की राजनीति अगर चरित्र-आधारित है तो देश में चरित्र की भागीरथी बहेगी। इससे उलट स्थिति है तो देश में दुराचार के गंदे नाले बहेंगे, बदबू फैलाएँगे। अगर राजनीति भ्रष्ट है और स्वार्थ पर आधारित है तो पूरे समाज को भ्रष्ट और स्वार्थी बनने से कोई रोक नहीं सकता। राजनीति दिशाहीन और अकर्मण्य है तो सारा समाज लापरवाही और अनुशासनहीनता का नजारा पेश करेगा। आप अपने समाज के चारों ओर देख लीजिए। सारा चित्र

आपके सामने कारण-परिणाम रहित साफ-साफ उजागर हो जाता है। पर अगर राजा दृढ़ संकल्पी है, शासक चरित्रवान् है, राजनीति ध्येयशील है तो पूरे जन समाज में, पूरी प्रजा में इन गुणों का संचार करने में फिर ज्यादा प्रयास नहीं करने पड़ते। याद कीजिए कि कैसे इस देश के एक छोटी सी कद-काठी के, पर महाचरित्रवान् और महासंकल्पशाली प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने कभी कृषि संकट के वर्ष में सभी देशवासियों को एक ही आह्वान पर सप्ताह में एक बार व्रत का अभ्यास अनायास ही करवा दिया था। इस परिप्रेक्ष्य में हम सोच सकते हैं कि यदि देश का राजा धृतराष्ट्र रहा, जिसे वेदव्यास ने महाभारत युद्ध रूपी विष-वृक्ष का बीज माना है, तो विपुल वैभव से संपन्न समाज को दुश्चरित्र बनाने में उसका कितना विपुल योगदान रहा होगा। ऊपर से उसके दुर्योधन-दु:शासन जैसे दुष्ट पुत्रों और शकुनि जैसे कपटी राजश्यालक ने मर्यादा-हानि की कोढ़ में खाज पैदा करने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई होगी।

ठीक इस परिप्रेक्ष्य में समान रूप से वैभवशाली होने के बावजूद अगर अयोध्या और मिथिला के जन समाज में अधर्म व मर्यादाहीनता को पसरने का मौका नहीं मिला तो इसका श्रेय अन्य कारणों के अतिरिक्त आप इन दोनों राज्यों के चरित्रवान् राजाओं को भी दे सकते हैं; बल्कि इन दोनों राज्यों के राजाओं की पूरी की पूरी वंश परंपराएँ भी ऐसी रहीं कि प्रजा के पास श्रेष्ठ और आदर्श जीवन के एक से बढ़कर एक प्रतीक आते रहे। याद कीजिए, प्रथम तीर्थंकर महाराज ऋषभदेव अयोध्या के राजा थे। उनके उन्हीं के समान विराट् व्यक्तित्व के स्वामी और महादार्शनिक पुत्र (जड़) भरत हुए, जिनके नाम पर देश को 'भारत' नाम मिला, जैसा कि हमारे पुराणों में सटीक ढंग से, रेखांकित करके, पुनः-पुनः लिखा गया है। (न कि दुष्यंत-पुत्र भरत के नाम पर, जैसी कि अफवाह बी.आर. चोपड़ा के 'महाभारत' धारावाहिक ने पूरे देश में फैलाने का राष्ट्रीय अपराध किया)। वे (जड़) भरत अयोध्या के राजा थे। समुद्र का नाम 'सागर' अयोध्या-नरेश सगर के नाम पर पड़ा तो गंगा को 'भागीरथी' नाम अयोध्या-नरेश भगीरथ से मिला। ज्यादा क्या कहें, मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या-नरेश थे, ऐसे में वहाँ मर्यादाहीनता का प्रवेश भी भला कैसे हो पाता!

□

यदुकुल विनाश, कुरुकुल विनाश

लेखक तो वही एक ही थे—महर्षि वेदव्यास, जिन्होंने चारों वेदों की संहिता में यानी एंथोलॉजी में बाँधने के अलावा तीन ग्रंथ और लिखे थे। एक ग्रंथ का नाम था—पुराण-संहिता। वह भी एक संहिता ग्रंथ था। दोबारा कहने की जरूरत तो नहीं है, फिर भी अंग्रेजी वाले लोगों की सहायता के लिए कह देते हैं कि था तो वह ग्रंथ भी एक एंथोलॉजी ही, जिसमें वेदव्यास ने अपने से पहले के 5,000 वर्षों की उन कथाओं को पुराकथाओं को, इतिहास की घटनाओं की कथाओं को, देवकथाओं को और न जाने कितनी ही तरह की कथाओं को उसी पौराणिक शैली में संकलित कर लिख दिया गया था, जिस शैली में व्यास से 1,000 साल पहले वाल्मीकि ने 'रामायण' लिखी थी, खुद वेदव्यास ने 'महाभारत' प्रबंध काव्य लिखा था और उनके अपने जीवन के अस्त हो जाने से पहले 'भागवत महापुराण' भी लिखा था। पर वह 'पुराण-संहिता' अब नहीं मिलती। इन सबके अतिरिक्त वेदव्यास को 'ब्रह्मसूत्र' नाम से वेदांत सूत्रों का भी रचयिता माना जाता है, जिसके बारे में हमें इस प्रसंग में अभी कुछ नहीं कहना। वेदव्यास सचमुच ही अद्‌भुत प्रतिभा के अखंड भंडार के रूप में एक लंबी आयु जिये और जीवन का प्रत्येक क्षण उन्होंने इस देश की सांस्कृतिक कथा को अधिकाधिक मूल्यवान् बनाते चले जाने में ही व्यतीत किया। अपने इस आलेख में इस 'महाभारत' और इस प्रबंध के रचयिता पर ही हम स्वयं को केंद्रित किए हुए हैं।

जैसा कि हम सभी को पता है 'महाभारत' प्रबंध काव्य को लिख देने के बाद महर्षि वेदव्यास का स्फटिक-निर्मल हृदय, यानी शीशे के जैसा साफ-पवित्र

हृदय शोक और संताप से भर उठा। क्यों भर उठा? इस सवाल का जवाब हमारे उस आलेख में जहाँ-तहाँ लिखा पड़ा है और आलेख के मौजूदा अध्याय में खास तौर पर लिखा आपको खुद-ब-खुद मिल जाएगा। जब उनका संताप और शोक बढ़ता ही चला जा रहा था तो स्वयं नारद ने उनके पास आकर इस बारे में बातचीत की। यह सारी बातचीत 'भागवत महापुराण' के चौथे और पाँचवें अध्यायों (पहला स्कंध) में एक ही तरह से रिकॉर्ड खुद वेदव्यास द्वारा ही कर दी गई है। नारद ने उन्हें कहा कि आपने 'महाभारत' लिखकर बड़ा ही विराट् कर्म कर दिया है, पर जब तक आप कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं करेंगे, चित्त को शांति व आराम नहीं मिल पाएगा। नारद की प्रेरणा से ही व्यास ने फिर 'भागवत महापुराण' लिखा और ऐसा लिखा कि जब से शुकदेव ने राजा परीक्षित को भागवत की कथा पूरे सप्ताह सुनाई तब से यानी 5,000 सालों से यह देश लाखों-करोड़ों ही नहीं, शायद अरबों-खरबों बार 'भागवत महापुराण' का सप्ताह पारायण कर चुका होगा।

महाभारत में कौरवों और पांडवों की कथा है, उनके जन्म से लेकर उनके जीवन के समाप्त हो जाने तक। वहाँ कृष्ण का आगमन व उपस्थिति वहीं-वहीं पर है, जहाँ वे कथा के एक महत्त्वपूर्ण पात्र के रूप में अपना योगदान करते हैं। परंतु भागवत महापुराण, उसके दसवें और ग्यारहवें स्कंध में (इस महापुराण में कुल 12 स्कंध हैं) कृष्ण के जन्म से लेकर उनके वापस स्वधाम-गमन तक यानी देहावसान तक की पूरी कथा वर्णित है। बेशक भगवान् कृष्ण की जीवन-लीला भागवत महापुराण में है; पर कृष्ण का परम दार्शनिक कथन तो उनकी 'गीता' के रूप में महाभारत प्रबंध काव्य में ही है। कृष्ण के शरीर छोड़ने के साथ ही उनके पूरे यदुकुल का विनाश कैसे हुआ, उसका ठीक-ठाक विवरण 'भागवत' में तो है ही, व्यास ने यदुकुल-विनाश पर प्रबंध काव्य महाभारत में भी अठारह पर्वों में से पूरा एक पर्व लिखा है, जिसका नाम है मौसल पर्व। इस पर्व से अगले ही पर्व में महाप्रास्थानिक पर्व में पांडवों के जीवन के अंत का वर्णन है।

बेशक पांडु के पाँचों पुत्रों को हम 'पांडव' नाम से जानते हैं और धृतराष्ट्र के पुत्रों को 'कौरव' नाम से जानते हैं, पर सच तो यही है कि सभी पांडव और सभी कौरव अपने ही एक प्रतापी पूर्वज कुरु की संतानें हैं, जिनके नाम पर कुरु पांचाल देश, कुरु जांगल प्रदेश और कुरुक्षेत्र आदि अनेक स्थानों को नाम मिला। इन्हीं कुरु की ही संतान होने के कारण पाँचों पांडु-पुत्र और सौ धृतराष्ट्र-पुत्र उसी प्रकार कौरव कहलाते हैं जैसे भीष्म, पांडु और धृतराष्ट्र उसी वंश में होने के कारण 'कौरव' कहे जाते हैं। हम यह सारा तामझाम सिर्फ यह कहने के लिए फैला रहे हैं,

ताकि इसके बाद इत्मीनान से कह सकें कि इन दो पर्वों में महाभारत ने क्रमशः यदुकुल और कुरुकुल दोनों के नाश का विवरण दे दिया है।

वेदव्यास के क्रम का अनुसरण करें तो पहले यदुकुल के विनाश की कहानी पढ़ लेते हैं। हर पैदा होनेवाले को नष्ट होना ही है, फिर चाहे वह व्यक्ति हो, कुल हो या कोई साम्राज्य हो। इस फॉर्मूले को ध्यान से देखें तो इन दोनों के, यदुकुल और कुरुकुल के विनाश में ऐसी क्या खास बात है कि उस पर अलग से 'सांसारिक वैभव' बनाम 'नैतिकता का ह्रास' या 'धर्म का ह्रास' इस थीम पर केंद्रित हमारे इस आलेख में अलग से लिखा जाए? कुछ खास तो है कि हम अलग से एक अध्याय मिलकर लिख रहे हैं और यह खास बात वही है, जिसे स्वयं वेदव्यास भी रेखांकित करना चाहते प्रतीत हो रहे हैं। हम अच्छे से जानते हैं कि भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर, अर्जुन जैसे विख्यात अपवादों को छोड़ दें तो कुरुकुल में उच्छृंखल और उद्धत वंशधरों की पूरी शृंखला हमें मिल जाती है। ठीक ऐसे ही कृष्ण, वसुदेव जैसे विख्यात अपवादों को छोड़ दें तो यदुकुल में भी वैसे ही उच्छृंखल पात्रों की संख्या खूब मिल जाती है। एक तरह से देखा जाए तो कृष्ण के बड़े भाई बलराम भी शत-प्रतिशत साधु पुरुषों की गणना में नहीं आते हैं। वैसे तो हर व्यक्ति और हर वंश का, हर कुल का, हर साम्राज्य का ह्रास अवश्यंभावी है, अपरिहार्य है; पर हमारे शलाका पुरुष प्रबंध कवि वेदव्यास अपने समय की धर्महीनता से, मर्यादाहीनता से, उच्छृंखलता से इतना क्षुब्ध हैं, वे इन दोनों कुलों को अपने विनाशकाल में भी उच्छृंखल और मर्यादा-विहीन बने रहने से इतना नाराज हैं कि वे उन कुलों के नाश का यथावत् वर्णन करने से कोई परहेज करते नजर नहीं आते; जबकि कवियों-महाकवियों-प्रबंधकवियों से पाठक और आनेवाली पीढ़ी यह उम्मीद जरूर सँजोती है कि वे कथा की समाप्ति इतना दुःखद, त्रासद, कष्टप्रद तरीके से होता नहीं दिखाएँगे।

कथा रामायण की भी दुःखांत है। उत्तरकांड तक आते-आते सीता का रसातल प्रवेश तो महर्षि वाल्मीकि ने दिखाया ही है, राम के एक अनुशासन का उल्लंघन करने की वजह से लक्ष्मण का अयोध्या से निष्कासन और अंततः स्वयं राम का सभी अयोध्यावासियों के साथ स्वधाम-गमन दिखाया है। वह संपूर्ण विवरण इतनी गरिमा से भरी कथा के जरिए, इतनी उदात्तता के साथ इतने शांत वातावरण में दिखाया है कि केवल राम और सीता ही नहीं, स्वयं वाल्मीकि भी हमारे दिलों में आज तक एक बहुत-बहुत ही ऊँचा आसन बना कर बैठे हैं। पर महाभारत कथा के अंत में यदुकुल और कुरुकुल, इन दो कुलों का विनाश जस-का-तस दिखाकर कवि ने अपने प्रबंधकाव्य के अंत तक आकर भी बिना किसी लाग-लपेट के अपने

पाठक को बता दिया है कि कैसे इन दोनों कुलों के उच्छृंखल पात्र अपने जीवन के अंत तक आकर भी मर्यादाहीन और धर्म-विमुख बने रहे।

यदुकुल के विनाश की कहानी हम भारतवासियों को प्रायः करके याद ही है। कृष्ण भी यदुवंशी थे, यादव थे। महाभारत और भागवत महापुराण में उन्हें कई बार 'यादव' कहकर संबोधित किया गया है। खुद अर्जुन ने 'गीता' के ग्यारहवें अध्याय में उन्हें 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति' (श्लोक 41) कहकर कृष्ण के साथ अपनी अंतरंगता बड़े ही तरीके से जता दी है। वे यादव थे और अपने दूसरे यादवों की आदतों, उद्दंडताओं व दुश्चरित्र को खूब जानते थे, समझते थे। जब उन्हें तबके घटनाक्रम को देखभालकर अच्छे से अहसास हो गया है कि इन उद्दंड यादवों को नष्ट होने से कोई रोक नहीं सकता तो वे भी अपनी इहलीला का संवरण करने का संकल्प धारण कर अकेले में एक पेड़ के तने से पीठ टिकाकर ध्यान-मुद्रा में लीन हो गए। वह क्या बात थी कि जिससे वे अपने ही कुलवालों से, यदुवंशियों से खिन्न होकर चले गए?

घटना हम सभी जानते हैं, पर दोहरा देने में भी, यानी हलके में दोहरा देने में भी कोई नुकसान नहीं। यदुकुल विनाश से थोड़ा ही पहले की बात है। कुछ ऋषि-मुनि अपने किसी कार्यवश द्वारका गए थे और द्वारका-प्रवेश से पहले वे पुरी के बाहर उपवन में विश्राम कर रहे थे। दुर्वासा भी उनमें से एक थे। कृष्ण को जांबवती से एक पुत्र हुआ था, सांब। उसका नाम 'सांब' इसलिए रख दिया गया था, क्योंकि कृष्ण को इस पुत्र की प्राप्ति शिव जी की तपस्या करने से हुई थी। शिव का एक नाम है सांब। इसलिए जांबवती कृष्ण ने अपने इस पुत्र का नाम रख दिया—सांब। यह सांब हमारे इतिहास का एक विचित्र किंतु महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। यह परम सुंदर था, परम पराक्रमी भी था। बाणासुर से युद्ध करने यह भारत के पूर्वोत्तर तक जा पहुँचा था। यानी महत्त्वपूर्ण नाम है। पर विचित्र इसलिए कि यह सुंदर जितना और पराक्रमी था उतना ही उच्छृंखल भी था। जैसा यह खुद था, वैसी ही इसकी मित्र-मंडली थी। आदमी की पहचान उसके दोस्तों से होती है, यह एक सही कहावत है और सांब पर भी लागू होती है।

सोचिए कि कृष्ण के इस पुत्र को, सांब को, इसके सारण वगैरह मित्र पेट पर खूब सारे कपड़े बाँधकर और साड़ी आदि पहनाकर यानी गर्भवती स्त्री की शक्ल देकर द्वारका के बाहर उपवन में बैठे इन मुनियों के पास ले गए और कहा कि महाराज, यह बभ्रु यादव की पत्नी है, पुत्र चाहती है। आप ऋषि लोग हैं, जरा इसका भविष्य देखकर बताइए कि इसके गर्भ से क्या उत्पन्न होगा—किमियं

जनयिष्यति (मौसलपर्व, 1.17)। बस, फिर क्या था। ऋषि तो ऋषि थे। उनसे भला क्या छिपा था। सारा खेल वे क्षण भर में समझ गए। गुस्से से आँखें लाल करके बोले कि इसके, इस सांब के पेट से लोहे का मूसल पैदा होगा, जो संपूर्ण वृष्णि-अंधक कुल का यानी यदुकुल का विनाश कर देगा। वृष्णयन्धक विनाशाय मुसलं लोहमायसम्, वासुदेवस्य दायाद: साम्बोयं जनायिष्यति' (मौसलपर्व, 1.19)। अब वे सब उठ गए। वे उद्दंड थे, पर ऋषियों के तपोबल को भी जानते थे। इसके साथ ही उन ऋषियों ने कृष्ण, बलराम आदि के बारे में भी कुछ भविष्यवाणी की; पर सारण वगैरह ने तो मानो मूसल के अलावा कुछ सुना ही नहीं। डर के मारे थरथर काँपते वे कृष्ण के पास गए और सारा घटना चक्र कह सुनाया। कृष्ण तो कृष्ण ठहरे, निस्संग और सतर्क। कहा कि जो मुनियों ने कहा है वह तो अब होना ही है।

अगले दिन मूसल निकल आया। सांब के पेट से बाहर आ गया। व्याकुल सांब आदि यादवों ने उस मूसल को कूट-कूटकर उसका महीन चूरा कर डाला और उस चूरे को समुद्र में मिला दिया। पर शाप को तो अपनी शक्ल लेनी ही थी। ब्राह्मणों का, जिन्हें हम आजकल बुद्धिजीवी कहते थे, ऐसे पाखंडी नहीं, पर तपस्वी और ज्ञान-परायण बुद्धिजीवियों का शाप था। उसे तो शक्ल लेनी ही थी। समुद्र में डल जाने के बाद वह चूरा एरक घास बन गया। जो पहले एक मूसल था, अब उस घास का एक-एक तिनका एक-एक मूसल बन चुका था।

इस बीच आनेवाले घटनाचक्र का पूर्वाभास पाकर, यानी मानो विनाश की पूर्व सूचना जैसी पाकर, कृष्ण ने सभी यदुवंशियों से कहा कि विनाश अब हुआ ही चाहता है, इसलिए सभी यदुवंशी समुद्र के मार्ग से तीर्थ-यात्रा पर निकल जाएँ (मौसल पर्व, 2/24)। सारा यदुकुल इस घटनाचक्र से डर तो गया ही था। कृष्ण का आह्वान मिलते ही, अब द्वारका बचेगी नहीं, यह आशंका मन में रखकर सभी प्रभासक्षेत्र में समुद्र के किनारे आ गए। पर कहते हैं न कि 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते', हमारा जो स्वभाव होता है वह हमारे सिर पर चढ़कर बोलता है। उन दुराचारी यदुवंशियों ने कृष्ण का आह्वान तो सुना, उस पर आचरण भी किया, पर अपने स्वभाव के हिसाब से ही किया। वे प्रभासक्षेत्र में समुद्र के किनारे पहुँच तो गए, पर अपने साथ मदिरा और पके हुए मांस का विशाल भंडार भी ले गए।

मांस खाकर, शराब पीकर फिर जो होना था, जैसा कि आजकल भी कई पार्टियों में कई बार हो जाया करता है, वही हुआ। नशे में चूर इन यादवों ने एक-दूसरे से अपनी कुछ दुश्मनियाँ और पहले का कहा-सुना याद करके मारना-पीटना तथा मौत के घाट उतारना शुरू कर दिया। उधर समुद्र में पैदा हुई एरक घास का

मूसल जैसा धारदार बन चुका हर एक तिनका भी उनके लिए तलवार, बरछी, भाले जैसा काम आया। इस पारस्परिक रक्तकांड के कुछ नमूने व्यास ने दिखाए हैं, जिन्हें पढ़कर विश्वास ही नहीं होता कि ऐसे-ऐसे लोगों ने ऐसा-ऐसा किया होगा; पर मांसाहार और मद्यपान की जोड़ी जो करवा दे, वह कम है।

सबसे पहले सात्यकि ने, कल्पना करिए सात्यकि जैसे बड़े चरित्र ने, दूसरे यादव नायक कृतवर्मा की भरी सभा में अपमानजनक खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि एक तू ही है, जो रात में सोए हुओं की हत्या कर सकता है, इसलिए तेरा अपराध अक्षम्य है (मौसल पर्व, 3.18)। इशारा महाभारत संग्राम में दुर्योधन की पराजय के याद, यानी युद्ध समाप्त हो जाने के बाद अश्वत्थामा, कृतवर्मा वगैरह द्वारा पांडवों के शिविर में आधी रात में सोए हुए द्रौपदी पुत्रों को मारने की ओर था। प्रद्युम्न ने सात्यकि की हाँ में हाँ मिलाई और कृतवर्मा का अपमान किया। कई तरह से तर्क-वितर्क चलता रहा और अंततः सात्यकि ने कृष्ण के सामने ही कृतवर्मा का सिर तलवार से काट डाला।

इसके बाद तो मार-काट मच गई। और देखते-देखते सभी यदुवंशी एक दूसरे की तरफ घास के मूसल जैसी तीखी धार वाले, तिनकों को (जो काफी विशालकाय हो चुके थे) तलवार बनाकर एक दूसरे पर चलाने लगे और सभी यदुवंशियों का विनाश हो गया। जो यादव वीर और सभी यादव स्त्रियाँ जो द्वारका में रह गए थे, वे बच गए और हम सभी जानते हैं कि जल्दी ही सूचना मिलने के बाद अर्जुन द्वारका आए और बचे हुए यादवों को हस्तिनापुर ले जाकर वहाँ आसपास के इलाकों में ठीक से बसा दिया। विधि का लिखा कि जो यादव कभी कृष्ण के नेतृत्व में अपना शूरसेन नामक क्षेत्र (यानी आज का पश्चिमी उत्तर प्रदेश) छोड़ गए थे, वे अर्जुन के नेतृत्व में लौटकर अपने ही प्रदेश में फिर से बस गए। उधर द्वारका समुद्र में डूब गई। और दूसरी ओर यदुकुल का इस तरह का कारुणिक विनाश होते देकर कृष्ण ने भी अपनी लीला का संवरण कर लिया। पर धन्य-धन्य था यदुकुल, जिसमें कृष्ण अवतरित हुए थे। यह कृष्ण के ही बस में था कि यदुकुल विनाश से करीब पैंतीस-छत्तीस साल पहले ही उन्होंने पांडु-पुत्रों से उस वक्त यादवों के आपस में ही एक-दूसरे को मार-काट कर नष्ट हो जाने की पूर्व सूचना दे दी थी, जब कृष्ण को गांधारी ने यदुकुल विनाश का शाप दिया था। गांधारी का मन बड़ा पीड़ित था कि कृष्ण चाहते तो महाभारत युद्ध और उसमें होनेवाला महाविनाश रुक सकता था। पर उन्होंने वैसा नहीं चाहा। हम गांधारी का कथन दोहरा रहे हैं। उन्होंने चुपचाप वह युद्ध और वह संपूर्ण विनाश होने दिया और उसकी उपेक्षा कर

दी (स्त्रीपर्व, 25, 39-41)। इस पर गांधारी ने कृष्ण को शाप दिया कि आज से छत्तीस साल बाद तुम्हारे सारे रिश्तेदार, राजन्य और यदुवंशी आपस में लड़कर मर जाएँगे। तुम कुछ नहीं कर पाओगे और तुम खुद भी अनजान, अनाथ के समान मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे (स्त्रीपर्व, 25, 44-45-46)।

शाप तो पूरा हो गया। पर कुरुकुल विनाश से पूर्व गांधारी द्वारा शाप दिया जाना, वह भी कृष्ण को, इस तथ्य को फिर से दोहराता और पुष्ट करता है कि आदमी अपनी आदत से बाज नहीं आता। अपनी आदतों का बोझ वह ढोता ही रहता है। यदुकुल के बारे में हम इस घटना को फलीभूत होता देख आए हैं। अब जरा कुरुकुल विनाश के संदर्भ में भी उसे देख लिया जाए। दोनों का मुख्य संदर्भ यही है कि वैभव और ऐश्वर्य का चरम होने पर भी अगर धर्म के अनुसार आचरण का विचार नहीं रहा, मर्यादा-पालन का स्वभाव नहीं बना तो फिर जीवनपर्यंत वह स्वभाव हमारा पीछा नहीं छोड़ता। गांधारी का कृष्ण को यदुकुल विनाश का शाप दिया जाना उसी का एक नमूना है। गांधारी बुद्धिमती है, गंभीर है, नीति जानती है, धर्म भी जानती है। यह सब हम देख चुके हैं, इसी आलेख में। पर रहती तो वह भी उसी समाज में है, जहाँ धर्माचरण की अवहेलना करना हरेक का स्वभाव बना हुआ है। इसीलिए अपने पुत्रों का, सभी सौ पुत्रों का वध हो जाने पर उसे शोक अवश्य है, शायद महाशोक है, पर शोक से ज्यादा वह क्रोध का शिकार हुई नजर आ रही है और शोक व्यक्त करने के स्थान पर वह कृष्ण को वंश-नाश का शाप दे रही है। वह भी उस कृष्ण को, जो युद्ध निषेध संधि का, पांडवों के लिए पाँच गाँव देने का प्रस्ताव लेकर खुद हस्तिनापुर आए थे और वहाँ हस्तिनापुर के शक्तिशाली राजमहल में दुर्योधन ने बिना युद्ध के सुई की नोंक के बराबर भी जमीन न देने की चेतावनी देकर फिर कृष्ण को बंदी बना लेने की, गिरफ्तार कर लेने की असफल कोशिश भी की थी।

युद्ध के बाद जहाँ शोक होना चाहिए था वहाँ शोक नहीं, क्रोध आ रहा है इसका उदाहरण अकेली गांधारी नहीं है, उसका नेत्रहीन पति धृतराष्ट्र भी है। युद्ध में कौरवों की हार हो जाने के बाद विजेता पांडव जब पहली बार धृतराष्ट्र और गांधारी से मिलने हस्तिनापुर से बाहर गंगातट पर उस समय गए, जिस समय धृतराष्ट्र अपने पक्ष के मृत वीरों का अंत्येष्टि कर्म कर रहे थे, उस समय धृतराष्ट्र को शोक के सागर में डूबा हुआ, पश्चात्ताप के सागर में डूबा हुआ होना चाहिए था, पर वे क्रोध में तमतमा रहे थे (दिधक्षुरिव पावकः, धू-धू करके उठ रही अग्नि-ज्वाला की तरह, स्त्रीपर्व, 12,13) बड़े ही अप्रसन्न मन से (अप्रीयमाणः,

स्त्रीपर्व, 12,12) धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को गले लगाया। पर धृतराष्ट्र की अंधी आँखें तो भीम को ढूँढ़ रही थीं। व्यासदेव कहते हैं कि उस समय धृतराष्ट्र के मन में खोट आ गया था। (दुष्टात्मा, स्त्रीपर्व, 12, 13), उसका हृदय अग्नि की तरह जल रहा था (दिधक्षुरिव पावक : (वही) और वह भीम को तलाश रहा था (भीममन्वैच्छत्, स्त्रीपर्व, 12, 13)। युधिष्ठिर को गले लगाने के बाद जब धृतराष्ट्र ने भीम को गले लगाना चाहा तो कृष्ण बीच में आ गए—सीधे-सीधे नहीं, बल्कि कूटनीति का मूर्त रूप बनकर। पाँचों पांडु-पुत्र तो धृतराष्ट्र से शोक संवेदना की औपचारिकता पूरी करने में व्यस्त थे, परंतु कृष्ण एक कूटनेता के रूप में धृतराष्ट्र के चेहरे पर आनेवाले उतार-चढ़ाव के माध्यम से कुरुराज के मनोभाव पढ़ने में व्यस्त थे। जो धृतराष्ट्र वर्णन वेदव्यास ने किया है वह धृतराष्ट्र, जिसके मन में खोट आ गया था, जिसका हृदय आग की लपटों की तरह धू-धू कर रहा था, जो गले तो युधिष्ठिर को लगा रहा था, पर भीम को ढूँढ़ने को बेचैन नजर आ रहा था, क्या कृष्ण उसका अर्थ नहीं समझ पाए थे, ऐसा कैसे हो सकता है? कृष्ण और समझ न पाएँ? यह भीम ही तो था, जिसने धृतराष्ट्र के सौ पुत्र होने के बावजूद उसके सबसे श्रेष्ठ, सबसे चहेते, सबसे प्यारे दो पुत्रों, यानी दुर्योधन और दुःशासन को मारा था—दुर्योधन की जाँघ तोड़कर और दुःशासन की छाती फाड़कर। धृतराष्ट्र के मन में ऐसे भीम को गले लगाने का मन कर रहा था तो उसके पीछे भीम के लिए प्रेम का दरिया ठाठें मार रहा था, ऐसा भला कैसे हो सकता था? धृतराष्ट्र अपने समय का सबसे बलिष्ठ व्यक्ति है, ऐसी ख्याति महाभारत काल में थी। इसलिए जब भीम राजा धृतराष्ट्र से गले मिलने को जाने लगा तो कृष्ण ने उसे इशारे से रोक दिया। भीम की लोहे की बनी एक मूर्ति धृतराष्ट्र को गले लगाने के लिए उसकी बाँहों में रखवा दी। या तो यह वह लौहमयी मूर्ति थी, जिस पर दुर्योधन रोज महाभारत युद्ध से पूर्व, गदायुद्ध का अभ्यास करता था या फिर परम दूरदर्शी कृष्ण ने इस मूर्ति को खास इस मौके के लिए बनवाया था। यह तो स्पष्ट नहीं है, परंतु वेदव्यास जरूर बताते हैं कि धृतराष्ट्र के मन के खोट का पूर्वाभास लगाकर कृष्ण ने ऐसी लौहप्रतिमा का प्रबंध वहाँ पहले से ही करवा रखा था (स्त्रीपर्व, 12, 15-17)। धृतराष्ट्र ठहरे दोनों आँखों से नेत्रहीन। उन्हें क्या पता था कि उनका मनोभाव ताड़ लिया गया है और उसका बखूबी इंतजाम भी कर दिया गया है। सो प्रज्ञाचक्षु राजा ने उस मूर्ति को क्रोधावेश में अपने प्रख्यात दस हाथियों के बल के साथ अपनी बाँहों में दबोच दिया। दबोचा तो उस इरादे के साथ था कि मैं अपने पुत्रों के हत्यारे भीम को दबोचकर प्राणहीन कर दूँगा, पर कृष्ण को कुछ और ही मंजूर था। यानी धृतराष्ट्र ने

भीम की लौह प्रतिमा को दबोचकर तोड़ डाला और बदले में नेत्रहीन राजा की छाती में चोट लग गई और मुँह से खून निकलने लगा। (स्त्रीपर्व, 12, 17-18)। धृतराष्ट्र गिर पड़े और उनके स्वामीभक्त पर स्थितियों को समझनेवाले संजय ने उन्हें उठाया, यह कहते हुए कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था—'मा एवम्' (वही, 20)। इसके बाद धृतराष्ट्र ने यह समझा कि भीम तो गया, भीम को लेकर शोक करने लगे। शायद वेदव्यास भी नहीं समझ पाए कि धृतराष्ट्र वास्तव में शोक व्यक्त कर रहे थे या फिर शोक का नाटक कर रहे थे।

यानी वेदव्यास खुद बेशक न समझ पाए हों, पर उन्होंने अपने पाठकों को तो बखूबी समझा दिया है कि महाभारत काल के ये सभी पात्र किस कदर अपने अहंकारी और कपटी स्वभाव के बस में थे और उनमें इस स्वभाव को जताने के लिए वे मौके-बेमौके की भी परवाह नहीं करते थे। यहाँ तो खलनायक धृतराष्ट्र, जिन्हें कृष्ण ने उनका मनोभाव पढ़कर, उनके मन का खोट पकड़कर स्थितियों को सँभाल लिया। भीम बच गए। पर खुद भीम क्या कर रहे थे? वे भी उसी युग के एक महाअहंकारी व्यक्तित्व थे। जब डाँटने पर आते थे तो उन्हें यह परवाह भी नहीं रहती थी कि वे अपने ही बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर को डाँट रहे हैं (वनपर्व, अध्याय 33)।

यही भीम जब महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद युधिष्ठिर के राज्यारोहण के बाद परिस्थितियों के स्वामी हो गए तो वही धृतराष्ट्र, जो कल हस्तिनापुर नामक महाशक्तिशाली राजनीति के केंद्र के स्वामी रहे थे, अब पांडवों के आश्रित हो गए। यानी अब धृतराष्ट्र लेनदार थे और भीम देनदार और इन हालात का फायदा उठाकर भीम ने धृतराष्ट्र के हृदय को बींधकर रख देनेवाले वाग्बाण छोड़ने में कोई कंजूसी नहीं बरती (आश्रमवासिकपर्व, अध्याय 11)। अपने जीवन की चौथ में महाराजा धृतराष्ट्र वनगमन कर गए। कहने को तो वे तपस्या के इरादे से गए, पर उनके वनगमन के इस फैसले के पीछे भीम के वाग्बाण का क्या और कितना योगदान था इस पर अनुमान लगाने या न लगाने का फैसला कालद्रष्टा महाकवि वेदव्यास ने अपने पाठकों पर ही छोड़ दिया है और शायद अपने मौन से ही काफी कुछ कह दिया है। आगे चलकर धृतराष्ट्र, जो स्वयं नेत्रहीन थे और गांधारी, जिसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी, विवाह समय से ही और नेत्रहीन जैसी ही थी, दोनों ही जंगल में लगी आग में जलकर नष्ट हो गए। पांडवों की माता कुंती भी अपने जेठ-जेठानी के साथ यानी धृतराष्ट्र-गांधारी के साथ ही वनगमन कर गई थीं। वेदव्यास कहते हैं कि वे भी उसी आग में जलकर भस्म हो गईं (आश्रमवासिक

पर्व, 37, 31-32)। और धृतराष्ट्र और पांडु की पूरी-की-पूरी पीढ़ी का किस्सा उस प्रकार गहरे दु:खांत में परिलीन हो गया। सिर्फ विदुर बच गए, जो महाभारत युद्ध शुरू होने से पहले ही हस्तिनापुर छोड़कर बदरी वन चले गए थे।

अब उस पीढ़ी की बारी थी, जिसका एक हिस्सा यानी कौरव पक्ष पहले ही युद्ध में समाप्त हो चुका था। उसके दूसरे हिस्से ने यानी पांडवों ने वह सब देखा, जो हम इस आलेख के इस अध्याय में कह आए हैं। धृतराष्ट्र-गांधारी व पांडुपत्नी कुंती के देहावसान का समाचार पांडवों को मिला (आश्रमवासिक पर्व, अध्याय 37-39)। फिर उन्हीं पांडवों को यादवों की मूसल कथा, उनका परस्पर लड़कर विनष्ट हो जाना और भगवान् कृष्ण के परमधाम-गमन का समाचार मिला (मौसलपर्व, अध्याय 1)। उनके सभी भाई-बंधु उन्हीं के हाथों युद्ध में मार दिए गए थे। माता-पिता समान गांधारी-धृतराष्ट्र और माँ कुंती का भी देहावसान का समाचार उन्हें पहले ही मिल चुका था। अब पांडवों के लिए राज करने का या जीवन जीने का कोई मौलिक प्रयोजन बचा ही न था। कृष्ण ही उनके जीवन में अब नहीं रहे थे तो उस जीवन का कोई तात्पर्य उनके लिए रह नहीं गया था। अब पांडवों ने भी अपने इस जीवन को विदा कर देने का संकल्प धारण कर लिया।

संकल्प धारण कर युधिष्ठिर और भाइयों ने हस्तिनापुर का राज्य अपने पौत्र सुभद्रा-पुत्र परीक्षित को और इंद्रप्रस्थ का राज्य कृष्ण के पौत्र वज्र को सौंपकर वल्कल धारण किया और नगर से बाहर चले गए। उनके साथ एक कुत्ता भी चल पड़ा और अंत तक उनके साथ-साथ चलता रहा। पहले पूर्व और फिर पश्चिम जाकर समुद्र में डूबी द्वारका का अवलोकन किया और फिर उत्तर की ओर हिमालय यात्रा के लिए चल पड़े।

यहाँ पर वेदव्यास ने एक अध्याय (महाप्रस्थानिकपर्व का दूसरा अध्याय) बड़ी ही रोचक शैली में लिखा है। हिमालय की तरफ अपनी यात्रा में पांडव एक-एक कर गिरते गए और प्राण-त्याग करते रहे। हर बार भीमसेन अपने बड़े भाई युधिष्ठिर से उनके गिरने का कारण पूछते और युधिष्ठिर ने हर बार जो कारण बताया वह पढ़ने के बाद लगता नहीं कि आखिर क्यों महर्षि वेदव्यास ने प्रत्येक की मृत्यु का कारण बताया। क्यों? पहले कारणों को जान लें।

सबसे पहले द्रौपदी गिरी तो भीम ने युधिष्ठिर से द्रौपदी के गिरने और प्राण-त्याग का कारण पूछा तो युधिष्ठिर ने कहा कि कहने को तो द्रौपदी हम पाँचों भाइयों की पत्नी थी, पर उसका विशेष लगाव अर्जुन के प्रति था। फिर दूसरे सहदेव के गिरने और भीम द्वारा पूछे जाने पर युधिष्ठिर ने कहा कि सहदेव किसी

को अपने जैसा बुद्धिमान समझता ही नहीं था, इसलिए उसका पतन हो गया। यानी वह गिरा और मृत्यु को प्राप्त हो गया। नकुल के गिरने पर युधिष्ठिर ने कारण बताया कि वह स्वयं को सबसे ज्यादा सुंदर समझता था। स्वयं भीम गिरा तो पूछने पर युधिष्ठिर ने उसका कारण बताया कि वह खाता बहुत था और खाने के उस फेर में अपनी ताकत की डींग हाँकते हुए दूसरे (के खाने) का ध्यान ही नहीं रखता था। युधिष्ठिर तो खैर गिरे ही नहीं। वे हिमालय की चोटी पर पहुँच गए, जहाँ उन्हें सशरीर स्वर्ग ले जाने के लिए इंद्र अपना रथ लेकर आए। पर युधिष्ठिर अड़ गए कि यह कुत्ता भी उनके साथ स्वर्ग जाएगा। थोड़ा बहस-मुबाहिसा, इंद्र ने कुत्ते के साथ जुड़ी तमाम खराब बातें बताईं, पर जब युधिष्ठिर अड़े रहे तो कुत्ते का वेश धारण किए हुए धर्म ने अपना रूप प्रकट किया। युधिष्ठिर की खूब प्रशंसा वगैरह की और सभी स्वर्ग चले गए।

है न अजीबोगरीब कहानी! हर भारतीय को यह कहानी याद है। उन भारतीयों को भी, जो भारत में जनमे अपने धर्म-दर्शन को छोड़कर विदेशों से आए रिलीजन-मजहब आदि के अनुयायी बन चुके हैं, उन्हें भी यह कहानी अपने-अपने तरीके से याद है या फिर पता है। अब हम चाहें तो अपने उस सवाल पर लौट सकते हैं कि आखिर क्यों महर्षि वेदव्यास ने इस प्रकार के प्रसंग की रचना कर उसे पाठकों तक पहुँचाया?

हमारे बस में तो इस सवाल का जवाब है नहीं। जिन विद्वानों को इसका मर्म समझ में आया हो, वे बताएँगे तो हम भी सुनकर जान जाएँगे। कुत्ते से जोड़कर देखेंगे, जो वास्तव में धर्म का रूप था, तो थोड़ा-बहुत विवेक तो किसी का भी काम करना शुरू कर ही देगा। प्रबंधकाव्य को समाप्त करते-करते क्रांतद्रष्टा, प्रबंधकार महर्षि वेदव्यास ने युधिष्ठिर के आचरण के बहाने, इतना ही नहीं बल्कि धर्मराज युधिष्ठिर के कथनों का सहारा लेकर ही धर्म का मर्म समझाने का प्रयास किया है और हमारा मानना हो सकता है कि यह प्रयास वेदव्यास ने सफलतापूर्वक किया है और धर्म का वह मर्म इस तरह से समझ में आता है कि धर्म और कुछ नहीं (यह रिलीजन या मजहब तो खैर है ही नहीं, दूर-दूर तक नहीं है।), हमारा छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा आचरण ही यानी हमारा हर आचरण ही धर्म है। इसलिए अपने देश की परंपरा में जहाँ धर्म-दर्शन का उल्लेख लगभग हमेशा ही साथ-साथ एक साथ होता है। उसी प्रकार धर्म को अकसर बल्कि हमेशा, लगभग क्यों, हमेशा ही धर्माचरण इस तरह से कहा जाता है। यानी दर्शन और धर्म परस्पर जुड़े हैं तो हमारा आचरण ही धर्म है और मानो महर्षि वेदव्यास अपने प्रबंधकाव्य

महाभारत के महाप्रस्थानिकपर्व के दूसरे और तीसरे अध्यायों के जरिए हमारी आज की सदी के, इक्कीसवीं सदी के, भारत की ज्ञान परंपरा से अनजान नहीं, बल्कि उससे विमुख होकर भारत-विरोधी स्वर बोलनेवाले बुद्धिमान लोगों से कहना चाहते हैं कि धर्म की परिभाषा है हमारा आचरण, अर्थात् धर्माचरण। हमारा आचरण कैसा होना चाहिए, इस पर जितनी बहस करेंगे, पक्षपातहीन होकर बहस करेंगे, भारत की ज्ञान परंपरा को हृदय में धारण कर, बसाकर बहस करेंगे तो धर्म का मर्म समझ में यकीनन आएगा। यानी धर्म का मर्म धर्मनिरपेक्ष हो जाने में नहीं है, हमारे धर्माचरण में है।

□

बताओ तो महर्षि, क्या होता है धर्म?

अब अगला प्रश्न है, क्या होता है धर्माचरण? यानी क्या है आचरण? सवाल वहीं का वहीं है, क्या होता है धर्म, जो हमारे आचरण में झलकता है? यानी क्या होता है धर्म?

'महाभारत' पर हमारे आलेख को अब तक पढ़ने के बाद हमारे पाठक अनुमान लगा चुके होंगे कि वेदव्यास ने अपने इस कालजयी प्रबंधकाव्य में हजारों बार नहीं तो सैकड़ों बार 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया होगा। अनुमान यह भी लगा चुके होंगे कि व्यास ने कहीं भी इदमित्थं धर्म की कोई परिभाषा नहीं दी होगी। दोनों अनुमान सही हैं। इससे पहले के आलेखों में हम देख ही आए हैं कि क्रांतदर्शी प्रबंधकार वेदव्यास ने कैसे हर बार धर्म को लेकर एक नई बात कह दी है या पिछली कही बात को उसी तरह या थोड़ा अलग शब्दावली में दोहरा दिया है—अहिंसा धर्म है, अहिंसा परम धर्म है, करुणा धर्म है, नृशंसता न होना धर्म है, सत्य धर्म है, सत्य भाषण धर्म है, मर्यादा का पालन धर्म है, श्रेष्ठ आचरण धर्म है। इस तरह की न जाने कितनी ही अभिव्यक्तियाँ धर्म के बारे में पूरे 'महाभारत' प्रबंध में यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी हैं।

तो प्रश्न यह है कि धर्म के बारे में बार-बार और इतने प्रकार से कहनेवाले हमारे प्रबंधकार ने, महर्षि वेदव्यास ने धर्म की कोई इदमित्थं परिभाषा क्यों नहीं दी? न केवल प्रबंधकाव्यों में तथा अठारह महापुराणों में, बल्कि तमाम उपपुराणों में और समस्त शास्त्र साहित्य में भी न जाने कितनी बार यह सवाल पूछा गया पढ़ते

व सुनते हैं कि धर्म क्या है? और इसका उत्तर देने की जिनसे अपेक्षा रहती है उन गुरु या आचार्य ने इस प्रश्न का इदमित्थं दो-टूक उत्तर दिया हो, ऐसा पढ़ने-सुनने को प्राय: नहीं मिलता। इसलिए व्यास भी कोई अपवाद नहीं है, जो पूरे महाभारत प्रबंधकाव्य में धर्म की कोई दो-टूक परिभाषा नहीं देते हैं।

क्या कारण हो सकता है इसका? दो कारणों पर बहस हो सकती है। एक कारण यह हो सकता है कि वेदव्यास को या किसी भी धर्मवेत्ता गुरु और आचार्य को धर्म के बारे में इस तरह से पता ही न हो कि वे धर्म की दो-टूक परिभाषा दे पाने में सक्षम हो सकें। क्या यह संभव है? शायद ही कोई इसका उत्तर 'हाँ' में दे सकने का साहस जुटा पाए। जिन ऋषियों के मंत्र चारों वेदों में सुरक्षित हैं, उन्हें धर्म के बारे में कोई सटीक ज्ञान नहीं होगा कि उसकी दो-टूक परिभाषा दे सकें, कोई जाहिल ही ऐसा मानने का साहस जुटा पाएगा। जो वाल्मीकि अपनी 'रामायण' में राम को धर्म का ही मूर्तिमान आकार मानते हैं—'रामो विग्रहवान् धर्म:' और जो कृष्ण अपनी विश्वविख्यात 'गीता' में एकाधिक बार कहते हैं कि यही वह धर्म है, जो हमेशा रहनेवाला है, सनातन है—'एष धर्म: सनातन:' और जो भगवान् बुद्ध संबोधि प्राप्त होने के बाद ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मा की आज्ञा से 'धर्मचक्र प्रवर्तन' (धम्मचक्कप्पवत्तन) करते हैं, ऐसे ईश्वरीय मानव रूपों को धर्म के बारे में उस तरह से पता नहीं रहा होगा कि वे धर्म की दो-टूक परिभाषा दे सकें, ऐसा मान लेनेवाले की मंद अक्ल पर सिर्फ और सिर्फ तरस ही खाया जा सकता है। यानी पहला कारण तो माना ही नहीं जा सकता।

तो दूसरा कारण? दूसरा कारण यह हो सकता है कि हमारे देश के, इंडिया नहीं भारतवर्ष नामक हमारे देश में हर किसी को धर्म के बारे में इतना ज्यादा ठीक से पता है, इतना ज्यादा ठीक से स्पष्ट है, इतना ज्यादा ठीक से हृदयंगम है कि उसे धर्म की परिभाषा अलग से बताने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। हम पड़ोसी का धर्म निभाते हैं, हम गुरु का धर्म निभाते हैं, हम शिष्य का धर्म निभाते हैं, हम शासक का धर्म निभाते हैं। हम पति या पत्नी का धर्म, पिता या पुत्र का धर्म, व्यापार का धर्म और राजनीति का धर्म निभाते हैं। हम निभा रहे होते हैं, यह हमें पता होता है। नहीं निभा रहे होते हैं, यह भी हमें पता रहता है। ऐसा कभी नहीं होता कि हमें किसी लगी-बंधी धर्म परिभाषा की घुट्टी पिला दिए जाने के कारण धर्म की परिभाषा का पता होता है और इसलिए हम इसे निभाते चले जाते हैं, और न निभाने पर हम की केवल पकड़े जाते हैं बल्कि हम खुद ही खुद को पकड़ लेते हैं। यानी बेशक हमें धर्म की किसी परिभाषा की घुट्टी बचपन से ही न पिला दी

गई हो, पर धर्म क्या है, इसके अपरिभाषित उत्तर की घुट्टी हमें माँ के दूध के साथ ही पिला दी जाती है, जो फिर अहसास बनकर हमारे विचारों और अनुभूतियों का अटूट अंग हमेशा के लिए बनी रहती है।

यह बात आज से नहीं है, वैदिक काल से है। जो उत्साही लोग वेदों को हमारा धर्मग्रंथ कहकर उन्हें ईसाइयों की 'बाइबल' और मुसलमानों के 'कुरान शरीफ' के समकक्ष रखने का हास्यास्पद कर्म करते रहते हैं, उन बेचारों को यह पता ही नहीं कि वेदों में, चारों वेदों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग ही नहीं के बराबर है और जिन दर्जन-दो दर्जन जगहों पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग है, अगर उसका कोई एक सरीखा अर्थ हमें समझा दिया जाएगा तो हम आजीवन उनके कृतज्ञ कहेंगे। ठीक इसी तरह से कुछ उत्साही लोग हमारे देश के प्रबंधकाव्यों को, हमारे 'हिस्टोरिकल एपिक पोएम्स' को, यानी 'रामायण' और 'महाभारत' को हमारे धर्मग्रंथ कहने की हिम्मत जुटा लेते हैं, उन्हें भी यह सुन-जानकर बहुत दुःख होगा कि इन दोनों ग्रंथों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग तो सैकड़ों बार हुआ है, पर किसी भी धर्म की परिभाषा, हमारा मतलब है कि दो-टूक परिभाषा, सारे देश को मान्य एक वाक्य की परिभाषा कहीं भी नहीं दी गई।

इस पूरी पृष्ठभूमि से यह तो समझ में आ गया कि हमारे यहाँ धर्म की कोई एक वाक्य, एक पुस्तक, एक ईश्वरीय आकार मान लेनेवाली परिभाषा कभी नहीं रही। पर महर्षि वेदव्यास को यह कहाँ पता था कि उनकी ग्रंथ रचना के 5,000 साल के बाद हमारे अपने ही देश में पश्चिम-परस्त विद्वानों एवं बुद्धिमानों की एक ऐसी जमात खड़ी हो जाएगी, जिसका परिचय अपने देश से, अपने देश की परंपरा से, अपने देश की विचारधारा से नहीं के बराबर रह जाएगा। पर देश के दुर्भाग्यवश वही जमात राजसत्ता में बैठे आज के सांस्कृतिक धृतराष्ट्रों व दुःशासनों का राजनीतिक सहारा और समर्थन पाकर देश के मन व मस्तिष्क पर काबिज हो जाएगी कि वह इस देश के छात्रों को न तो वेद पढ़ने देगी, न प्रबंधकाव्य, न उपनिषदें, पुराण और दर्शनशास्त्र पढ़ने देगी और न ही इस देश की विचारधारा को केंद्र में रखकर कोई भी बौद्धिक गतिविधि होने देगी। उसी जमात ने देश को समझा दिया है कि जिसे पश्चिम 'रिलीजन' या 'मजहब' कहता है, उसी को हमारे यहाँ 'धर्म' कहते हैं। इस तरह का मन-मस्तिष्क बना दिए जाने के बाद इस देश के युवा मन में खलबली मची है कि जब रिलीजन का मतलब स्पष्ट है, मजहब का मतलब स्पष्ट है तो फिर धर्म का मतलब उस तरह से स्पष्ट क्यों नहीं है? इसीलिए अब हमारा प्रश्न वेदव्यास से है कि बताओ तो महर्षि, क्या होता है धर्म? क्या होता है उसका

सुपरिभाषित रूप, जिसे बता-समझाकर हम इक्कीसवीं सदी के भारत के युवा को ही नहीं, पश्चिम से आए रिलीजन और मजहब की आँधी के सामने समझदारी से खड़ा होने को उत्सुक जनसामान्य को भी संतुष्ट कर सकें? बताओ तो, महर्षि?

महर्षि वेदव्यास तो आज नहीं हैं। पर इस जिज्ञासा को जिज्ञासा ही रहने दिया गया तो इक्कीसवीं सदी के युवा मन और मस्तिष्क से तथा जिज्ञासु जनसामान्य से भी खासा अन्याय हो जाएगा। तो क्यों न एकलव्य को आदर्श मानकर आगे बढ़ा जाए? जैसे द्रोणाचार्य द्वारा शस्त्र-शिक्षा दिए जाने से मना कर देने पर एकलव्य ने द्रोण को मन-ही-मन गुरु धारण कर फिर उनकी प्रतिमा बनाकर शस्त्र का अभ्यास कर अपने को अर्जुन के समकक्ष धनुर्धर बना लिया था, वैसा कुछ हम भी कर सकते हैं। महर्षि वेदव्यास के सामने दो तरह के ग्रंथों की परंपरा थी। उनसे पूर्व 'रामायण' लिखी जा चुकी थी और उनके पास हजारों मंत्र यजुष, ऋचा और साम के रूप में यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद के हजारों मंत्र उपलब्ध थे, यानी तब तक की एक पूरी परंपरा उनके पास थी। इस दृष्टि से हम सौभाग्यशाली हैं कि हमारे पास वेदव्यास से भी अधिक लंबी बौद्धिक परंपरा की विरासत है। चार वेद हैं, रामायण व महाभारत ये दोनों प्रबंधकाव्य हमारे पास हैं। ब्राह्मण ग्रंथ हैं। उपनिषदें और आरण्यक हैं। अठारह महापुराण हैं, उपपुराण हैं, जैनपुराण हैं, जातक कथाओं की अद्भुत निधि है। दर्शन संप्रदायों की और भक्ति आंदोलन की विरासत है। धर्मशास्त्र हैं। आधुनिक काल के अपने विचारकों की विचार निधि हमारे पास है। तो क्यों न महर्षि वेदव्यास के योग्य शिष्य बनकर हम इस पूरी परंपरा में से इन सवालों के जवाब खँगालें कि क्या होता है धर्म? यानी क्या होती है उसकी एक वाक्य परिभाषा?

हम सिर्फ दोहरा भर रहे हैं कि वेदों में, चारों वेदों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है या नहीं के समान है। परंतु वेदों में वे सभी चिंताएँ, वे तमाम विमर्श, वे समस्त जिज्ञासाएँ हैं, जिन्हें बाद की पूरी परंपरा के निचोड़ के आधार पर 'दर्शन' और 'धर्म' नामक दो शब्दों में कह दिया गया है, उन्हें ही वेदों में 'ऋत' और 'सत्य' इन दो शब्दों के माध्यम से कहा गया है। ऐसा नहीं है कि इन दो शब्दों का प्रयोग चारों वेदों में वैसे ही सैकड़ों बार किया गया है, जैसा कि 'धर्म' शब्द का शतश: प्रयोग 'महाभारत' में है। पर एक बात स्पष्ट है। वह यह है कि जहाँ वेदों में 'धर्म' शब्द का अर्थ समझने के लिए उस मंत्र के उस संदर्भ के साथ उसे जोड़ना पड़ता है वहाँ वेदों में 'ऋत' और 'सत्य' इन शब्दों के अर्थ काफी हद तक स्पष्ट हैं और पढ़ते की समझ में आने जैसे हैं। मसलन 'सविता देवो नो धर्म साविषत्'

सविता देव हमारे धर्म का व्यवस्थापन करें (शुक्ल यजुर्वेद, 9.5), 'प्रजाभिर्जायते धर्मस्परि'—जो धर्म पर चलता है संतान उसी को मिलती है (ऋग्वेद, 6.70.3), 'धाम धर्मणा रोचते बृहत्' धर्म से श्रेष्ठ तेज की प्राप्ति होती है (ऋग्वेद, 10.65.5) इत्यादि। ऐसे ही कुछ, बस कुछ ही मंत्र और हैं। हालात स्पष्ट हैं कि अगर इस तरह समझ में आनेवाले धर्म और दर्शन शब्दों को ही वेदों से ढूँढ़ने की कोशिश में लग जाएँगे तो कितना सफल हो पाएँगे, हो पाएँगे या नहीं हो पाएँगे, यह सबकुछ संदेह के दायरे में है।

परंतु 'ऋत' और 'सत्य' इन दो शब्दों के अर्थों को वैदिक कवियों ने कई बार बहुत ही स्पष्ट करके अपने मंत्रों में बता दिया है। मसलन 'ज्योतिष्मंतं दिया ऋतस्य तिष्ठसि' (हे मनुष्य), तुम ऋत के प्रकाश-पुंज रथ पर सवारी करते हो (ऋग्वेद, 2.23.3), 'ऋतस्य सामन् रणयन्त देवा:' ऋत के गान से देवताओं को विशेष प्रसन्नता होती है (ऋग्वेद, 7.147 1), 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'= ऋत और सत्य का जन्म उस तप से होता है, जिसका प्रकाश सब जगह फैला हुआ है (ऋग्वेद, 10.190.1) इत्यादि और भी अनेक मंत्र हम यहाँ उद्धृत किए चले जा सकते हैं।

इन सबके आधार पर वैदिक विद्वानों का सर्वसम्मत निष्कर्ष यह है कि जहाँ हमारे प्राचीनतम पूर्वजों यानी वैदिक ऋषियों ने संपूर्ण ब्रह्मांड को नियमित रूप से पैदा करने, चलाने व संहार कर देनेवाली व्यवस्था को 'ऋत' नाम दिया है, वहाँ सामान्य मानव जीवन को सुचारु रूप से चलानेवाली व्यवस्था को 'सत्य' नाम दिया है और इन दोनों व्यवस्थाओं का अर्थात् 'ऋत' और 'सत्य' का उद्‌भव 'तपस्या' में से ढूँढ़ने का प्रयास किया है।

क्या ऐसा नहीं लगता कि 'धर्म' शब्द का सही और सटीक मतलब ढूँढ़ने की कोशिश में लगे हमने खुद को कहीं उलझा दिया है? उसका उत्तर हम 'हाँ' में दे ही नहीं सकते, क्योंकि 'धर्म' का मर्म समझना यानी धर्म को आसानी से समझ में आने वाला अर्थ समझना ही क़ौन सा आसान काम है। दो और दो चार वाला कोई सीधा-सादा गणित तो यह है नहीं। होता तो हमारे देश के तत्त्वज्ञों ने क्यों कहा होता कि धर्म का अर्थ ठीक से समझना है तो किसी गुफा में बैठकर तपस्या करो, क्योंकि धर्म तो वहीं गुफा में रहता है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। यह गुफा, यह तपस्या, यह गुफा में रहना, यह तपस्या करना इन सभी शब्दावलियों का संदेश समझ रहे हैं न आप? संदेश यह है कि अगर एक पुस्तक, एक ईश्वर-पुत्र या एक ईश्वर-दूत, एक उपासना विधि को जान भर लेना ही धर्म होता है, जैसा कि

पश्चिम के रिलीजनों और मजहबों को जानने-माननेवाले और उनके प्रतिनिधि बन चुके हमारे देश के कुछ बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग शोर मचा-मचाकर हमें समझा देना चाहते हैं और समझाने की कोशिश में भी लगे रहते हैं तो भारत का, भारत होने का फिर मतलब ही क्या होगा? 'कुछ बात हैं कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' का नारा ही फिर क्यों होता? 'गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे' (स्वर्ग में बैठे देवता भी भारत धरा पर पैदा होनेवालों को धन्य-धन्य कहकर भारत की स्तुति कर रहे हैं।) जैसा शाश्वत भारत गान ही फिर क्यों गाया जाता? ऐसा है तो उसका कारण हमारा धर्म ही तो है और वेदव्यास को ही मन में गुरु धारण कर उसका मर्म आज समझ लेना है। गुफा में जाकर तप: पूत ज्ञानचक्षुओं से उसे ढूँढ़ निकालना है।

और इस मिशन को पूरा कर लेने में वेदव्यास से बढ़कर हमारा गुरु और कौन हो सकता है? इसलिए कि वेदव्यास वह महाव्यक्तित्व हैं, वह क्रांतद्रष्टा हैं, वह महर्षि हैं जिनको अपने से पहले के 5,000 वर्ष के भारत में उपजी और विकसित हुई ज्ञान की पूरी-की-पूरी परंपरा हृदयंगम थी और उसे अपने ज्ञान व दर्शन से उन्होंने इस कदर और ज्यादा-ज्यादा समृद्ध कर दिया कि 5,000 साल तक यानी आज तक हम उसके प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। न हो रहे होते तो फिर हम क्यों आज की सदी, इक्कीसवीं सदी के भारत में पैदा हुए अधर्म-जनित व अधर्म-पोषित दार्शनिक, वैचारिक, राजनीतिक, वैधानिक आदि हर तरह के किस्म-किस्म के विकारों व विलापों का कारण व परिणाम जानने के लिए यहाँ तक कि समाधान की तलाश में भी व्यासदेव और उनकी महाभारत में इस कदर डूबे होते?

अपने देश में एक कथन खूब चलता है। यानी भारत के संस्कारों में पले हुए हर भारतवासी के मन में, अपने देश में उपजे हर जाति और संप्रदाय से जुड़े हर भारतवासी के मन में, नगरवासी, ग्रामवासी, वनवासी, गिरिजन कहलाए जानेवाले हर भारतवासी के मन में खूब चलता है और वह वाक्य है—'वेदो अखिलो धर्ममूल्यम्', अर्थात् वेद, संपूर्ण वेद ही धर्म का मूल यानी प्रसूतिस्थल यानी उत्पत्ति-स्थल है। अपनी हिंदी में कहें तो इस तरह से कहेंगे कि धर्म का मतलब तो वेदों को पढ़कर ही समझना होगा। वेदव्यास से बढ़कर जिन्होंने वेदों को वह शक्ल दे दी, जिसे हम आज तक आखिरी यानी 'अल्टीमेट' मानकर पिछले 5,000 साल से जी रहे हैं, ऐसे वेदव्यास से बढ़कर इसका मतलब और कौन जानता होगा?

कह आए हैं कि वेदों से धर्म का अर्थ समझने के लिए 'ऋत' और 'सत्य' इन दो शब्दों का अर्थ समझना होगा। वह अर्थ जिसके आधार पर इन शब्दों का

प्रयोग वेदों में किया गया है। अपने ही वाक्यों को, अपनी और अपने इस आलेख के पाठकों की सुविधा के लिए, दोहरा दें कि 'ऋत' का अर्थ है वह व्यवस्था जिसके आधार पर पूरा ब्रह्मांड, उसका प्रारंभ, विकास और समाप्ति, ऐसा पूरा ब्रह्मांड चलता है। और सत्य का अर्थ है वह व्यवस्था, जिसके आधार पर हमारा सांसारिक जीवन चलता है, यानी उत्पन्न होता है, विकसित होता है और फिर विनष्ट हो जाता है। एक ही वाक्य में कह दें तो जो कह सकते हैं कि हमारे जीवन का, हमारे संसार का संचालन सत्य से होता है तो उस पूरे ब्रह्मांड का संचालन ऋत से होता है। इसके बाद प्रश्न खड़ा हो गया कि यह ब्रह्मांड क्या है, यानी हमारा जन्म, जीवन, मृत्यु, जीवन-तत्त्व यानी चेतना यानी चैतन्य, जीवन के बाद यानी मृत्यु के उपरांत क्या? एक क्या अनेक प्रश्न खड़े हो गए। चारों वेदों, रामायण-महाभारत, उपनिषदों, पुराणों आदि में यत्र-तत्र, यहाँ-वहाँ इन प्रश्नों पर व्यवस्थित-अव्यवस्थित हर तरह से विमर्श होता रहा, हर दृष्टिकोण से वैचारिक चीर-फाड़ होती रही और फिर सदियों की यात्रा के बाद भगवान् बुद्ध के बाद की अनेक सदियों के दौरान इन प्रश्नों पर सांख्य-योग, बौद्ध-जैन, न्याय वैशेषिक, मीमांसा-वेदांत के ग्रंथों में, यानी वैचारिक मंचों पर इन प्रश्नों पर व्यवस्थित ढंग से विमर्श हुआ, शास्त्रार्थ हुए और उस दौर में आत्मा-परमात्मा, जीवन-मृत्यु, बंधन-मोक्ष, जीवनमुक्ति-भक्ति आदि पर ठोस निष्कर्ष निकाले गए, सिद्धांत बनाए गए। उस संपूर्ण विचारधारा को हमारे यहाँ 'दर्शन' कहा गया, जिसे वेदों में ऋत कहा गया था। वैदिक 'ऋत' की 'दर्शन' तक की यह यात्रा बड़ी ही रोचक, रोमांचकारी और भारत के स्वरूप-निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभानेवाली रही है।

यह तो हुई 'ऋत' से 'दर्शन' तक की यात्रा। और सत्य? वेदों में जिसे हमारे सांसारिक जीवन का, हमारे रोजमर्रा के जीवन का, हमारे दैनंदिन जीवन का नियामक हेतु या परमकारण माना गया है, उस 'सत्य' का क्या हुआ? उसका विकास किस रूप में और कैसे हुआ! जानना चाहते है जो जानिए कि जैसे 'ऋत' का विकास 'दर्शन' में हुआ, वैसे ही 'सत्य' का विकास 'धर्म' में हुआ। जिसे वेदों में 'ऋत' कहा गया, वह हमारे जेहन में अब दर्शन शब्द के रूप में बसा हुआ है। वहीं वेदों का संसार-नियामक तत्त्व 'सत्य' हमारी जेहन में 'धर्म' शब्द बनकर बसा हुआ है। फर्क सिर्फ कालक्रम का है, तत्त्व की मौलिकता में नहीं। जहाँ वैदिक 'ऋत' को दर्शन की यात्रा करने में सदियाँ नहीं, सहस्राब्दियाँ लग गईं, वहीं 'सत्य' शब्द का धर्म में शब्दांतरण वैदिक काल में ही होना शुरू हो गया था। हालाँकि उसमें भी आठ-नौ सदियाँ तो लगा दी गई होगी। सामवेद के समकालीन वाल्मीकि अगर राम

को 'विग्रहवान धर्म:' कर रहे हैं और अथर्ववेद के समकालीन वेदव्यास अगर अपने प्रबंधकाव्य में बार-बार 'एष धर्म: सनातन:' कह रहे हैं तो जाहिर है कि कुछ सदियों की यात्रा में ही हमारे पूर्वजों ने वैदिक 'सत्य' को, हमारे संसार और हमारी जीवन-यात्रा के नियामक तत्त्व को 'धर्म' की शब्द काया दे दी थी।

यानी वैदिक ऋषियों ने हमें 'ऋत-सत्य' का बोध कराया तो उसी धारणा को, उसी अवधारणा को हमने दर्शन-धर्म की शब्द काया के रूप में सदियों से, सहस्राब्दियों से हृदयंगम कर रखा है और उच्चारण की सुविधा के हिसाब से जिसे भाषा-विज्ञान में 'मुख-सुख' कहते हैं, हम उसे न जाने कब से 'धर्म-दर्शन' कहते चले आ रहे हैं। कैसे वेद हमारे जीवन के मर्म को जानने का स्रोत हैं और कैसे वाल्मीकि और वेदव्यास ने हमें उस मर्म को तरीके से हृदयंगम करने का रास्ता दिखाया है, इस पर किसी को अलग राय जतानी हो तो उसका मौका अभी है, क्योंकि आगे हम उससे भी अधिक महत्त्व से भरी बात कहने जा रहे हैं।

ऊपर हम ऋग्वेद के ऋषि का कथन (1.47.1) उद्धृत कर आए हैं कि 'ऋत' और 'सत्य' का अधिष्ठान तप यानी तपस्या में है, यानी इन दोनों की प्राप्ति तपस्या से होती है। अपने इस आलेख में अंबा को कुरू कुलवधू मानें या न मानें, इस प्रश्न के विवेचन में हम तपस्या के बारे में कुछ कह आए हैं। यानी पुन: कहने की, दोहराने की जरूरत नहीं है कि तपस्या क्या होती है। हम भारतवासियों को, यानी भारत में जनमे धर्म-दर्शन को जानने-समझनेवाले हम भारतवासियों को 'तपस्या' शब्द का अर्थ बताने की जरूरत है क्या? नहीं है, क्योंकि तपस्या हमारे विचारों में, भावनाओं में, धर्म-कर्म में आकाश और उसके नीलेपन की तरह, फूल और उसकी खुशबू की तरह, पानी और उसकी ठंडक की तरह ऐसी घुली-मिली है कि उसे समझने के लिए हमें सौ मीटर तो क्या एक मीटर की दौड़ या बाधा दौड़ में भी हिस्सा लेने की जरूरत नहीं होती।

तपस्या का जो भी अर्थ हमारे जेहन में बसा है, उसका रिश्ता सात्त्विकता से है, कठोर प्रशिक्षण से है, खुद को हालात से ऊपर उठाने की संकल्प-शक्ति से है। वेद कहते हैं कि 'ऋत' और 'सत्य' यानी 'दर्शन' और 'धर्म' का अधिष्ठान, आवास, निवास, यानी अस्तित्व का संबंध तपस्या से है। जैसे-जैसे ऋत की विकास-यात्रा दर्शन की ओर बढ़ी, सत्य का क्रमश: कायाकल्प धर्म में हुआ, उसी दौर में भारत की जीवन-यात्रा के इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दौर में विश्वामित्र, वाल्मीकि, वेदव्यास, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य सरीखे ईश्वर-तुल्य हमारे महापुरुषों की विचारधारा के दौर में यह अवधारणा बनी और क्रमश: प्रतिष्ठित हो गई कि अगर

'दर्शन' का संबंध हमारे जीवन के भूत, भविष्य, वर्तमान के मर्म पर गहन विचार और गहन विमर्श करने से और उस प्रक्रिया में जीवन, बंधन, मोक्ष संबंधी कुछ ठोस निष्कर्ष, परिणाम अथवा जीवन लक्ष्य वर्णन से है तो धर्म का संबंध हमारे जीवन के उस आचरण से है, जिसे अपनाकर हम अपना विकास इस हद तक कर लेते हैं कि हम स्वयं को दर्शन द्वारा प्रतिपादित कारकों को पा लेने योग्य बना सकें।

क्या ऐसा नहीं लगता कि बात सिर के ऊपर से निकल गई है? यदि हमने वेदव्यास को गुरु मानकर अपने दर्शन और धर्म संबंधी विचारों को काया देनी है तो हमें महाभारत की शैली का अच्छे शिष्य की तरह अनुकरण करना और हर कठिन बात को भी आसानी से समझ में आ जाने योग्य शैली में कहना ही चाहिए। तो क्यों न एक कोशिश फिर से कर ली जाए? तो फिर से उसी बात को कहा जाए, यानी प्रकारांतर से दोहरा दिया जाए तो हम कहना इस तरह से और कहना यह चाहेंगे कि भारत के दार्शनिकों ने जीवन के जो निष्कर्ष सदियों-सहस्राब्दियों के गहन दार्शनिक चिंतन-मनन-निदिध्यासन के आधार पर उस देश के लोगों को समझाए हैं, उनका संबंध जीवन, जीवन के संस्कार, उन संस्कारों के आधार पर बननेवाला जीवन और पुनर्जीवन, कर्म, कर्मफल, मृत्यु, बंधन, मोक्ष, आत्मा, परमात्मा, आत्मा-परमात्मा का संबंध, जीवन्मुक्ति, भक्ति जैसे आदर्शों व लक्ष्यों से है। जीवन के ये आदर्श, जीवन के ये लक्ष्य अथवा एक ही शब्द में कहें तो जीवन के ये आदर्शोन्मुख लक्ष्य कैसे समझ व प्राप्त किए जा सकते हैं, ताकि हमारा जीवन हर हिसाब से, सांसारिक व पारमार्थिक हर हिसाब से, समृद्ध, सात्त्विक व कर्मशील रहे। इसके लिए किया जानेवाला हमारा आचरण ही हमारा धर्म है। जीवन के आदर्शोन्मुख लक्ष्यों का परिचय हमें दर्शन से होता है। उस पर आचरण के हमारे मानदंडों का परिचय हमें धर्म से होता है। दर्शन का प्रयोजन हमें जीवन के उदात्त लक्ष्यों से हमारा परिचय करवाना है, उनका बोध कराना है तो धर्म का प्रयोजन उन उदात्त लक्ष्यों को पाने के हमारे आचरण से है। यानी दर्शन का रिश्ता हमारे विचारों से है तो धर्म का रिश्ता हमारे आचरण से है। इसलिए हमारे देश में धर्म-दर्शन हमेशा एक साथ रहते हैं, अविभाज्य हैं, एक-दूसरे से संपृक्त हैं। समझ लिया जाए कि जिस ज्ञान को आचरण में न लाया जा सके, वह ज्ञान दर्शन नहीं और जो आचरण ज्ञान-प्राप्ति में सहायक नहीं है, वह आचरण धर्म नहीं। यह निर्विवाद अवधारणा भारत की है, भारत की अपनी है। पश्चिम में ऐसा नहीं है। वहाँ धर्म और दर्शन का आपस में कोई रिश्ता या नाता नहीं है। है क्या?

विचार और आचरण के इस आपसी रिश्ते को यानी दर्शन और धर्म के इस

पारस्परिक संबंध को ठीक से समझना है तो वह काम वेदों द्वारा प्रयुक्त किए गए शब्द 'तप' को समझे बिना हो ही नहीं सकता। जैसा लक्ष्य वैसा आचरण। जितना बड़ा लक्ष्य, उतना कठिन आचरण। अगर जीवन लक्ष्यहीन है तो जाहिर है कि वह आचरणहीन ही रहने वाला है। लक्ष्य तामसिक हैं, चोरी-चकारी के हैं, शासन-सूत्र हाथ में आते ही लूट-पाट करने के हैं—जैसा कि हमारे आज के कुछ राजनेताओं के हैं—तो इनका आचरण अर्थात् धर्म भी तामसिक ही रहेगा। लक्ष्य जितना अधिक सात्त्विक, कठिन और विचारपूर्ण होंगे, हमारे धर्माचरण को भी उतना ही सात्त्विक, कठिन और विचारपूर्ण होना पड़ेगा। नशाखोरी करने का आचरण है तो ध्यान का, मेडिटेशन का लक्ष्य और उसके माध्यम से जीवन-मृत्यु के मर्म समझने का लक्ष्य आप पा ही नहीं सकते। आचरण धर्महीन है, अर्थात् तामसिक है, तो उस अधर्म में से स्त्री सम्मान जैसा उदात्त लक्ष्य हासिल हो ही नहीं सकता।

हमारा आचरण हमारी तपस्या का पर्यायवाची है। जैसा लक्ष्य वैसा आचरण यानी वैसी तपस्या। इसलिए ऋग्वेद का यह कथन कितना सारगर्भित नजर आता है कि 'ऋत' यानी दर्शन का और 'सत्य' यानी धर्म यानी आचरण का अधिष्ठान तपस्या में है। सौ-सौ धृतराष्ट्र-पुत्रों में से कौन धर्माचरणवाला था, कहना कठिन है। 'महाभारत' से अगर कुछ पता चलता है तो इतना भर कि वे सभी अधर्मी थे, सभी का आचरण तामसिक था। फर्क था तो सिर्फ डिग्री का ही था। उधर पाँचों पांडव धर्माचरणवाले थे। यहाँ भी विडंबना क्या है कि धर्मराज तो युधिष्ठिर हैं, पर 'महाभारत' में तपश्चर्या करते हुए सिर्फ अर्जुन को ही दिखाया गया है। हम यह सब न भी करें तो भी बिना कहे ही समझ में आ जाता है कि क्यों पूरे महाभारत प्रबंध में व्यास का ही नहीं, योगेश्वर कृष्ण का भी पक्षपात का पलड़ा सिर्फ और सिर्फ अर्जुन की ओर ही झुका नजर आता है। धर्माचरण की ऊँचाई को अंततः प्रत्येक को स्वीकार करना ही पड़ता है। उसी से इस रहस्य का अर्थ किया है कि क्यों श्रेष्ठ आचरण का अधिष्ठान उसी तरह तपस्या में माना गया है जैसे श्रेष्ठ जीवन-लक्ष्यों का अधिष्ठान तपस्या में है? जीवन-लक्ष्यों की श्रेष्ठता और जीवन व तदनुरूप आचरण की श्रेष्ठता, इन दोनों का अधिष्ठान अगर तप में है तो हमारा पूरा-का-पूरा इतिहास साक्षी है कि ऐसा कठोर तप जिस किसी ने भी किया है, प्रायः करके अपनी युवावस्था में ही किया है या फिर कुछ उदाहरणों में गृहस्थ और जीवन के सभी दायित्व संपन्न कर लेने के बाद किया है। यदि इस तरह की तपस्या के इतिहास का प्रारंभ अयोध्या के महाराज ऋषभदेव के साथ ही हो जाता है तो भगीरथ, राम, कृष्ण, अर्जुन आदि के राजमार्ग से होते हुए अरविंद और

विवेकानंद तक इस इतिहास का प्रवाह अविराम चल रहा है और न जाने कब तक, शायद अनंत काल तक चलता रहनेवाला है, क्योंकि भारत के युवा के संस्कारों में राम, कृष्ण, बुद्ध, गुरु गोविंद, विवेकानंद आदि सहज व स्वाभाविक रूप से बसे हुए हैं।

आज देश के गुरु और आचार्य, जिन्हें आजकल खुद को बुद्धिजीवी कहलवाया जाना ज्यादा पसंद आने लगा है, युवा को उसके आदर्श व्यक्तित्वों से जोड़ पाए तो देश में तप में अधिष्ठित ऋत और सत्य की यानी दर्शन और धर्म की यानी उदात्त जीवन-लक्ष्यों और आचरण की सरिताओं को अनवरत बहने से कौन रोक पाएगा भला? इसलिए दारोमदार युवाओं पर है तो युवाओं का दारोमदार गुरुजनों पर है। युवा तो तैयार हो रहे नजर आते हैं, पर क्या गुरु वैसा कहलवाए जाने को और वैसा मिशन अपनाने को तैयार हैं? इसलिए इस आलेख के अंत में अब सवाल महर्षि वेदव्यास पूछ रहे हैं कि हे गुरुजन! बताओ तो क्या है आपका धर्म?

□

लेकिन विदुर नहीं देते कोई दिलासा

तो धर्म की जो परिभाषा हमें वैदिक ऋषि-कवियों, वाल्मीकि-व्यास सरीखे प्रबंधकार-महर्षियों, परवर्ती उपनिषदकारों, दार्शनिकों, संतों और अरविंद-विवेकानंद-गांधी सदृश आधुनिक विचारकों के कथनों व व्याख्याओं आदि के आधार पर मिली और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिलती रही है, धर्म की उस परिभाषा के आधार पर व्यास की कठिन परीक्षा में कौन पास हुआ और कौन नहीं? पर व्यास ने जब स्वयं अपनी ओर से धर्म की कोई इदमित्थं परिभाषा दी ही नहीं तो हम उनसे यह उम्मीद भला कैसे लगा सकते हैं कि वे हमें दो-टूक बता देंगे कि यह रहा मेरा आदर्श धर्म-पुरुष?

इसके बावजूद हम क्रांतदर्शी प्रबंधकार वेदव्यास से यह उम्मीद लगाए हुए हैं तो इस उम्मीद के लिए जमीन भी तो खुद वेदव्यास ने हमें उपलब्ध कराई है। सिर्फ इतना ही नहीं है कि वेदव्यास ने एक लाख श्लोकोंवाले अपने महाभारत प्रबंधकाव्य में शतशः 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है और हर बार संदर्भ को ध्यान में रखकर इस शब्द का सार्थक प्रयोग किया है, बल्कि पात्रों की भीड़ में से वेदव्यास ने कम-से-कम तीन पात्र ऐसे हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें वे धर्म के संदर्भ में ही प्रायः प्रस्तुत करते हैं और इसलिए हमें भी आकर्षण हो रहा है कि उन तीन पात्रों की धर्म संबंधी सफलता-असफलता को लेकर वेदव्यास उन्हें कितने अंक दे देना चाहते हैं?

कौन से हैं वे तीन पात्र? हम जिन तीन पात्रों पर मौजूदा और अगले दो

अध्याय लिखने वाले हैं, एक पात्र पर एक अध्याय, वे तीन पात्र हैं—विदुर, युधिष्ठिर और कृष्ण, जिनका मूल्यांकन वेदव्यास के हिसाब से धर्म और सिर्फ धर्म के संदर्भ में किया जा सकता है। वे जब भी विदुर का नाम लेते हैं, हर बार तो नहीं, पर प्रायः विदुर को 'धर्मात्मा' कहकर या धर्म के साथ संदर्भ को जोड़कर पुकारते हैं। 'महात्मा' शब्द का प्रयोग भी वेदव्यास ने विदुर के लिए कई बार किया। जाहिर है कि विदुर को 'महात्मा' कहलाया जाना भी विदुर के धर्मात्मा विरुद को ही गुणात्मक तरीके से बहुत ज्यादा वजनदार बना देता है। दूसरे पात्र हैं युधिष्ठिर, जो धर्मराज ही हैं। जब वे धर्मराज ही हैं और वेदव्यास उन्हें कई बार धर्मराज ही कहते हैं तो क्यों न मान लिया जाए कि वे युधिष्ठिर का मूल्यांकन धर्म के संदर्भ में ही किया जाना चाहते हैं। तीसरे पात्र हैं कृष्ण, जिनके साक्षात् ईश्वरीय व्यक्तित्व, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के प्रति वेदव्यास श्रद्धा से झुके हुए हैं तो कृष्ण को धर्म-संस्थापक बताकर वेदव्यास ने स्पष्ट कर दिया है कि विष्णु के संपूर्ण अवतार का मूल्यांकन भी वे धर्म के संदर्भ में ही करना चाहते हैं।

तो सबसे पहले विदुर। पांडु और धृतराष्ट्र को हम परस्पर दो भाई मानते हैं, पर प्रायः याद नहीं रख पाते कि विदुर भी उनके ही भाई थे, तीसरे भाई। सत्यवती के दो पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य चल बसे और कुरुकुल का कोई वंशधर शेष नहीं बचा। भीष्म ने शासन की बागडोर सँभालने का अनुरोध इस आधार पर ठुकरा दिया कि उन्होंने शांतनु-सत्यवती विवाह के मौके पर जो प्रतिज्ञा (भीष्मप्रतिज्ञा) की थी उसका यह अर्थ भी था कि वे किसी भी परिस्थिति में राज का पद ग्रहण नहीं करेंगे। तब सत्यवती ने कृष्ण द्वैपायन नामक पुत्र को बुलाया। कृष्ण द्वैपायन, जो आगे चलकर वेदव्यास के रूप में प्रसिद्ध हुए, सत्यवती को पराशर मुनि से प्राप्त हुए थे, जब वह पिता के घर में रहती थी और यात्रियों को नाव में बिठाकर यमुना पार कराया करती थी। तब वह अविवाहिता थी। पराशर मुनि से सत्यवती को ऐसे ही नदी पार करवाते समय संतान की प्राप्ति हो गई थी, जिस पर हम पहले ही विस्तार से लिख आए हैं।

सत्यवती ने कृष्ण द्वैपायन को सारी स्थिति स्पष्ट की और कहा कि वे अंबिका और अंबालिका से नियोग प्रथा का सहारा लेकर सहवास कर संतान उत्पन्न करें। तत्कालीन समाज और सामाजिक प्रथाओं का वेदव्यास से बढ़कर ज्ञाता और कौन हो सकता था! माँ की आज्ञा मानकर जब व्यास ने अंबिका और अंबालिका से क्रमशः सहवास किया तो व्यास के महाकुरूप चेहरे को देखकर दोनों डर गईं। एक ने, यानी अंबिका ने, डर के मारे आँखें बंद कर लीं तो उसका

पुत्र अंधा हुआ, जो धृतराष्ट्र कहलाया। दूसरी यानी अंबालिका डर के मारे पीली पड़ गई, जो उसका पुत्र पीला पैदा होने के कारण पांडु कहलाया। ये दोनों पुत्र ऐसे होंगे, इस बात का विवरण यानी भविष्यवाणी के रूप में व्यास ने कारण-परिणाम सहित अपनी माँ सत्यवती को बता दिया।

परेशान सत्यवती ने फिर से अंबिका से ऋषि व्यास से समागम करने को कहा। अंबिका तो वैसे ही डरी हुई थी और उसने डर के मारे अपने बदले में अपनी एक दासी को व्यासदेव के पास भेज दिया, जिसने बड़ी ही प्रसन्नता से वेदव्यास से सहवास कर उनकी प्रसन्नता भी प्राप्त कर ली। वेदव्यास ने उस दासी को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा पुत्र बड़ा ही धर्मात्मा और समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा। हम यह सारी कथा अपने इस आलेख में बता आए हैं। न भी बताई होती तो भी 'महाभारत' के आदिपर्व (अध्याय 103-104) में खुद व्यास ने ही जिस कथा का रिकॉर्ड कर रखा है, वह कथा हम भारतवासियों को पूरे विस्तार के साथ याद है, श्रुति परंपरा से याद है।

अर्थात् धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर एक ही पिता की संतान होने के कारण परस्पर भाई थे; परंतु जैसा कि महाभारत काल में चलन था, व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके पिता नहीं, माता के कारण होता था। व्यास के पिता पराशर थे, ब्राह्मण थे, पर स्वयं वेदव्यास शूद्र माने गए, क्योंकि उनकी माँ सत्यवती शूद्र जाति की थीं। वेदव्यास शूद्र हुए, पर उनके द्वारा प्राप्त तीन संतानों में से दो—धृतराष्ट्र और पांडु—क्षत्रिय माने गए, क्योंकि वे क्षत्रिय माताओं के जाये थे; जबकि उन्हीं के भाई विदुर दासी-पुत्र होने के कारण शूद्र माने गए। परंतु उस समय व्यक्ति के निर्धारण व उसके मूल्यांकन में जाति नहीं, उसकी योग्यता-अयोग्यता ही कसौटी बनती थी। इसलिए वेदव्यास महर्षि हुए, वेदों के संहिताकार हुए। धर्म और धर्मशास्त्र के परम ज्ञाता के रूप में तत्कालीन समाज में उनकी जो प्रतिष्ठा हुई, वह समय बीतने के साथ लगातार बढ़ी है। उधर दासी-पुत्र यानी शूद्र होने के बावजूद विदुर की तत्कालीन समाज में धर्म के ज्ञाता व धर्मात्मा के रूप में जो प्रतिष्ठा हुई, राजनीति के परम विशारद विद्वान् के रूप में जो प्रतिष्ठा हुई, ऐसी संपूर्ण प्रतिष्ठा का पात्र विदुर आज तक बने हुए हैं।

परंतु शूद्र होने के कारण कुछ नुकसान भी विदुर को हुए। विद्वत्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा के शिखर छू लेनेवाला व्यक्तित्व होने के बावजूद विदुर को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं माना गया; पर विदुर जब तक धृतराष्ट्र के साथ रहे, उसके प्रधान सलाहकार बनकर रहे। बाद में जब युधिष्ठिर हस्तिनापुर

के सम्राट् हुए तो उन्होंने विदुर को अपना प्रधानमंत्री बनाया। यह तो हुआ विदुर का प्रोफाइल। अब बात धर्म के संदर्भ में कर ली जाए, जिस समस्या से हम इस अध्याय में विदुर को लेकर वास्तव में दो-चार हो रहे हैं।

ऐसा लगता है कि अंबिका और अंबालिका से सहवास के बाद वेदव्यास उन दोनों राजमहिषियों के व्यवहार से खास प्रसन्न नहीं थे। दूसरी बार जब वेदव्यास अंबिका द्वारा अपने पहले से भेज दी गई उसकी दासी से मिले तो दासी ने उन्हें इतना अधिक प्रसन्न किया कि उससे सहवास के बाद वेदव्यास ने खुले दिल से आशीर्वाद दिया कि 'शुभे, तेरे उदर में एक अत्यंत श्रेष्ठ बालक आया है। वह लोक में धर्मात्मा और समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा।' (आदिपर्व, 105, 27))। यह आशीर्वाद विदुर के लिए ही था। आगे चलकर वेदव्यास ने विदुर को 'धर्मराज' का अवतार ही मान लिया, जिन्हें अभी मांडव्य मुनि के शाप का फल भोगने के लिए पृथ्वी पर एक जन्म लेना था (वही अध्याय, 107)।

जाहिर है कि वेदव्यास विदुर को धर्म का ही रूप मानते हैं। युधिष्ठिर की तरह वे भी धर्मराज हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि जहाँ युधिष्ठिर धर्मराज का कुंती को मिला एक वरदान सरीखा पुत्र हैं, वहीं विदुर मांडव्य से मिले शाप को भुगतने को विवश धर्मराज का रूप हैं, धर्मराज ही हैं। ठीक वैसे ही जैसे भीष्म आठ वसुओं में से एक वसु हैं और उस वसु के एक अभिशप्त जीवन पूरा करने के लिए पृथ्वी पर आए थे।

इसमें किसी को शक की कोई गुंजाइश ही नहीं कि विदुर ने सारा जीवन धर्मपूर्वक जिया। धृतराष्ट्र ने विदुर को अपना सलाहकार बनाया था और विदुर ने उसे जो भी सलाह दी, हमेशा धर्म पर आचरण करने की ही सलाह दी। पाठकों को जो सभी विदुर-दृष्टांत पहले से ही पता हैं (क्या करें, अपने देश में जनमे लोगों को, कइयों को तो विदेशों से भारत में आयात हुए धर्मों का अनुयायी बन जाने के बावजूद अपने देश की कौन सी घटना या कथा कहानी है, जिसका पता उन्हें नहीं है? अपने देश की सभ्यता की बात ही कुछ ऐसी निराली, अद्भुत है) उन्हीं दृष्टांतों के सहारे ही विदुर का आकलन करना होगा कि वे धर्म के आदर्श के मानदंड पर कहाँ ठहरते हैं।

यानी विदुर ने धृतराष्ट्र को और उस प्रज्ञाचक्षु राजा के जरिए उसके अहंकारी व ईर्ष्यालु पुत्रों को भी हमेशा धर्म का रास्ता बताया। जो शिकायत वेदव्यास की आजीवन रही कि लोग धर्म पर आचरण नहीं करते, वही शिकायत विदुर को हस्तिनापुर के राजभवन में रहते हुए, एक अति महत्त्वपूर्ण पद पर यानी सम्राट् के

सलाहकार के पद पर रहते हुए रहती ही होगी कि धृतराष्ट्र और उनके पुत्र उनकी कोई सलाह नहीं मानते। और अपनी इस बाधा का कारण वे अपने शूद्र होने को भी मानते थे, जैसा कि उन्होंने एक बार कह भी दिया (उद्योगपर्व, 41.5)। परंतु वे अपनी इस जन्मगत विवशता से ज्यादा आक्रांत प्राय: रहे नहीं और उन्होंने धृतराष्ट्र को प्राय: हमेशा जिस स्पष्टवादिता से सलाह दी, वह विदुर के श्रेष्ठ आचरणवाले धर्मात्मा व्यक्तित्व को ही हर वक्त रेखांकित करता है। जरा एक नमूना तो देखिए।

धृतराष्ट्र ने विदुर को सलाह के लिए बुलाया। विदुर आ गए। यह बात तब की है, जब कौरव-पांडवों के बीच हुई महाभारत युद्ध की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं। पांडवों ने उपप्लव्य में अपना केंद्र बना रखा था और लगभग सात अक्षौहिणी सेना उनके साथ हो चुकी थी। धृतराष्ट्र युद्ध से तो नहीं घबरा रहा था, सात अक्षौहिणी सेना उसके लिए भय का कारण नहीं थी। उसे डर था तो सिर्फ दो लोगों से—कृष्ण और अर्जुन से। इसलिए उसने दोनों पक्षों को प्रिय संजय को दूत बनाकर भेजा और शांति के लिए सिर्फ अपील भर की, कोई प्रस्ताव नहीं भेजा। उसी बात को पहले युधिष्ठिर और फिर कृष्ण ने पकड़ लिया और कहा कि बिना इंद्रप्रस्थ लौटाए शांति का कोई मतलब नहीं है और हमारी सेना तो युद्ध के लिए तैयार ही है। युधिष्ठिर ने अलबत्ता अपनी ओर से अपने स्वभाव के अनुसार यह भी जोड़ दिया कि अगर महाराज धृतराष्ट्र हम पाँच भाइयों को अविस्थल, वृकस्थल, माकंदी, वारणावत और पाँचवाँ कोई भी अपनी इच्छानुसार एक गाँव—इस तरह से पाँच गाँव दे देंगे तो भी हम शांति स्वीकार कर लेंगे—शांतिर्नोऽस्तु (उद्योगपर्व, 31, 19-20)

संजय लौट गए। लौटे क्या, पांडवों के पूरे व्यवहार को और शक्ति को देखकर पांडवों के प्रवक्ता जैसे बनकर लौटे। आकर धृतराष्ट्र से जो कहा, जो कृष्ण और युधिष्ठिर की ओर से प्रतिसंदेश दिया, उससे धृतराष्ट्र के कान खड़े हो गए। विदुर जब बुलाए जाने पर आ गए तो धृतराष्ट्र ने उनसे कहा कि संजय आया था और मुझको ही भला-बुरा कहकर चला गया है। अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?

इस पर विदुर ने धृतराष्ट्र से आठ अध्यायों (उद्योगपर्व, 33-40) के अपने लंबे उत्तर में जो कहा, वह कोई निर्भीक व धर्मपरायण व्यक्ति ही कह सकता है। पूरी बात विदुर ने इतने सटीक ढंग से कही कि ये आठ अध्याय (उद्योगपर्व, 33-40) हमारी राजनीतिशास्त्र की परंपरा में 'विदुर नीति' के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। पर धृतराष्ट्र के पास आते ही विदुर ने जो कहा, वह दोहराने लायक है। कहा कि हे

राजन्, जिसकी बलवान से दुश्मनी हो गई हो या जिस दरिद्र का बचाखुचा बाकी सभी कुछ भी हर लिया गया हो, जो हालत उसकी होती है कहीं आपकी हालत वैसी तो नहीं है? (33, 13-14)। कोई सलाहकार अपने राजा को इससे स्पष्ट या कटु और क्या कह सकता है? यही वह निर्भीकता व स्पष्टवादिता है, जो विदुर को धर्मात्मा बनाती है।

यही स्पष्टवादिता विदुर ने तब भी दिखाई थी, जब द्रौपदी को जुए में युधिष्ठिर द्वारा हार जाने के बाद कुरु राजसभा में लाया गया था। उसने आते ही पूछा था कि यहाँ बैठे सभी वयोवृद्ध शूरवीर बताएँ कि राजा युधिष्ठिर पहले स्वयं को हारे थे या पहले मुझे हारे थे, यानी क्या मैं धर्मपूर्वक जीती गई? उस मर्मभेदी पर सटीक सवाल पर जब सभी चुप बैठे रहे तो विदुर ही थे, जिन्होंने भरी सभा में विकर्ण के साथ अपनी आवाज भी बुलंद की कि सभी सभासद द्रौपदी द्वारा उठाए गए धर्मसम्मत प्रश्न का उत्तर दें (सभापर्व, 68, 61-62)। पर जब सबके मुँह पर कौरवराज के वेतन की पट्टी बँधी हो तो कोई कैसे जवाब देता?

वैसे तो जुआ खेले जाते वक्त भी विदुर ने जुआ खेले जाने का भारी विरोध किया था। उन्होंने धृतराष्ट्र को भरी सभा में फटकार लगाई थी और दुर्योधन से कह दिया कि तुम मूर्ख हो, जो पांडवों के रूप में साँपों को छेड़ रहे हो, जो अंततः तुम्हें और कुल परिवार को अपने क्रोध की अग्नि में भस्म कर डालेंगे। जब जुआ जीत जाने के बाद द्रौपदी को राजसभा में बुलाने की बात उठी तो दुर्योधन ने सबसे पहले विदुर से ही द्रौपदी के पास जाकर उसे राजसभा में ले आने को कहा। इस पर फिर से विदुर ने उसे भयानक फटकार सुनाई और वे द्रौपदी को लेने नहीं गए।

युद्ध की मानो पूर्व संध्या पर ही जब कृष्ण स्वयं दूत बनकर हस्तिनापुर गए तो उस संपूर्ण संवाद में, जो अंततः सफल न हो सका, विदुर भी सम्मिलित थे। उस संवाद के बाद से और उसके साथ ही विदुर का कुंती से जो संवाद हुआ, उसके बाद से विदुर महाभारत की मुख्यकथा में कहीं नजर नहीं आते। इसके बाद वे तब सामने आते हैं जब राज्य प्राप्त करने के कुछ समय में ही महाराज युधिष्ठिर ने विदुर को अपने राज्य का प्रधानामात्य बनाया।

इस बीच विदुर कहाँ थे? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में नहीं, भागवत-महापुराण में मिलता है। भागवत के तीसरे स्कंध के पहले ही अध्याय में शुकदेव ने परीक्षित से कहा कि जब भगवान कृष्ण पांडवों के दूत बनकर हस्तिनापुर गए और उस अवसर पर विदुर ने दुर्योधन को सद्बुद्धि देने का प्रयास किया तो क्रोध में आकर फड़फड़ाते होंठों से दुर्योधन ने विदुर को तुरंत हस्तिनापुर से निकाल दिए

जाने का आदेश दिया। अपने ही बड़े भाई के सामने हुए अपने उस घोर अपमान को ईश्वरीय माया की प्रबलता मानकर विदुर ने अपना धनुष राजद्वार पर रखा, हस्तिनापुर छोड़ दिया। (भागवत, 3, 1, 14-16)

विदुर वहीं से तीर्थयात्रा पर चले गए। महाभारत युद्ध से पहले दो कथा पात्रों की तीर्थयात्रा महत्त्वपूर्ण है—एक कृष्ण के बड़े भाई बलराम की और दूसरी धृतराष्ट्र के सलाहकार भाई विदुर की। संयोगवश बलराम अपनी तीर्थयात्रा समाप्त कर उस दिन कुरुक्षेत्र पहुँचे, जिस दिन—युद्ध के अठारहवें दिन—भीम और दुर्योधन के बीच युद्ध हुआ था। पर विदुर शीघ्र नहीं लौटे। वे तब लौटे जब युद्ध समाप्त हो चुका था, और युधिष्ठिर शुरू में ना-नुच करने के बाद हस्तिनापुर की राजगद्दी पर बैठ चुके थे। उन्होंने अपना राजकार्य चलाने के लिए जो टीम बनाई, उसमें उन्होंने विदुर को प्रधान सलाहकार या प्रधान अमात्य जैसा दायित्व सौंपा। और इस तरह धर्मात्मा विदुर फिर से हस्तिनापुर की राजसभा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गए।

पर इस बार हालात पृथक् थे। पहले धृतराष्ट्र राजा थे, अब वे महाराज युधिष्ठिर के आश्रय में रह रहे थे। पहले उनके पुत्रों के कारण वातावरण हमेशा अधर्म और तनाव से भरा रहता था, अब सब तरफ शांति और सुकून था। पर विदुर तो विदुर थे। अब तक के जीवन में उन्होंने धृतराष्ट्र की सेवा की थी, उन्हें हमेशा सत्परामर्श भी दिया था। वापस आकर उन्होंने अपने मुख्य दायित्व के अलावा यह काम भी फिर से शुरू कर दिया। धृतराष्ट्र को भी इससे काफी आराम मिलता होगा। युधिष्ठिर के मंत्री के रूप में दो खास काम जो विदुर ने किए, उनका विशेष विवरण महाभारत के आश्वमेधिकपर्व और आश्रवासिक पर्व में है। एक था युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ पूरे तामझाम के साथ सफलतापूर्वक करवा देना और दूसरा था धृतराष्ट्र को अपने पुत्र-पौत्रों के श्राद्ध कर्म, दान-दक्षिणा आदि पर खर्च होने लायक धनराशि को, भीमसेन के भारी विरोध के बावजूद, महाराज युधिष्ठिर से दिलवा देना।

इसके बाद विदुर के जीवन के अंतिम वर्षों में हम आ पहुँचते हैं। इस कालखंड की एक बड़ी घटना का उल्लेख हमारे लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि उसका पता लोगों को प्रायः है नहीं। धृतराष्ट्र की सेवा करते-करते विदुर ने अपने प्रज्ञाचक्षु बड़े भाई को इस बात के लिए शायद मना लिया था कि अपने पुत्र-पौत्रों का श्राद्ध आदि करने के बाद अब उन्हें वनगमन कर लेना चाहिए। भीम ने धृतराष्ट्र की नाक में दम कर ही रखा था, इसलिए विदुर की सलाह उन्हें खूब जँच गई होगी। इसीलिए शायद श्राद्ध आदि कर्म से निवृत्त होते ही अगली प्रातः धृतराष्ट्र ने

पूरी तैयारी कर ली और युधिष्ठिर को अपने वनगमन की सूचना दे दी। युधिष्ठिर ने काफी मना किया, समझाया-बुझाया; पर कोई भी बाधा आड़े नहीं आई और धृतराष्ट्र महल से निकलकर बाहर सड़क पर आ गए। आए तो गांधारी भी आ गईं। गांधारी के साथ उनकी देवरानी कुंती भी आ गई। ऐसे में विदुर भला कहाँ पीछे रहते! वे भी उन सबके साथ वनगमन के लिए तैयार होकर आ गए। सभी ने वल्कल धारण कर लिये और वनगमन कर गए। इसमें हैरान कर देनेवाला वर्णन यह है कि कल तक हस्तिनापुर की जो प्रजा युधिष्ठिर और शेष पांडवों और द्रौपदी के साथ घनघोर बदसलूकी करनेवाले दुर्योधन आदि को और उनके पिता धृतराष्ट्र को भी खरी-खोटी सुनाती थी, वे सभी प्रजाजन धृतराष्ट्र आदि को वल्कल पहनकर वनगमन के लिए तैयार देखकर सड़कों पर आ गए और दहाड़ें मारकर रोने लगे। (आश्रमवासिकपर्व, 15)।

इन वनगमन करनेवालों की पहली रात गंगातट पर बीती। इसके बाद सभी ने कुरुक्षेत्र के पास ही शतयूप आश्रम में अपना डेरा डाल लिया। धृतराष्ट्र आदि को वहाँ सुस्थापित कर फिर विदुर वहाँ से तपस्या करने के लिए निकल लिये। कुछ समय बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने बंधु-बांधवों के साथ धृतराष्ट्र आदि का हाल-चाल जानने उनके पास आए तो जब काफी ढूँढ़ने पर उन्हें वहाँ विदुर दिखाई नहीं दिए तो उन्होंने धृतराष्ट्र से विदुर के बारे में पूछा। धृतराष्ट्र ने उन्हें बताया कि विदुर कुशलपूर्वक हैं और घोर तपस्या में लीन हैं। हवा ही उनका आहार है और कुछ भी अन्न ग्रहण नहीं करते। उस सूने वन में वे कुछ ब्राह्मणों को कभी-कभी दिख जाते हैं। इसी बिंदु पर आकर हम उस बड़ी घटना से दो-चार होते हैं, जिसकी ओर हमने ऊपर इशारा भर किया है। यह सारा विवरण आश्रमवासिकपर्व (अध्याय 26) में है।

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र की परस्पर बातचीत चल ही रही थी कि दूर से विदुर आते दिखाई दिए। जो विदुर धृतराष्ट्र और पांडु के छोटे भाई थे, कभी धृतराष्ट्र के और फिर युधिष्ठिर के प्रधान पुरुष थे, हस्तिनापुर राजपरिवार के तेजस्वी महा-व्यक्तित्व थे, वे विदुर बहुत ही कृशकाय, हड्डियों का ढाँचा जैसे रह गए और मुँह में यानी दोनों दंत-पक्तियों के बीच में पत्थर का टुकड़ा (वीटामुखः) रखे हुए दिगंबर अवस्था में थे। सारा शरीर धूल और मैल से मानो नहा चुका था। वे उस वन में किसी एक बड़े वृक्ष का सहारा लेकर खड़े हो गए। युधिष्ठिर आकर उनके पास पहुँच गए, उन्हें पहचान लिया और उनके सामने सत्कारपूर्वक खड़े हो गए। फिर विदुर ने राजा को एकटक देखा—और वेदव्यास कहते हैं कि इसके बाद

विदुर महाराज युधिष्ठिर के शरीर में प्रवेश कर गए, अर्थात् उस समय अभूतपूर्व तेज से दमक रहे विदुर की संपूर्ण काया युधिष्ठिर में समा गई और वे फिर उनका निष्प्राण शरीर ही उस पेड़ के सहारे खड़ा रहा।

तो वेदव्यास ने जिस दासी के साथ, अंबिका के द्वारा अपने बदले में भेजी गई दासी के साथ, सहवास कर एक पुत्र को, विदुर को जन्म दिया, जिसे धर्मात्मा और परम बुद्धिमान होने का आशीर्वाद जन्म से पहले ही दे दिया, फिर महाभारत कथा में अणी मांडव्य की कथा का संदर्भ देकर उन्हें धर्मराज का अवतार होने की ख्याति मिली, उन महाप्राज्ञ, महामति विदुर का अंत इस आश्चर्यचकित कर देनेवाले भव्य तरीके से हुआ। वे युधिष्ठिर में क्यों समा गए?

इसके समाधान के रूप में वेदव्यास ने आश्रमवासिक पर्व, अध्याय 28 में फिर से विदुर के व्यक्तित्व के साथ गरिमा को जोड़ने का विशिष्ट प्रयास किया है। वेदव्यास धृतराष्ट्र से मिलने आश्रम आए। धृतराष्ट्र को कई तरह से उपदेश वगैरह देने के बाद वेदव्यास ने विदुर की महिमा का भरपूर गान किया (श्लोक 11-22)। उन्होंने धृतराष्ट्र को समझाया कि मांडव्य मुनि के शाप से स्वयं धर्मराज ही विदुर का शरीर धारण कर पृथ्वी पर आए थे। वे योगी थे, महात्मा थे, महायशस्वी थे। वे देवगुरु बृहस्पति व असुरगुरु शुक्राचार्य से भी अधिक बुद्धिमान थे। जिन धर्मराज ने अपने योगबल से युधिष्ठिर को उत्पन्न किया था, वे धर्मराज ही स्वयं विदुर के रूप में इस पृथ्वी पर आए थे। इतना सब कहकर वेदव्यास ने जो अंत में कहा, वह सबसे ज्यादा महत्त्व से भरा है। कहा कि 'जो धर्म है वही विदुर हैं, जो विदुर हैं वही युधिष्ठिर हैं'। इसीलिए विदुर अपने अंतकाल में युधिष्ठिर में प्रवेश कर गए, इत्यादि।

महर्षि वेदव्यास की काव्यकला का पार पाना भला किसके बस में हो सकता है! विदुर को धर्मराज का अवतार बताकर और आजीवन उन्हें धर्म के अनुसार जीवनयापन और व्यवहार करते दिखाकर अंत में वेदव्यास ने विदुर का, यानी उनके भव्य तेज का प्रवेश युधिष्ठिर के शरीर में करवा दिया। तो क्या मान लिया जाए कि यह संयोग ही रहा कि विदुर का देहावसान युधिष्ठिर से पहले हुआ, और अगर क्रम इससे उलट होता तो क्या वेदव्यास फिर युधिष्ठिर के तेज को विदुर में प्रविष्ट होता दिखाते और फिर युधिष्ठिर के बजाय विदुर का स्वर्गारोहण दिखाते। वेदव्यास क्या करते, क्या न करते, इसके बारे में तुक्का-फजीती करके हम शेखी बघारनेवाले मंद बुद्धियों की जमात का हिस्सा नहीं बनना चाहते। लेकिन एक पाठक के समान हमारी व्यथा-कथा यह है कि चूँकि युधिष्ठिर और विदुर

दोनों धर्म का साक्षात् अवतार हैं, इसलिए उनका जीवन, उनका व्यवहार, उनके आदर्श हमारे लिए अनुकरणीय होने चाहिए। हैं क्या? यहाँ भी फर्क है। युधिष्ठिर फिर भी हमें अपने काफी करीब नजर आते हैं। जिन कामों को आज हम गलत मानते हैं, मसलन—जुआ खेलना, उसे भी वे धर्म के दायरे में लाकर इस कदर बेगानों की तरह खेलते हैं कि महाभारत का पाठक अपने बाल नोच लेता है। पर ऐसे युधिष्ठिर भी कर्तव्य से कभी विमुख नहीं होते। एक ही पत्नी से पाँच भाइयों ने विवाह किया तो इस तरह धर्म का आश्रय लेकर कि वे अनुकरणीय तो बेशक न बने हों, पर घृणास्पद या हास्यास्पद आज तक नहीं बने। पर इन सबके साथ, यक्ष के साथ 124 सवालों के क्विज में सभी भाइयों को वापस जिला लाना, युद्ध के अठारह दिनों में रोज लगातार युद्ध करना, धृतराष्ट्र की हर आज्ञा पिता की आज्ञा के जैसा मानना, दुर्योधन वगैरह के प्रति कभी शत्रुभाव न रखना, और भी न जाने कितने ऐसे आयाम हैं, जो कठिन अवश्य हैं, पर हर किसी का मन करता है कि वह युधिष्ठिर जैसा बन जाए, बस एक जुआ न खेले।

पर विदुर में ऐसा क्या है कि जो पाठक को अपनी ओर खींचे? क्या स्पष्टवादिता? और इसके बाद शून्य? धृतराष्ट्र और दुर्योधन को हमेशा फटकारा, पर उनकी चाकरी नहीं छोड़ी। जुआ खेलने की घोर निंदा की, पर अपने सामने पूरा खेल होने दिया। द्रौपदी के लिए बोले, पर उसका चीर-हरण होने दिया। युद्ध का विरोध किया, पर युद्ध से भाग लिये, निकल लिये तीर्थयात्रा पर। वारणावत की जानकारी म्लेच्छ द्वारा युधिष्ठिर को दे दी, पर भरी सभा में उस कुटिल षड्यंत्र का भंडाफोड़ नहीं किया, वगैरह-वगैरह। अर्थात् विदुर धर्म पर आचरण तो करते हैं, पर पाठक के हृदय में अपनी जगह नहीं बना पाए। वे धर्मराज तो हैं, पर कोई दिलासा नहीं दे पाए कि कठिन मौकों पर क्या और कैसे तेजस्वी आचरण करना चाहिए। कहीं यही तो वह कारण नहीं है कि विदुर को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए महर्षि वेदव्यास ने आश्रमवासिकपर्व के अध्याय 28 में स्वयं आकर विदुर के युधिष्ठिर के शरीर में प्रविष्ट हो जाने का पुरजोर समर्थन किया। शायद। तो क्या कहें? विदुर धर्मराज तो हैं, पर उनमें कर्म का तेज नहीं है। वे श्रेष्ठ आचरण का मानदंड तो हैं, पर इसे कैसे बरतना है, उसका कोई दिलासा नहीं दे पाते।

□

तो क्या युधिष्ठिर हैं धर्म का आदर्श रूप?

महर्षि वेदव्यास ने विदुर, युधिष्ठिर और कृष्ण—इन तीन पात्रों को प्राय: करके धर्म के संदर्भ में ही हर बार प्रस्तुत किया है। विदुर की बात हम कह चुके। कृष्ण के बारे में अगले अध्याय में लिखा ही जाएगा। उस अध्याय में युधिष्ठिर हमारे तर्क-वितर्क की कसौटी पर आ गए हैं। 'महाभारत' के अंतिम पर्व स्वर्गारोहण पर्व में प्रबंधकार ने जिस उत्साह से और जिस शानदार वर्णन शैली का सहारा लेकर युधिष्ठिर को स्वर्गलोक की यात्रा पर भेजा है और जिस रहस्यमय वातावरण में महाकवि ने आश्रमवासिक पर्व के अध्याय 26 में, जब विदुर की जीवन-लीला के अंतिम क्षणों का विवरण है, तब उनके संपूर्ण तेज को युधिष्ठिर के शरीर में प्रवेश करते दिखाया है, उन दो वर्णनों के आधार पर क्या ऐसा कह सकते हैं कि बेशक वेदव्यास ने धर्म के संदर्भ में ही प्राय: इन तीन पात्रों को प्रस्तुत किया है, पर उनके लिए आदर्श तो युधिष्ठिर ही हैं?

क्रांतदर्शी महाकवि अपने पात्रों के प्रति उपेक्षा या पक्षपात की भावना से नहीं लिखा करते। इसलिए वेदव्यास के विवरणों में हमें ऐसी उपेक्षा या पक्षपात कहीं दिखाई भी नहीं देता। पर कथा-विवरण में, घटनाओं के यथावत्—बेशक कवि की अपनी खास शैली में—प्रस्तुतीकरण में भी अगर कोई पात्र पीछे छूटता हुआ या कोई पात्र अपने लक्ष्य को क्रमश: हासिल करता हुआ खुद-ब-खुद नजर आ रहा हो तो वेदव्यास उसे वैसा होने से रोक तो नहीं सकते?

बात चूँकि युधिष्ठिर के संदर्भ में ही इस वक्त मुख्य रूप से हो रही है तो

क्या मान लें कि वेदव्यास उनके साथ पक्षपात कर रहे हैं? नहीं कर रहे। युधिष्ठिर ने धर्म को जैसा समझा, उसके अनुसार वैसा जीवन जिया। जैसे हम पिछले अध्याय में विदुर का प्रोफाइल बता आए हैं, वैसा करना युधिष्ठिर के बारे में जरूरी है क्या? नहीं, क्योंकि अब तक हमने इस आलेख में किया ही क्या है? सभी पात्रों का, खासतौर पर युधिष्ठिर का, प्रोफाइल ही तो दिया है और साथ-साथ अपनी टिप्पणियाँ नत्थी कर दी हैं। इसलिए युधिष्ठिर के या कृष्ण के—और अब तो विदुर के भी—व्यक्तित्व का और ज्यादा विवरण देने की जरूरत नहीं।

पर इतना बता देने में कोई हर्ज नहीं कि जैसे एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्', यानी हमारा जीवन व व्यवहार राम जैसों की तरह तो होना चाहिए, रावण जैसों की तरह नहीं, क्या वैसी कोई कहावत हम विदुर के बारे में पढ़ सकते हैं कि 'विदुरादिवत् प्रवर्तितव्यम्'—विदुर की तरह जीवन बिताना चाहिए? शायद नहीं। क्योंकि हम सभी का मन करता है कि हम हर गलत काम को गलत कहें, जैसा कि विदुर ने हमेशा किया, पर हमारा मन नहीं करेगा कि हम गलती करनेवाले के, अपराधी के, पापी के चरण भी दबाते रहें और बदले में वेतन प्राप्त करते रहें, जैसा कि विदुर ने हमेशा प्राप्त किया। उन्होंने धृतराष्ट्र के साथ हमेशा स्पष्टवादिता की, दुर्योधन को कई बार फटकारा भी, पर उसी पाप-पंक में डूबे हुए हस्तिनापुर की—भीष्म और द्रोण की तरह, कृपाचार्य की तरह—कभी चाकरी भी तो नहीं छोड़ी, तब तक जब तक कि दुर्योधन ने विदुर को धक्के मारकर निकाल बाहर नहीं कर दिया। द्रौपदी के पक्ष में वे बोले जरूर, पर शेष कुरु-स्थविरों की तरह, कुरु पक्ष के दूसरे वरिष्ठों की तरह मुँह और आँखों पर वेतन की पट्टी बाँधे द्रौपदी के चीर-हरण के भी साक्षी बने रहे? क्यों? पाठक पूछेगा तो जवाब वेदव्यास को नहीं विदुर को देना है और विदुर के पास कोई जवाब नहीं। कौन ऐसा आग्रह कर सकता है भला कि विदुर वही करते, जो हमें लगता है कि उन्हें करना चाहिए था? क्या करना, क्या नहीं करना, उसका फैसला लेने को विदुर स्वतंत्र थे। ठीक वैसे ही विदुर-विवरणों का पाठक भी स्वतंत्र है कि वह विदुर को कितना स्वीकार करे या न करे, आदर्श माने या न माने। वेदव्यास खुद को बीच में कहीं नहीं लाते।

वेदव्यास ने तो नहीं, अलबत्ता हमने एक अन्याय इन तीनों पात्रों से कर दिया है कि तीनों को कसने की एक ही कसौटी थमा दी है—धर्म की कसौटी। इसलिए कि बेशक इन तीनों का वेदव्यास ने प्रायः करके धर्म के संदर्भों में ही विवरण दिया है, पर कृष्ण का तो एक व्यक्तित्व ही अलग है, एक क्लास ही

अलग है। विदुर और युधिष्ठिर ने उस हद तक धर्म का पालन करने का जीवट दिखाया कि दोनों धर्मराज कहलाए। पर कृष्ण? वे धर्म की रक्षा करने के लिए हैं, विलुप्त धर्म की संस्थापना के लिए हैं—'धर्मसंस्थापनार्थाय'। इसलिए हुआ यह है कि कृष्ण, तो अनुकरणीय से कहीं आगे, कहीं, कहीं आगे निकल गए, वंदनीय-पूजनीय हो गए, स्तुति-गानों में आ गए, ईश्वर का साक्षात् रूप हो गए, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' हो गए । इसलिए धर्म का संदर्भ समान होते हुए भी विदुर और युधिष्ठिर को एक ग्रुप में रखकर कृष्ण से अलग कर देना होगा। इसीलिए हमें लगता है कि विदुर और युधिष्ठिर इन दोनों को धर्मराज कहकर भी, एक जैसा विरुद देकर भी वेदव्यास के विवरणों से ऐसा लगता है कि पाठक का पक्षपात विदुर के प्रति नहीं, युधिष्ठिर के साथ है। दोनों धर्मराज हैं, पर पिछले 5,000 वर्षों से हमारे देश, भारत नामक हमारे इस देश ने अगर किसी एक को धर्मवान् कहकर बार-बार, बल्कि असंख्य बार, याद किया है तो वे युधिष्ठिर हैं, विदुर नहीं। हमारे जेहन में, हमारी स्वाभाविक भाषा में 'धर्मराज' का प्रयोग युधिष्ठिर के लिए मानो आरक्षित है, विदुर के लिए कतई नहीं रहा है। यह पक्षपात वेदव्यास ने नहीं किया, पाठक ने किया है।

इस आलेख के पिछले पन्नों में हम युधिष्ठिर के बारे में जो भी, जैसा भी, जितना भी लिख आए हैं, उसकी परिणति इस अध्याय में, इस आलेख के शायद आखिरी युधिष्ठिर-पोस्टमार्टम में हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं हो रहा कि हर कोई मन ही मन युधिष्ठिर जैसा बनना चाहता है; पर बनना आसान नहीं, इसलिए युधिष्ठिर के आचरण में फिर गलतियाँ निकालना शुरू कर देता है, कमियाँ ढूँढ़ना शुरू कर देता है। क्यों? इसलिए कि युधिष्ठिर बनने का मतलब है, फिर अंततोगत्वा धर्मराज बन जाना। कोई धर्मराज नहीं बनना चाहता, शायद बन नहीं सकता, क्योंकि बनना आसान नहीं। हर कोई सामान्य मनुष्य ही बने रहना चाहता है, क्योंकि उससे अधिक सुरक्षित जीवन और कोई है नहीं। पर हर ऐसे सुरक्षाकामी मनुष्य का अगर कोई आदर्श है तो वह युधिष्ठिर ही हैं। विदुर प्रशंसनीय हैं, बस प्रशंसनीय। उनका क्या अनुकरण करें, समझ से परे है। कृष्ण तो नमस्करणीय, प्रणम्य, वंदनीय, साक्षात् ईश्वर रूप हो गए। इन तीन धर्म-सम्मत पात्रों में से कोई एक अनुकरणीय हो सकता है, कोई अकेला अनुकरण के लायक हो सकता है तो वे सिर्फ और सिर्फ युधिष्ठिर हैं। इस साहसिक निष्कर्ष को भी कुछ घटनाओं की कसौटी पर कसने की जरूरत तो है ही। थोड़ा धीरज से, तसल्ली से घटना-दर-घटना को कसौटी बनाकर कस दिया जाए।

वारणावत के लाक्षागृह की घटना लें। लाक्षागृह में कुंती सहित पाँचों पांडवों को जलाकर राख कर देने का षड्यंत्र दुर्योधन का था। विदुर को उसका पता था। विदुर ने वारणावत जाने से पहले ही युधिष्ठिर को सांकेतिक भाषा में, जिसे हम म्लेच्छ भाषा भी कहते हैं, युधिष्ठिर को, सिर्फ युधिष्ठिर को सारा षड्यंत्र समझा दिया था और कह दिया कि वह वहाँ से बाहर निकलने की सुरंग बनाने के लिए खनक को भेज देगा। पर युधिष्ठिर ने अपनी माँ कुंती को और चारों भाइयों को (तब तक द्रौपदी स्वयंवर नहीं हुआ था) इस बारे में कुछ नहीं बताया और सारा घटनाचक्र होने दिया और बताया तब, जब खनक के पहुँचने का अवसर आ गया। अब कल्पना कीजिए कि अगर युधिष्ठिर हस्तिनापुर में ही विदुर को उद्धृत कर सारे षड्यंत्र का भंडाफोड़ कर देते तो पांडव फिर भी बच जाते, पर कौरव पक्ष को जो ऐतिहासिक धू-धू घटना घट जाने के बाद मिली क्या वह वैसे मिल पाती? विदुर के व्यक्तित्व को जो ठेस पहुँचती, वह अतिरिक्त नुकसान होता। तो बताइए पाठक, आप इस परिस्थिति में क्या करना चाहेंगे?

इसके बाद इंद्रप्रस्थ निर्माण और वहाँ हुए राजसूय यज्ञ के बाद आती है द्यूत-क्रीड़ा, यानी जुआ खेला जाना। हम बता आए हैं कि युधिष्ठिर ने जुआ खेलने का प्रस्ताव—एक बार नहीं, दो-दो बार खेलने का प्रस्ताव—क्यों स्वीकार किया? वैसे युधिष्ठिर ही क्या, उस समय के राजाओं में जुआ खेला जाना उस मर्यादा-विहीन युग की एक बड़ी परिभाषा बनकर हमारे सामने आता है। पर युधिष्ठिर जुआरी नहीं थे, मद्यप नहीं थे परस्त्रीगामी नहीं थे। वे जुए को गलत मानते थे, पर वे धर्म पर आचरण करने को भी दृढ़ संकल्प थे और महाभारतकालीन समाज में यह रिवाज था और धर्माचरण का चोला पहनकर रिवाज चल रहा था कि अगर कोई जुआ खेलने का निमंत्रण दे तो उस निमंत्रण को ठुकराना अधर्म है। और निमंत्रण भी कौन दे रहा था? स्वयं पिता समान राजा धृतराष्ट्र। हम यह सारा विवरण पहले ही दे चुके हैं। अब पाठक क्या करें? चूँकि आज के युग में ऐसा कोई रिवाज नहीं है कि निमंत्रण दिए जाने पर जुआ न खेलना अधर्म है, इसलिए युधिष्ठिर का साथ देने या न देने को पाठक स्वतंत्र हैं। पर मसला चूँकि युधिष्ठिर के धर्मराज होने या न होने पर फैसला लेने का है, इसलिए युधिष्ठिर का साथ न देने के अपने वर्तमान धर्म आचरण का पालन करते हुए भी पाठक को युधिष्ठिर पर अधर्म आचरण की तोहमत लगाने से पहले सौ बार सोचना पड़ेगा और हो सकता है कि अंततः युधिष्ठिर को गलत ठहराया जाना काफी मुश्किल नजर आए।

यक्ष प्रश्न पर आएँ। यह वह प्रसंग है, जहाँ युधिष्ठिर उस शानदार तरीके से

सौ में से सौ अंक लेकर पास हुए हैं कि इस घटना का हर पाठक युधिष्ठिर जैसा बनना चाहेगा, पर मन मसोसकर रह जाएगा; क्योंकि वैसा बन पाना आसान है क्या? युधिष्ठिर ने यक्ष के सभी एक सौ चालीस प्रश्नों के सही-सही उत्तर दे दिए, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। आजकल भी लोग कौन बनेगा करोड़पति जैसे धुरं-धर कार्यक्रमों में एंकर बने यक्ष के सभी प्रश्नों के उत्तर देने का दमखम लेकर आते हैं और कुछ तो उत्तर दे भी जाते हैं। इसका महत्त्व भी सीमित है कि इस प्रश्नों के उत्तर तब दिए गए जब युधिष्ठिर के चार भाइयों के मृत शरीर उसी यक्ष की योजना के परिणामस्वरूप वहाँ पड़े हैं और यक्ष की योजना का तो सिर्फ यक्ष को ही पता रहा होगा, युधिष्ठिर के लिए तो चार भाइयों का प्राणांत हो ही चुका था। पर महत्त्वपूर्ण, बल्कि अतीव महत्त्वपूर्ण यह है कि यक्ष प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे देने के बाद खुश होकर यक्ष ने जब युधिष्ठिर से किसी एक भाई का जीवन माँगा तो युधिष्ठिर ने अर्जुन या भीम का नहीं, बल्कि नकुल का जीवन माँग लिया और पूछने पर तर्क यह दिया कि मेरी दो माताएँ थीं—कुंती और माद्री, कुंती का पुत्र तो मैं जीवित बैठा हूँ, माद्री का भी एक पुत्र, नकुल और सहदेव में से एक जीवित रहना चाहिए। इस आचरण से यक्ष की प्रसन्नता का कोई पारावार नहीं रहा। यह तो है 'महाभारत' की कथा। ऐसी स्थिति का सामना करना पड़े तो हम क्या करेंगे? जाहिर है कि करना तो कुछ वैसा ही चाहेंगे जैसा युधिष्ठिर ने किया, कर पाएँगे या नहीं, यह दूसरी बात है। यानी आदर्श तो, धर्माचरण का हमारा आदर्श तो युधिष्ठिर ही बने।

अब आती है दुर्योधन की घोष-यात्रा! वैसे यह यात्रा यक्ष प्रश्न वाले प्रसंग से पहले ही घट चुकी थी। उन दिनों द्रौपदी सहित पांडव द्वैत वन में थे। दुर्योधन मजे ले रहा था कि रणभूमि के बजाय द्यूतभूमि में ही पांडवों को चारों खाने चित कर दिया गया था। वैसे ऐसा मानना सिर्फ और सिर्फ उसी का था और उसकी चौकड़ी का था, उसके कॉकस का था जिस कॉकस में उसके अलावा दुःशासन, शकुनि और कर्ण शामिल थे। पर वैसा मानना था और वैसा मानने की खुशी में, युधिष्ठिर वगैरह को चिढ़ाने के लिए दुर्योधन ने घोष-यात्रा की योजना बनाई। यानी शोर-शराबा, नाच-गाना, बैंड-बाजा ले जाते हुए उस जगह से निकला जाए, जहाँ पांडव वनवास कर रहे थे, ठीक वहीं एक शोर-शराबे भरी यात्रा की जाए और पांडवों को थोड़ा चिढ़ा दिया जाए। पर कर्ण के इरादे कुछ और भी थे। इस बहाने अगर पांडवों को ही खत्म कर दिया जाए तो सारा खेल सस्ते में निपट जाएगा। दुर्योधन को उससे क्या आपत्ति हो सकती थी? समस्या इतनी भर थी कि राजा धृतराष्ट्र से घोष-यात्रा की अनुमति लेनी पड़ेगी और वे अनुमति भला क्यों देंगे। इसका जिम्मा शकुनि पर, धृतराष्ट्र

के साले पर डाला गया। बहाना द्वैत वन में की देखभाल का बनाया गया। हमेशा की तरह धृतराष्ट्र ने पहले ना-नुकुर की और फिर मान गया। घोष-यात्रा निकाली गई। पूरे शोर कोलाहल के साथ। बैंडबाजे के अलावा उसमें वस्त्राभूषणों से सजी-धजी राज महिलाओं के साथ-साथ 8,000 रथ, 30,000 हाथी, 9,000 घोड़े और हजारों पैदल सैनिक साथ ले लिये गए। (वनपर्व, 239, 22-29)

यानी चौकड़ी का इरादा तो साफ था। पर प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था। दुर्योधन की बदकिस्मती थी कि वह द्वैत वन पहुँचते ही गंधर्वराज चित्रसेन से भिड़ गया और उससे हुए भारी-भरकम युद्ध में अपने भाइयों सहित बंदी बना लिया गया। कर्ण पहले ही वहाँ से मौका देखकर निकल लिया था। भाइयों सहित सभी स्त्रियों व सैनिकों सहित हस्तिनापुर के युवराज को पकड़ लिया गया तो उसके कुछ सैनिक भागकर युधिष्ठिर के पास आए और जो घटा था, वह सब कह सुनाया। अब हमारी प्रतिक्रिया क्या हो सकती है? हम आपातत: भीम की इस व्यावहारिक प्रतिक्रिया से सहमत हो सकते हैं कि 'जो हुआ, ठीक हो गया और हमारा काम चित्रसेन ने कर दिया।' (वनपर्व, 242,15)। पर यह प्रतिक्रिया भीमसेन की थी, युधिष्ठिर की नहीं। और धर्मराज भीम नहीं, युधिष्ठिर थे। उन्होंने जो कहा और बाद में अपने भाइयों से उस पर अमल भी करवाया, इसमें से हर कोई ऐसी हालत पैदा हो जाने पर भीम जैसा बनने को विवश होते हुए भी युधिष्ठिर जैसा बनना चाहेगा, जिसने कहा, 'परैः परिभवं प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्। परस्पर-विरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते।' (वनपर्व, 243, 4)। यानी आपसी झगड़े में हम बेशक सौ अलग और पाँच अलग हों, पर दूसरे से युद्ध करना हो तो हम एक सौ पाँच हैं। असहमत होते हुए भी भीम और अर्जुन के पास उसकी कोई काट नहीं थी। वे गए, पूरी तैयारी से गए। चित्रसेन से युद्ध किया। उसे पूरी तरह हरा दिया और दुर्योधन और सभी स्त्रियों को छुड़ा लाए।

बहुत कम लोगों को कहानी के उस अंश का पता है कि उसी द्वैत वन में एक बार युधिष्ठिर को अपनी धर्मपत्नी द्रौपदी से और अपने छोटे भाई भीम से भारी डाँट-फटकार मिली थी कि वे अपना खो दिया गया राज्य वापस लेने के लिए कुछ करते क्यों नहीं और क्यों संतों की तरह द्वैत वन में सौभाग्य से भरपूर दिनों के लौटने का इंतजार कर रहे हैं। यह डाँट वनपर्व के प्रारंभिक अध्यायों में पढ़ने को मिल जाती है। दुर्योधन की घोष-यात्रा का प्रसंग उसके बाद का है। संस्कृत साहित्य में एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं भारवि। उनका महाकाव्य है 'किरातार्जुनीयम्'। उसकी मुख्य कथा अर्जुन पर केंद्रित है, जब वे शिव की आराधना करने इंद्रकील पर्वत पर जाते हैं। उसी महाकाव्य के पहले दो सर्ग द्रौपदी और भीम की इसी डाँट का काव्य रूपांतरण

हैं और संस्कृत जगत् में काफी लोकप्रिय हैं। उधर युधिष्ठिर द्रौपदी जैसी तेजस्विनी महिला के पति हैं, भीमसेन जैसे प्रबल योद्धा के भाई हैं; पर हस्तिनापुर के सम्मानित, बेशक इस समय युवराज के पद से भी हीन कर दिए गए, पर वंश के संभावित शासक भी तो हैं। इस संभावना को देखकर भी वे अपने धर्म के साथ कोई समझौता करने को कतई तैयार नहीं हैं। द्यूत क्रीड़ा की शर्त के अनुसार हारे हुए को यानी द्रौपदी सहित पांडवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना है और इस समय पराजित युधिष्ठिर का कार्य उस शर्त को निभाना है और वे इस धर्म का पालन करते रहेंगे, चाहे कुछ भी हो जाए। (वनपर्व, 34,22) तो क्या करना चाहेंगे 'महाभारत' के पाठक? वे भीम और द्रौपदी की व्यावहारिक राजनीति का समर्थन करेंगे या फिर युधिष्ठिर के धर्म-पालन के संकल्प के साथ रहेंगे? हम जानते हैं और आप भी जानते हैं कि इस देश ने इस मामले में पिछले 5,000 साल से युधिष्ठिर के व्यवहार में कोई खोट नहीं निकाला है। उछल-उछलकर समर्थन भले न किया हो, पर मन-ही-मन सराहा तो है ही, और वैसी परिस्थिति का सामना करने पर वैसा आचरण करने की आस भी मन में पाली है।

इसके बाद तो फिर एक ही विकल्प बचता था। वनवास पूरा हो गया। विराट नगर में पूरा किया गया अज्ञातवास भी तेजस्वी, तेजस्वी ही क्या परम तेजस्वी निष्कर्षों से पाठकों का परिचय करवाकर पूरा हो गया। तब क्या था? अब धृतराष्ट्र का कर्तव्य था कि वह युधिष्ठिर को उसका राज्य, कम-से-कम वह आधा राज्य, जो जुए में शर्त लगाकर हड़प लिया गया था, जुए के खेल की सभी शर्तें पूरी कर लिये जाने के बाद युधिष्ठिर को लौटा दिया जाए। युधिष्ठिर ने वैसा चाहा भी था कि वैसा हो जाए और उसके लिए युद्ध न करना पड़े। उसके लिए तीन बार कोशिश भी की थी— ईमानदार और भरपूर कोशिश। पहली कोशिश युधिष्ठिर ने अज्ञातवास के खत्म हो जाने के तुरंत बाद की। उस कोशिश में कृष्ण की सहमति थी तो विराट और द्रुपद का उसमें पूरा सहयोग था। द्रुपद के बुद्धिमान पुरोहित को दूत बनाकर भेजा गया। सिर्फ जानकारी के लिए बता देने में कोई नुकसान नहीं कि मूल प्रसंग में द्रुपद ने 'बुद्धिजीवी' शब्द का बहुत सार्थक प्रयोग (उद्योगपर्व, 6,1) ठीक उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में हम आज भी करते हैं।

दूत हस्तिनापुर गया तो ठीक आज की शब्दावली में कहें तो चालाक और दुष्टमति धृतराष्ट्र उससे पॉलिटिक्स कर गया। उसने दूत का स्वागत किया, मीठी-मीठी बातें कीं। कुछ नहीं किया, बस कहा कि युधिष्ठिर से कहो कि युद्ध में क्या रखा है, सबका नुकसान-ही-नुकसान है। तुम चाहो तो युद्ध को टाल सकते हो।

और बदले में संजय को दूत बनाकर पांडवों के पास भेजने का फैसला किया। यानी युधिष्ठिर की युद्ध टालने की पहली कोशिश धराशायी हो गई।

दूसरी कोशिश उसने तब की, जब धृतराष्ट्र ने संजय को, जो कौरवों और पांडवों दोनों को प्रिय था, युधिष्ठिर के पास भेजा और युद्ध टालने की अपील जैसी की। पर पांडवों को देने योग्य कोई प्रस्ताव उसमें नहीं था। इस पर महाराज युधिष्ठिर ने संजय के माध्यम से कौरवों को जो संदेश भेजा, वह इतना लाजवाब है, युधिष्ठिर के व्यक्तित्व से हमारा इतना ज्यादा खास परिचय करवाने में समर्थ है कि हमें यह कहते हुए हैरानी हो रही है कि आज तक पाठकों से वह अध्याय इतना दूर कैसे रह गया, जबकि यही वह ऐतिहासिक संदेश है कि जिसमें युधिष्ठिर ने पाँच गाँव लेकर भी संधि कर लेने की पेशकश की थी और जो पेशकश हर भारतवासी को याद है। 'महाभारत' के पाठकों से और पाठकों के आदर्श बनने की राह में काफी आगे निकल चुके युधिष्ठिर से भी अन्याय हो जाएगा, अगर उस संदेश को उसके ठीक रूप-आकार में यहाँ बता न दें। जाहिर है कि ऐसा अन्याय हम अपने हाथों से तो होने नहीं देंगे। तो संदेश का मुख्य स्वर यह है—

हे संजय!

1. दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेना का समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना, जिससे वे प्रसन्न होकर अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का ठीक-ठीक फैसला कर सकें। (उद्योगपर्व 31, श्लोक 3)
2. संजय, कुरुदेश में जाकर मेरी ओर से धृतराष्ट्र को प्रणाम कर, उनके दोनों पैर छूकर बताना कि पांडव लोग आपकी ही छत्रच्छाया में सुखपूर्वक जीवन जी रहे हैं। (श्लोक 4-5)
3. कहना कि हे राजन्, बाल्यकाल में (यानी पहले भी) आपने ही पांडवों को राज्य दिया था, अब इस समय आप उनकी उपेक्षा मत करिए। (श्लोक 6)।
4. संजय, उन्हें यह भी कहना कि तात, ऐसा नहीं है कि यह सारा राज्य किसी एक के लिए ही पर्याप्त हो। हम कहीं शत्रुओं के वश में न पड़ जाएँ इसलिए मिलकर सुखपूर्वक रह सकते हैं। (श्लोक 7)
5. भरतवंशियों के पितामह भीष्म से कहना कि आपने शांतनु के डूबते हुए वंश का पुनरुद्धार किया था, अब फिर से कुछ ऐसा कीजिए कि पितामह, हम सभी लोग मिल-जुलकर रह सकें। (श्लोक 9,10)

6. संजय, कौरवों के सलाहकार विदुर से कहना कि आप युधिष्ठिर के हितैषी हैं, इसलिए युद्ध न होने देने की सलाह दें। (श्लोक 11)
7. फिर हमेशा गुस्से से भरे रहनेवाले दुर्योधन से पुनः-पुनः अनुनय-विनय करके कहना कि तुमने द्रौपदी को सभा में बुलाकर अकारण ही उसका तिरस्कार किया, हमने चुपचाप सह लिया, ताकि हमें कौरवों का वध न करना पड़े। (श्लोक 13)
8. तुमने दुर्योधन, हमें कई क्लेश दिए, मृगछाला पहनाकर वन भेज दिया। माता कुंती की उपेक्षा की, द्रौपदी के केश पकड़ लिये, उस सब की भी हमने उपेक्षा कर दी। (श्लोक 15, 16)
9. पर अब हम अपना उचित भाग लेकर रहेंगे। हम शांति चाहते हैं। चाहो तो हमें राज्य का एक हिस्सा ही दे दो। (श्लोक 17, 18)
10. हम पाँच भाई हैं। हमें हे दुर्योधन! अविस्थल, वृकस्थल, माकंदी, वारणावत और कोई एक और—ऐसे पाँच गाँव दे दो तो शांति बनी रहेगी। (श्लोक 19,20)
11. हम चाहते हैं, भाई-भाई, पिता-पुत्र परस्पर हँसी-खुशी मिलकर रहें। कौरव और पांडव सभी के शरीर अक्षत रहें। मैं शांति रखने में समर्थ हूँ तो युद्ध करने में भी। जैसा समय हो, मैं उसके अनुसार कोमल हो सकता हूँ और कठोर भी। (श्लोक 21-23)

इस संदेश पर टिप्पणी करने की कोई जरूरत है क्या? शायद नहीं। युद्ध न होने देने की युधिष्ठिर की यह दूसरी कोशिश थी।

तीसरी और सबसे बड़ी कोशिश कृष्ण को हस्तिनापुर भेजने के रूप में की गई। उससे बड़ी कोशिश दूसरी कोई हो नहीं सकती थी। कृष्ण को दूत बनाया जाए, द्वारकाधीश को दूत बनाया जाए, जो काम पहले एक अज्ञात पुरोहित के माध्यम से किया गया, फिर कौरव और पांडव दोनों पक्षों के दुलारे संजय के जरिए से हुआ, ऐसे सामान्य व्यक्तियों की पंक्ति में द्वारकाधीश कृष्ण को भेजा जाए, क्या इस विचार की महनीयता को धृतराष्ट्र या दुर्योधन समझ पाए थे? धृतराष्ट्र शायद समझ भी रहा था, क्योंकि उसे पांडवों की ओर से खटका हमेशा इसीलिए रहा करता था, कि कृष्ण उनके साथ थे। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य तो खैर कृष्ण के आने का अर्थ समझ ही रहे थे। कृष्ण कहाँ किसी के दूत बननेवाले व्यक्ति थे! वह तो पांडवों के साथ उनका अनन्य अपनत्व भरा स्नेह और युद्ध की विभीषिका को टालने की सदिच्छा ये दो महती प्रेरणाएँ ही कृष्ण के दूत बन जाने के फैसलों के पीछे सक्रिय रही थीं पर

युधिष्ठिर का यह सबसे बड़ा प्रयास भी युद्ध टालने के लिए, जिससे बड़ा प्रयास और कुछ हो ही नहीं सकता था, ऐसा सबसे बड़ा प्रयास भी विफल रहा। दुर्योधन नहीं माना।

हम बात युधिष्ठिर को अपने जीवन का आदर्श मान सकने या न मान सकने वाले पाठकों की, 5,000 साल से चले आ रहे महाभारत के पाठकों की कर रहे हैं और उसी संदर्भ में युधिष्ठिर के धर्मराज व्यक्तित्व का आकलन किया जा रहा है। यह वही युधिष्ठिर हैं, जिन्होंने युद्ध टालने में असफल रह जाने के बाद फिर अठारह दिनों तक लगातार युद्ध किया। वे कई बार युद्ध में मूर्च्छित हुए। उनका स्वामिभक्त सारथि उन्हें कई बार युद्धक्षेत्र से बाहर भी ले आया। मूर्च्छावस्था में ही युधिष्ठिर ने रणभूमि में पीठ तो कभी नहीं दिखाई। बल्कि जब एक बार युद्ध का आगाज हो गया, वे रणभूमि में उतर गए, वे रणभूमि में ही शत्रु पक्ष में खड़े गुरुजनों का आशीर्वाद ले लिया तो फिर कहाँ कमजोर पड़ना या ना-नुच करना? अर्जुन की तरह विषादग्रस्त हो जाना धर्म-विरुद्ध होता। यानी युधिष्ठिर जीवन में कुछ भी कर सकते थे, पर धर्म-विरुद्ध काम करने का अपयश अपने व्यक्तित्व के साथ नहीं जुड़ने दे सकते थे। वे भीष्म का सामना कभी नहीं कर पाए, पर भीष्म से उनकी मृत्यु का उपाय पूछने गई अपनी टीम के नेता वही थे। द्रोण की मृत्यु का कारण तो युधिष्ठिर बने ही, इससे पहले उन्होंने द्रोण को एक बार मूर्च्छित भी किया।

युधिष्ठिर के बारे में हम और भी बहुत कुछ कह सकते हैं, पर वह सब पिष्टपेषण जैसा हो जाएगा। पिष्टपेषण यानी पिसे हुए को ही बार-बार पीसना हो जाएगा। जितना उनके बारे में लिख दिया गया है उतने भर से हमारा निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है कि बेशक वेदव्यास ने धर्मराज के दो मनुष्य रूप अपने प्रबंधकाव्य में दिए हैं, पर उनकी पहली पसंद शायद युधिष्ठिर ही नजर आते हैं। मानो इसी अपनी समझ को स्थापित या रेखांकित करने के लिए उन्होंने विदुर के समस्त तेज को विदुर के जीवन के अंत समय के बस कुछ समय, कुछ क्षण ही पूर्व युधिष्ठिर के भीतर समा जाने का परिदृश्य बना दिया। उधर जहाँ विदुर के जीवन का अंत समय लगभग विक्षिप्त अवस्था जैसा बीता, वहीं व्यासदेव ने युधिष्ठिर को हिमालय के शिखर पर जा पहुँचाया है, जहाँ से स्वयं देवराज रथ लेकर उन्हें स्वर्ग ले गए।

यह तो वह परीक्षा परिणाम है, जिसके अंक वेदव्यास ने दिए हैं; पर वेदव्यास के पाठक? उनके सामने युधिष्ठिर कहाँ खड़े हैं? वे पाठकवृंद में भी पिछले 5,000 साल से आदर्श जैसे, अनुकरणीय जैसे माने गए, धर्मराज ही हमेशा कहलाए जाते रहे; पर क्या किसी ने उन्हें आदर्श मानकर उनका साथ दिया? उन्हें अपने घर के

ड्राइंग रूम की दीवारों पर कृष्ण जैसी जगह दी। कहाँ दी? नहीं दी। क्यों? शायद इसलिए कि अपनी संपूर्ण धर्मराज-प्रतिष्ठा के बावजूद, अपनी संपूर्ण अनुकरणीयता के बावजूद कभी किसी को नुकसान नहीं पहुँचाया, उस विरुद के बावजूद, देश के जनसामान्य ने उनके किसी भी आदर्श का अनुकरण नहीं किया। उन्हें आराध्य मानना तो खैर बहुत दूर की कौड़ी है।

ऐसा शायद इसलिए हुआ, क्योंकि युधिष्ठिर ने जुए में अपनी पत्नी को दाँव पर लगा दिया। कहीं-न-कहीं हमारे हृदयों में युधिष्ठिर का यह महापातक अपनी अविचल जगह बनाकर बैठा हुआ है। देश ने शायद युधिष्ठिर का जुआ खेलना माफ कर दिया, पर उनके तमाम आदर्शों व धर्म आचरण के बावजूद द्रौपदी को जुए पर दाँव लगाने को माफ नहीं किया। जिस देश ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम माना, उनके सीता-निष्कासन की एक राजा की विवशता का सम्मान किया; पर आज तक माफ नहीं किया, उनके द्वारा किए गए सीता-निर्वासन के फैसले को स्वीकार नहीं किया। राम को विष्णु का अवतार मानकर भी, अपना आराध्य इष्टदेव मानकर भी सीता-निष्कासन को माफ नहीं किया और इस बारे में राम से ठीक वैसे ही शिकायत बनी हुई है जैसी शंबूक-वध को लेकर बनी हुई है। तो राम के मर्यादा पुरुषोत्तम, आराध्य, विष्णु का अवतार मान लिये गए व्यक्तित्व के आगे युधिष्ठिर भला कहाँ ठहरते हैं! इसलिए हमें राम और कृष्ण की तरह युधिष्ठिर याद तो हैं, पर जैसे राम और कृष्ण हमारे रोम-रोम में बसते हैं, वैसे तो युधिष्ठिर दूर-दूर तक नहीं हैं। अपना कहा दोहराने में कोई हर्ज नहीं कि पूरे, विशाल, सहस्राब्दियों से फैले पूरे संस्कृत साहित्य में युधिष्ठिर को नायक बनाकर कोई काव्य, नाटक, गद्य या गीत लिखा ही नहीं गया और अगर लिखा भी गया होगा तो हमें उसका कोई अता-पता नहीं। देश के नारीवादियों को और स्त्री को संपत्ति या विपत्ति समझनेवाले दुरभिमानियों को द्रौपदी के तेजस्वी व्यक्तित्व के इस अभूतपूर्व असर को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, जिसने युधिष्ठिर के धर्मराज के आदर्श को भी फीका, इस कदर फीका कर दिया कि उन्हें हमारी स्मृतियों में अमावस का चाँद बनने को मजबूर कर दिया।

□

कृष्ण : महाभारत की फलश्रुति

आर्थिक दृष्टि से परम संपन्न पर मूल्य-विहीन, टेक्नोलॉजी की दृष्टि से परम समुन्नत लेकिन मर्यादाहीन महाभारत कालीन समाज के हमारे पूर्वजों में, कौरवों और पांडवों में, युधिष्ठिर के धर्मराज कहलाए जाने के बावजूद, धर्म किसके पास था? इस सवाल का जवाब देना आसान नहीं। जब इतिहास के सामने द्रौपदी का वह सवाल ही अब तक सवाल बनकर खड़ा है कि 'क्या मैं धर्मपूर्वक जीती गई?' तो कौन दावे से इस सवाल का जवाब दे पाएगा कि महाभारत में धर्म किसके पास था। महाभारत के अठारह दिनों के महासंग्राम में पांडव जीते और कौरव हारे। इतिहास चूँकि हमेशा विजेता के साथ होता है, इसलिए इस देश के मानस में जो आदर और स्नेह का स्थान पांडवों ने बनाया, कौरवों को वह स्थान नहीं मिल पाया।

विजेता होने के कारण पांडवों को वह स्थान बेशक मिल गया, पर देश के मानस में उन्हें पावनता और धर्म का प्रतीक होने के कोई अतिरिक्त अंक मिले हों, इसका प्रमाण देश ने आज तक नहीं दिया। मंदिरों में और आराधना के वक्त पढ़े और गाए जानेवाले जैसे स्तोत्र राम और कृष्ण के लिए हैं, वैसा एक भी स्तोत्र पांडवों के लिए नहीं है। लोगों ने अपने बच्चों के नाम कौरवों के बजाय पांडवों के नाम पर जरूर रखे, पर साहित्य में—पूरे भारतीय साहित्य, खासकर संस्कृत साहित्य में—पांडवों को नायक-महानायक बनाने के लिए किसी उल्लेखनीय और प्रभावकारी ग्रंथ की रचना में किसी बड़े साहित्यकार ने रुचि नहीं ली। खुद धर्मराज युधिष्ठिर ऐसी किसी भी साहित्य-रचना के नायक नहीं बनाए गए। अलबत्ता भास ने अपने

नाटक 'ऊरुभंगम्' में दुर्योधन को नायक बनाने की कोशिश की, पर वह नाटक खास चल ही नहीं पाया। उधर भट्टनारायण ने अपने नाटक 'वेणीसंहारम्' में भीम को नायक बनाने की कोशिश की, पर वह नाटक भी खास चल नहीं पाया।

यानी इतिहास ने पांडवों को धर्म का प्रतीक नहीं माना। खुद वेदव्यास ने भी, जो अपने सामने घटे समस्त घटनाप्रवाह के चश्मदीद गवाह थे, उन्होंने भी पांडवों के साथ कोई रियायत नहीं की। जब उन्होंने प्रबंध काव्य के अंत में विलाप किया कि 'मेरी कोई सुनता नहीं' तो उन्होंने यह उलाहना कौरव-पांडवों समेत सभी को दिया, सिर्फ कौरवों को नहीं। पर इतना जरूर है कि वेदव्यास के इस प्रबंध काव्य में से अगर कोई नायक बनकर उभरा है तो वे हैं पांडव और इसका ठीकरा दुर्योधन और उसके पिता धृतराष्ट्र के अलावा और किसी के सिर पर आप फोड़ ही नहीं सकते। अगर वे पिता-पुत्र पांडु के पुत्रों और कुंती की हत्या के लिए वारणावत का लाक्षागृह न बनवाते, अगर वे पिता-पुत्र अनाड़ी जुआरी युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुलाकर उसकी तमाम राजसत्ता को चौसर पर ही हड़प लेने का षड्यंत्र न करते, अगर दुर्योधन-दु:शासन-कर्ण-शकुनि की चौकड़ी मिलकर द्रौपदी को भरी सभा में जलील न करते, अगर ये और ऐसे कुछ और महाघिनौने काम कौरव न करते तो उस समय के अद्भुत महानायक कृष्ण भी शायद पांडवों की ओर खड़े नजर न आते।

जब कृपाचार्य और द्रोण अपने मुँह पर दुर्योधन से मिलनेवाली वेतन की पट्टी बाँधे थे, जब क्रांतदर्शी कवि वेदव्यास भी एक हद से आगे टिप्पणी करने से परहेज कर रहे थे, जब सारे भारत के राजा दोनों पक्षों में लगभग बराबर-बराबर बँटे थे, तब कृष्ण हर दृष्टि से, हर हिसाब से और हर मौके पर पांडवों के साथ थे। वसुदेव और कुंती शूरसेन की संतान और आपस में भाई-बहन थे। इसलिए कृष्ण पांडवों के ममेरे भाई थे तो पांडव कृष्ण के फुफेरे भाई थे। कृष्ण इस संबंध को एकाधिक बार उद्धृत भी करते हैं। पर पांडवों को दिए गए अपने संपूर्ण समर्थन में कृष्ण ने इस रिश्तेदारी को कभी अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया। वे तो पांडवों के पक्ष को हमेशा धर्म का पक्ष मानकर ही उनके साथ होने की बात कहते हैं।

कृष्ण मानो पांडवों को खोज ही रहे थे और खोजते-खोजते (आलंकारिक शैली में ही) वे पांडवों से तब उस ब्राह्मण के घर जा मिले, जब वारणावत के लाक्षागृह से बचने के बाद वे खुद भी ब्राह्मणों के वेश में ही रह रहे थे और उसी वेश में द्रौपदी को भी ब्याहकर ले आए थे। वहाँ कृष्ण पहली बार पांडवों से मिले और उन्होंने अपना परिचय दिया—कृष्णोऽहम्, मैं कृष्ण हूँ। (आदिपर्व, 190.20)

उसके बाद से कृष्ण ने पांडवों को कभी नहीं छोड़ा। राजसूय यज्ञ में वे थे। वहाँ के अग्रपूज्य थे, जहाँ उन्होंने शिशुपाल का वध किया। इससे पहले जरासंध का वध वे भीम के हाथों करवा चुके थे। जब जुआ हुआ तो कृष्ण द्वारका में थे ही नहीं, इसका उन्हें बहुत अफसोस रहा, जिसे उन्होंने बाद में व्यक्त भी किया (वनपर्व, अध्याय 13)। फिर वे पांडवों से काम्यक वन में मिलने गए। यानी वे पांडवों पर पूरी नजर रखे हुए थे। बस, एक बार वे द्वारका से बाहर होने के कारण चूके तो पांडवों से जुआ खेलने की महाभूल हो गई।

पांडवों का अज्ञातवास पूरा हो जाने के बाद राजा विराट की सभा में कृष्ण ने देश के कई हिस्सों से आए राजाओं के बीच पांडवों के समर्थन में जो विलक्षण भाषण दिया (उद्योगपर्व, अध्याय 1), उससे धर्म और अधर्म को लेकर कृष्ण की दृष्टि का सटीक परिचय 'महाभारत' के पाठकों को मिल सकता है। फिर युद्ध के वक्त उनकी इच्छा पांडवों के साथ रहने की थी और दुर्योधन तथा अर्जुन के एक साथ न्योतने के लिए आने पर वे बड़ी ही चतुराई से पांडवों के हो गए और दुर्योधन को शिकायत भी नहीं होने दी। युद्ध होने से पहले अर्जुन को ऐतिहासिक गीता-ज्ञान दिया और पूरे युद्ध में अर्जुन को लगातार बचाने और उस आधार पर पांडवों को विजयी बनाने का काम कृष्ण ने अनेक बार किया।

हमने कहा कि 'महाभारत' की फलश्रुति का नाम है कृष्ण। सवाल है, जब खुद क्रांतदर्शी कवि पांडवों को शत-प्रतिशत धर्मात्मा होने का सर्टिफिकेट जारी नहीं कर पा रहे थे तो कैसे कृष्ण ने खुलेआम पांडवों के साथ पक्षपात किया? उनका साथ दिया और अंत तक दिया और इतिहास ने अपने किसी भी मानदंड पर उसे आज तक अंश मात्र भी गलत नहीं ठहराया है? इतिहास ने जिस कृष्ण को पूर्णावतार कहकर देश भर में पूजा-अर्चना-आराधना का शिखर स्थान दे दिया है, उस कृष्ण के हक में हम भी यह कहने को मजबूर हैं कि वे अपने समय के उस घटनाक्रम के बारे में पूरी तरह से स्पष्ट थे, जिस पर खुद व्यासदेव भी टिप्पणी करने से परहेज कर रहे थे। इसका श्रेय कृष्ण की अद्भुत कर्मशीलता और गतिशीलता को जाता है कि वे अपने समय के हर व्यक्ति और हर घटना का सटीक आकलन कर रहे थे। इस तमाम घटना प्रवाह का रुख किसी महायुद्ध में ही हो सकता है, यह उनके विराट की सभा में दिए गए भाषण से स्पष्ट था, और इस युद्ध में विजय किस पक्ष की होगी या होनी चाहिए, घटना-प्रवाह के इस परिणाम या फल के बारे में वे संशयहीन थे। और अगर फलश्रुति का अर्थ परंपरा के आधार पर यह माना जाए कि 'महाभारत' को पढ़ने का फल या परिणाम क्या है, तो जाहिर है कि कृष्ण

जैसा अनुकरणीय और प्राप्तव्य चरित्र और किसी पात्र का है ही नहीं। यानी 'महाभारत' पढ़िए और सिर्फ कृष्ण का अनुकरण करिए। तो हम कृष्ण को 'महाभारत' की फलश्रुति न कहें तो और क्या कहें? खुद वेदव्यास ने ही नहीं, 5,000 साल के पूरे इतिहास ने इसी फलश्रुति की वंदना की है।

पर कृष्ण को समझ पाना खुद में एक विकट समस्या है। पौराणिकों द्वारा विष्णु के दस और चौबीस जितने भी अवतार माने गए हैं, उनमें किसी को कलावतार तो कुछ को अंशावतार माना गया है। यहाँ तक कि राम को विष्णु का तीन-चौथाई माना गया। यानी विष्णु की सोलह कलाएँ मानी गई हैं तो राम को बारह कलाओं का स्वामी माना गया है। वाल्मीकि तो राम को विष्णु का अर्धांश ही मानते हैं— 'विष्णोरर्ध महाभाग:' (बालकांड, 18,11)। पर कृष्ण को पूर्णावतार माना गया है। यानी उनकी सोलह कलाएँ मानी गई हैं। परंपरा उन्हें स्वयं भगवान् मानती हैं 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' नाम पर जाइए तो आपको कृष्ण के जितने नाम मिलेंगे— उतने शायद ही किसी अवतार के मिलें। राम को माँ कौसल्या, पिता दशरथ और वंश रघुकुल आदि के कारण मिले नामों को अलग कर दें तो उनका स्वतंत्र प्रसिद्ध नाम बस एक ही मिलेगा—मर्यादा पुरुषोत्तम। पर कृष्ण के पास नामों का अंबार लगा है। गिरिधर, गोपाल, गोविंद, मुरारी, केशी, केशव, नटवर, योगेश्वर और न जाने कितने। संस्कृत के एक कवि को तो उनके इतने सारे नामों ने इतना मोह लिया कि एक वस्तु या व्यक्ति के अनेक नामों को रूपायित करनेवाले उल्लेख अलंकार के उदाहरण के लिए एक श्लोक में कृष्ण के नामों की झड़ी लगा दी। सहस्रनाम शिव का भी है और कोई कवि जोर-आजमाइश पर उतर ही आए तो राम जैसे महागंभीर नायक का भी सहस्रनाम पूरा कर देगा। पर जो विविधता, खूबसूरती और संगीतात्मकता कृष्ण के सहस्रनाम में है वह कहीं और कहाँ? उसे भक्तों ने सीधे-सीधे विष्णुसहस्रनाम ही कह डाला है। रोज जप करेंगे तो (भौतिक) फायदे मिलेंगे, यह लालच भी दे दिया है। क्यों? कृष्ण को खुद भगवान् जो मान लिया गया है।

नामों की ऐसी विविधता क्यों? जाहिर है, इसलिए कि कृष्ण ने इतने सारे चमत्कारी काम कर दिए कि उनमें से हरेक काम कृष्ण को नया नाम दे गया। काम तो राम ने भी किए—ताड़का का वध कर दिया, अहल्या की पाषाण मूर्ति में जान डाल दी, शिव का धनुष तोड़ दिया। इसके बाद राम के जीवन में चमत्कार तब घटा जब उन्होंने अकेले ही खर-दूषण समेत 14,000 सैनिक मार डाले। पर जब उसकी तुलना इस तथ्य से करें कि महाभारत युद्ध में अकेले भीष्म रोज 10,000 सैनिकों का वध लगातार दस दिन तक करते रहे तो राम के चमत्कार को नमस्कार करने

को फिर मन नहीं करता। युद्ध में मूर्च्छित लक्ष्मण को जिलाने का श्रेय राम को नहीं, हनुमान को है। अगर विभीषण अमृत कुंभ का रहस्य न खोलता तो पता नहीं रावण का वध कब होता, होता या न होता। या अचानक पेट में बाण लग जाने से हो ही जाता। पर राम ने जितने भी चमत्कार किए, रहीम के इस दोहे के हिसाब से किए कि 'देनहार कोई और है, भेजत है दिन रैन। लोग भरम हम पे करें, तातें नीचे नैन॥' यानी राम ने हर काम इतनी गंभीरता से किया कि मानो कह रहे हों कि अरे, इसमें मेरा क्या बड़प्पन है। वजनी शिव धनुष हाथो हाथ उठाकर साध लिया तो इस अंदाज में कि बूढ़ा, पुराना, जीर्ण धनुष था, उठा लिया तो कौन सा अजब कर डाला!

पर कृष्ण के जन्म से लेकर निर्वाण तक न जाने कितने कामों का चमत्कारी संपादन हुआ है। काम भी कितने अलग तरह के और हर काम कितने रंग-बिरंगे तरीके से, मानो कह रहे हों कि देखा, यह कर डाला है मैंने। एक नाटकीयता, एक चुस्ती, एक चित्रकर्म हर काम के साथ जुड़ा है। तय कर लिया कि आज शिशुपाल को मारना है तो कहा कि शिशुपाल, अपने हिस्से के माफीशुदा अपराध पूरे कर लो, निकाल लो गालियाँ, कर लो मेरा अपमान। पर जैसे ही सौ अपराधों की संख्या पूरी हुई, अपने सुदर्शन चक्र से उसका काम तमाम कर दिया।

कृष्ण के हर चमत्कार का छबीलापन लाजवाब है। जन्म हुआ तो कारागार में। पता नहीं, कैसी अचूक योजना बना रखी थी राजा नंद और यादवों ने कि जेल में पैदा लड़के को निकाल गोकुल गाँव तक पहुँचाना और उधर यशोदा की सद्योजाता कन्या को जेल में जच्चा देवकी के पास पहुँचा देना—हर काम फुलप्रूफ तरीके से हो गया। इसके बाद आती है नाटकीयता से भरे चमत्कारों की झड़ी। पूतना को मारा उसके स्तनों पर पुते जहर को चूसकर। जहर क्या चूसा, उसकी सारी ऊर्जा चूस ली और निष्प्राण कर डाला। माँ ने ऊखल से बाँधा तो ऊखल समेत घिसटते-घिसटते दो पेड़ों में उसे फँसाकर पेड़ ही जड़ से उखाड़ डाले। बकासुर को उसके बगुले के रूप में चीरकर मार डाला तो अघासुर को उसके अजगर आकार में खुद को गले में फँसाकर निर्जीव कर दिया। गधे के रूप में आए धेनुकासुर को उसकी दुलत्ती से आसमान में उछालकर मारा और कालिय नाग के फणों पर खड़े होकर अपनी बाँसुरी की धुन पर नाचते-नाचते उसे नियंत्रित कर लिया। कृष्ण के बाल्यकाल का सबसे अद्‌भुत काम गोवर्धन धारण करना रहा, जिसके बहाने उन्होंने इंद्र की पूजा बंद करवा दी और पहाड़ को अपनाने का पाठ पढ़ाया।

यहाँ थोड़ा रुकना जरूरी है। हम पर आरोप लग सकता है कि हम लोगों की

भावनाओं का लाभ उठाकर कृष्ण के बाल्य चमत्कारों का वर्णन कर रहे हैं। पर यह कैसे हो सकता है? अगर कृष्ण का विश्लेषण करना है तो उनके जीवन पर नजर डालनी ही होगी, जो हमें किताबों में मिलता है। कृष्ण हुए या नहीं हुए, वे इतिहास-नायक हैं या हमारी कल्पना के स्वामी, भारत के आज के महाब्राह्मणों द्वारा उठाए जा रहे ये सारे सवाल व्यर्थ के हैं। वे इतिहास-पुरुष थे और जाहिर है कि वे हमारी कल्पना के सभी पोरों में मूर्ति बनकर पिघल चुके हैं। पोर-पोर भर चुका है। इसलिए जैसी तसवीर कृष्ण की मिलती है उसी को उलट-फेर कर टटोलना-पहचानना होगा। कहाँ है दूसरा ऐसा नायक, जो कृष्ण का पासंग भी ठहरता हो? इसलिए कुरेदने के अलावा दूसरा कोई चारा नहीं है, नकारने का कोई मौका ही नहीं है।

किशोर कृष्ण के जीवन में दो चीजें घटीं। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। एक रास, दूसरा कंस वध। रास में एक कृष्ण गोपियों के साथ खेल रहे हैं। काम-क्रीड़ा और रासलीला में जो महीन फर्क है, हो सकता है, उसी बिना पर गोपियों के साथ कृष्ण के संबंधों की व्याख्या हो सकती हो। रास में अनेक गोपियों के साथ एक ही कृष्ण हैं, पर महारास में एक-एक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण हैं। इसके दार्शनिक भागवत विवेचन में डूबने की यहाँ हमारी कोई मंशा नहीं है। पर संबंधों की तीव्रता और घनता की ये अलग-अलग कोटियाँ या स्तर जरूर हैं। इतिहास द्वारा कल्पित और क्रमशः विकसित की गई और परम आह्लाद की प्रतीक राधा के साथ उनके रिश्तों का आयाम ही अलग है। ठीक इसी रास-महारास को बीच में छोड़ मथुरा जाकर कंस का वध करते हैं। बाधा दौड़ जीतने के अंदाज में वे पहले चाणूर और मुष्टिक नामक दो पहलवानों को ठिकाने लगाकर, फिर कंस को बालों से खींचकर सिंहासन से गिराकर भरी सभा में उसका वध कर देते हैं।

महाभारत वाले कृष्ण से परिचय से पहले द्वापर के हमारे ये महानायक कई शादियाँ रचाते हैं। जरासंध के डर के मारे मथुरा छोड़ द्वारिका पलायन करने के आसपास कृष्ण रुक्मिणी, सत्यभामा, जांबवती, कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा से शादियाँ रचाते नजर आते हैं। बाद के आलोचकों को कृष्ण के गोपी व रास प्रसंगों पर तथा इन आठ शादियों पर इतना मजा आया कि उन्होंने उनकी सोलह हजार पत्नियों की कहानियाँ सुनानी शुरू कर दीं। पर उनकी विशिष्ट पत्नियाँ दो ही रहीं—रुक्मिणी और सत्यभामा। इनमें से भी रुक्मिणी का स्थान सर्वोपरि है।

अब शुरू होती है महाभारत की स्पर्धा। जब अर्जुन और दुर्योधन दोनों कृष्ण

से युद्ध में सहायता लेने के लिए आए तो कृष्ण ने अपनी पूरी नाटकीयता के साथ अर्जुन को चुनने का पहला मौका इसलिए दिया कि वह उनके पैरों की ओर बैठा था और नींद खुलते ही कृष्ण ने पहले उसे देखा था। पर इससे पहले जरासंध वध, शिशुपाल वध, चीर-हरण के प्रसंग घट चुके थे। जब लगा कि युद्ध लगभग अनिवार्य है तो कृष्ण ने एक आखिरी कोशिश दुर्योधन को समझाने की की, पर दुर्योधन ने कृष्ण को बंदी बना लेना चाहा तो कृष्ण ने उसे अपनी शक्ति दिखा दी और साफ बच निकले। युद्ध में कृष्ण ने हथियार न उठाने और सिर्फ अर्जुन का सारथ्य करने की प्रतिज्ञा की थी। पर जब लगा कि अर्जुन भीष्म को मारने में हिचकिचा रहा है तो फिर वे खुद टूटे रथ का पहिया उठाकर सुदर्शन चक्र की शैली में उसे घुमाते हुए भीष्म को मारने दौड़े। अर्जुन उनके पाँव पड़ उन्हें लौटा लाए। फिर कृष्ण ने ही पांडवों को सलाह दी कि भीष्म से उनके मरने का तरीका पूछा जाए। वैसा हुआ और शिखंडी की मदद से भीष्म को मार दिया गया। द्रोण को मारने के लिए कृष्ण ने ही युधिष्ठिर जैसे धर्मराज से भी 'नरो वा कुंजरो वा' कहलवाया। जयद्रथ को अर्जुन के हाथों मरवाने के लिए कृष्ण ने ही सूर्यास्त का नाटक करवाया। रथ के धँसे पहिए को निकालने में व्यस्त कर्ण को मारने में अर्जुन कुछ संकोच कर रहा था। उसे कृष्ण ने ही निस्संकोच किया और कर्ण का सिर धड़ से अलग करवाया। इससे पहले घटोत्कच पर कर्ण की शक्ति चलवाकर और कर्ण को कमजोर कर अर्जुन को बचाने की नीति कृष्ण ने ही रची। दुर्योधन की जाँघ पर गदा मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कृष्ण ने ही भीम को उकसाया।

ये सब काम कृष्ण ने किए। अब हमारा सवाल वहाँ जा खड़ा होता है जहाँ पहुँचने के लिए हम इतनी देर से कृष्ण के पंचरंगी और सप्तलयी जीवन का खाका खींचे चले आ रहे हैं। सवाल है कि धर्म-विमुख और मर्यादाहीन उस समाज में कृष्ण के जीवन का क्या लक्ष्य था? ऐसा कौन सा उद्देश्य था, जिसको पाने के लिए कृष्ण आजीवन इतने सारे काम करते रहे? वे क्या पाना चाहते थे? इतने सारे कामों के जरिए वे क्या कर दिखाना चाहते थे?

सवाल इसलिए उठता है कि जितने भी देवरूप हैं, जो विष्णु का अवतार कहे गए हैं, सबके साथ कोई-न-कोई स्पष्ट लक्ष्य जुड़ा है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को क्रमशः जन्म, विकास और प्रलय का दायित्व हमारे मिथककारों ने सौंप रखा है। वराहावतार का उद्देश्य रसातल में डूबी पृथ्वी का उद्धार करना था। कच्छपावतार ने समुद्र-मंथन का दायित्व निभाया। परशुराम दुष्ट राजाओं को मारते घूमते रहे।

राम के जीवन को पढ़ जाएँ तो संबंधों और राजकाज का आदर्श रूप उनके कामों के माध्यम से स्थापित होता नजर आता है। भगवान् बुद्ध ने यज्ञों में बढ़ती हिंसा की समाप्ति की। शंकर ने बौद्ध धर्म से उत्पन्न आलस्य और नैष्कर्म्य को फिर से अद्वैत के आदर्श से स्थानापन्न कर जीवन में यथार्थ की दार्शनिक प्रतिष्ठा की। पर कृष्ण क्या करना चाह रहे थे?

कृष्ण राजा नहीं बने। कोई बड़ी लड़ाई नहीं जीती। कोई बड़ा साम्राज्य उन्होंने खड़ा नहीं किया। पांडवों को राज्य दिलाना उनके जीवन का चरम लक्ष्य नजर नहीं आता। जितने राजा और राक्षसों का उन्होंने वध किया या करवाया, उनमें से किसी से उनकी व्यक्तिगत शत्रुता नहीं थी। किसी वध का कोई लाभ उन्हें नहीं मिला। वे सारा जीवन सारा भारत, विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत में घूमते रहे। हमेशा कुछ-न-कुछ करते रहे। पूरे परिदृश्य पर वे छाए रहे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उनकी अग्रपूजा हुई, यानी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माने गए। वे जहाँ गए, अपनी छाप छोड़ गए। पर इन सबसे उनका कौन सा लक्ष्य सधा, उन्हें क्या मिला? वे अकेले, जंगल में पेड़ की छाया में उसके तने से पीठ टिकाकर चुपचाप बैठे थे और एक बहेलिए के बाण से उनकी मृत्यु हो गई। यानी अंत समय उनके पास न राज्य था, न परिवार, न कोई छोटी-बड़ी वस्तु। फिर किसलिए, क्या पाने के लिए वे ताजिंदगी चलते और कर्म करते रहे? वे लक्ष्यहीन नहीं थे। क्या कोई लक्ष्यहीन व्यक्ति इतना सक्रिय होता है? इतना लोकप्रिय और प्रभावशाली होता है? यहाँ तक कि सारे देश में, योद्धाओं और सम्राटों से भरे तब के भारतवर्ष में सिर्फ उन्हें अग्रपूजा के लायक माना गया। क्या लक्ष्यहीन व्यक्ति इतना सम्मान पा सकता है? पूर्णावतार माना जा सकता है? यानी वे लक्ष्यहीन नहीं थे, तो क्या था उद्‌देश्य?

कृष्ण ने 'गीता' में एक जगह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। अपने अवतार का उद्‌देश्य बताते हुए वे एक जगह कहते हैं कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं खुद को इस धरती पर प्रकट करता हूँ। इसके मुताबिक तो कृष्ण के जीवन का लक्ष्य धर्म की स्थापना करना होना चाहिए। इसलिए सवाल है कि किस तरह के या कौन से धर्म की स्थापना कृष्ण ने अपने जीवन में की?

वह धर्म क्या था, जिसकी स्थापना करना कृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया? धर्म को लेकर हमारी समझ अब तक काफी साफ हो चुकी है। भारतीय परंपरा धर्म का वह अर्थ नहीं लेती, जो पश्चिम के 'रिलीजन' या 'मजहब' शब्द से

निकलता है और जिस अर्थ-कसौटी पर इसलाम और ईसाइयत खरे उतरते हैं। भारतीय विचार इन दोनों को धर्म नहीं, संप्रदाय मानता है। कृष्ण ने अगर किसी धर्म की स्थापना की है तो जाहिर है कि उसमें न कोई जड़ता है और न संकीर्णता। कृष्ण जैसा अप्रतिबद्ध, कर्म-परंपरा का प्रतीक व्यक्तित्व जड़ता और संकीर्णता का हामी हो ही नहीं सकता था।

यदि धर्म का अर्थ है जीवन-मूल्य तो जाहिर है कि जीवन-मूल्य हर युग में, हर व्यवसाय में ही नहीं, हर व्यक्ति और समाज में बदलते रहते हैं। इसलिए भारतीय परंपरा में हरेक का अपना धर्म है—राजधर्म, नारीधर्म, पतिधर्म, पुत्रधर्म, वाणिज्यधर्म, जातिधर्म, ब्राह्मणधर्म, गृहस्थधर्म, युगधर्म वगैरह। इसलिए भारत में न कभी धर्म को परिभाषाओं में बाँधा गया, न ही सब पर थोप दिए जानेवाले विधि-निषेधों में जकड़ा गया और न ही उसे किसी व्यक्ति, ग्रंथ या उपासना विधि का प्रतीक माना गया। धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान के संदर्भ में साधुओं का परित्राण और दुष्कृतों के विनाश की कैसी भी व्याख्या आप करना चाहें, आपको इसी संदर्भ में करनी पड़ेगी।

इसलिए 'गीता' में, जिसे कृष्ण का जीवन-दर्शन माना जाता है, किसी एक संप्रदाय या विचारधारा को धर्म कहकर उनका प्रतिपादन नहीं किया गया। 'गीता' में अपने समय की तमाम विचार-सरणियों का विवरण है। वहाँ सांख्य है, योग है, कर्म है, ज्ञान है, भक्ति है, संन्यास है, ध्यान है, अक्षरब्रह्मयोग है, राजविद्या है, विभूतिवर्णन और उसका प्रतिनिधि विश्व रूप दर्शन है, प्रकृति-पुरुष विवेचन है, दैवी-आसुरी संपदा है, यज्ञ-प्रकार हैं और मोक्ष का वर्णन है। अगर हम यह जानना चाहेंगे कि क्या कृष्ण ने इनमें से किसी धर्म का खास प्रतिपादन किया है तो 'गीता' हमें कोई दो-टूक उत्तर नहीं देती। दो-टूक उत्तर यही देती है कि इसमें से किसी एक के साथ कृष्ण खुद को नहीं बाँधते। बाँधते होते तो इतने सारे जीवन-मूल्यों का सविस्तार प्रतिपादन नहीं कर पाते।

और तो और, कृष्ण ने एकाधिक बार कहा है कि जो वे अब कह रहे हैं वह सनातन धर्म है—एष धर्मः सनातनः। इसके भरोसे हिंदू कर्मकांडियों ने, जो कल तक छुआछूत, पूजापाठ, कर्मकांड और जात-पाँत को ही इस देश की आत्मा कहते रहे और आर्यसमाज के उद्भव के बाद अपने विचारों को सनातन धर्म कहना जिन्होंने शुरू किया, वे 'गीता' की दुहाई देकर कहते थे कि देखो, वहाँ सनातन धर्म को महत्त्व मिला है और साफ कह दिया गया है कि दूसरे का धर्म मत अपनाओ, चाहे अपने धर्म के कारण मर ही क्यों न जाना पड़े—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो

भयावह:।' पर यह धर्म की वही कर्मकांडी और सांप्रदायिक व्याख्या है, जिस पर इसलाम और ईसाइयत ही खरे उतर सकते हैं, भारत नहीं; क्योंकि वहाँ धर्म का अर्थ है जीवन मूल्य या जीवन जीने की मर्यादा।

कृष्ण के कामों और उनकी उक्तियों के संदर्भ में उनके जीवन का लक्ष्य आँका जाए तो हमारा सफलता से परिचय नहीं होगा। उनके काम एक ही दिशा में, एक-दूसरे के साथ जुड़ते हुए बढ़ते नजर नहीं आते। वे राक्षसों का वध करते हैं, मथुरा छोड़ द्वारिका जा बसते हैं, सारथि बनते हैं और युद्ध में ही नहीं, हमेशा पांडवों का साथ देते हैं, इन सब में कोई ऐसा सम्यक् सूत्र नहीं है, जो कृष्ण के किसी एक महान् लक्ष्य की ओर हमें ले जाता हो। कृष्ण पांडवों के साथ सिर्फ इसलिए नहीं थे कि पाँचों पांडव कोई बड़े नैतिकतावादी या धर्म पर, मूल्यों के संदर्भवाले धर्म पर मर मिटने वाले थे, बल्कि इसलिए थे कि धृतराष्ट्र के पुत्रों के बजाय कुंतीपुत्र धर्म के और उनके ज्यादा निकट थे। अर्जुन के वे सखा थे और द्रौपदी के साथ उनके संबंधों में अपरिभाषित राग का कोई अद्भुत समावेश था। पांडव चाहे खुद बड़े तपस्वी और महात्मा न रहे हों, पर उनके साथ पूरा न्याय नहीं हुआ था। उनके विरुद्ध शुरू से ही हत्या-षड्यंत्र हुआ और वे अपने युद्ध-पूर्व व्यवहार में प्राय: उत्तेजक या क्षोभकारी नहीं हुए, उससे वे सबके चहेते बन गए थे। बिन बाप के बेटों को भटकाया गया, इससे उन्हें जन-सहानुभूति भी मिली। कृष्ण भी अगर इन सब कारणों से पांडवों के साथ हो गए हों तो क्या अजब? पर जो लोग यह कहना चाहते हैं कि पांडवों का पक्ष न्याय और धर्म का पक्ष था और उनके मार्फत कृष्ण कोई उद्देश्य पूरा करना चाह रहे थे तो इसे पांडवों का अधिमूल्यांकन और कृष्ण का अवमूल्यांकन ही कहा जाएगा। पांडवों के सब काम ठीक ही होते तो कृष्ण यह न कहते कि मैं रहता तो युधिष्ठिर को जुआ न खेलने देता। पर इन्हीं कृष्ण ने युद्ध में पांडवों से कई तरह के ऐसे-ऐसे काम करवाए, जो युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने हिचकिचाते हुए किए।

कृष्ण के जीवन की दो बातें हम अकसर भुला देते हैं, जो उन्हें वास्तव में अवतारी सिद्ध करती हैं। एक विशेषता है—उनके जीवन में कर्म की निरंतरता। कृष्ण कभी निष्क्रिय नहीं रहे। वे हमेशा कुछ-न-कुछ करते रहे। उनकी निरंतर कर्मशीलता के नमूने उनके जन्म और शैशव से ही मिलने शुरू हो जाते हैं। इसे प्रतीक मान लें (कभी-कभी कुछ प्रतीकों को स्वीकारने में कोई हर्ज नहीं होता) कि पैदा होते ही जब कृष्ण खुद कुछ करने में असमर्थ थे तो उन्होंने अपनी खातिर पिता वसुदेव को मथुरा से गोकुल तक की यात्रा करवा डाली। दूध पीना शुरू किया

तो पूतना के स्तनों को और उनके माध्यम से उसके प्राणों को चूस डाला। घिसटना शुरू किया तो छकड़ा पलट दिया और ऊखल को फँसाकर वृक्ष उखाड़ डाले। खेलना शुरू हुए तो बक, अघ और कालिय का दमन कर डाला। किशोर हुए तो गोपियों से दोस्ती कर ली। कंस को मार डाला। युवा होने पर देश में जहाँ भी महत्त्वपूर्ण घटा, वहाँ कृष्ण मौजूद नजर आए। कहीं भी चुप नहीं बैठे। वाणी और कर्म से सक्रिय और दो-टूक भूमिका निभाई और जैसा ठीक समझा, घटनाक्रम को अपने हिसाब से मोड़ने की पुरजोर कोशिश की। कभी असफल हुए तो भी अगली सक्रियता से पीछे नहीं हटे। महाभारत संग्राम हुआ तो उस योद्धा के रथ की बागडोर सँभाली, जो उस वक्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी था। विचारों का प्रतिपादन ठीक युद्धक्षेत्र में किया। यानी कृष्ण हमेशा सक्रिय रहे, प्रभावशाली रहे, छाए रहे।

यहाँ आकर उनके जीवन का किसी विशिष्ट लक्ष्य से विहीन होना, किसी एक लक्ष्य से खुद को न बाँधना अभिशाप या उपहास का विषय नहीं, वरदान बन जाता है। शायद कृष्ण इसलिए इतने क्रियाशील, इतने प्रभावशाली और अग्रपूज्य हो सके कि उनका कोई काम किसी विशेष संकीर्ण प्रयोजन से अनुप्राणित नहीं था। उस वक्त जो हो रहा है उसमें क्या ठीक लग रहा है, क्या गलत, इसका फैसला कर अपने को वहाँ जताना और जमकर जताना, फिर आगे कहीं और बढ़ जाना— इतना मात्र प्रयोजन कृष्ण का रहा। इसलिए कृष्ण के प्रयोजन को स्वार्थ-पूर्ति नहीं कह सकते, उसे आप विवेक का क्रियान्वयन कह सकते हैं। यानी वे विवेक को समर्पित होकर, ध्यान दीजिए, लगी-बँधी लकीरवाली नैतिकता या दूसरे बंधनों को समर्पित होकर नहीं, लगातार काम करते रहे, कर्मपरायण रहे। उनका कोई कर्म उनके अपने स्वार्थ परिपूर्ण प्रयोजन से अनुप्राणित या उसका पोषक नहीं रहा। यही कृष्ण की प्रतिभा थी, शक्ति थी और प्रभाव था, जो उस युग में किसी के पास नहीं था। कृष्ण अपनी इसी विवेक-अनुप्राणित और तेजस्वी सक्रियता, कर्मशीलता के कारण सर्वश्रेष्ठ हो गए, अग्रपूज्य हो गए, पूर्णावतार हो गए।

कृष्ण ने इसी जीवन-दर्शन को 'गीता' में भी कहा है। जीवन में वे कर्म करते रहे, 'गीता' में वे कर्म का उपदेश दे रहे हैं। जीवन में उनका प्रत्येक कर्म विवेक का ही क्रियान्वयन करता है, अपने किसी स्वार्थ या प्रयोजन की पूर्ति नहीं। 'गीता' में भी वे मनुष्य को जिस कर्म के लिए कहते हैं, उसमें फल के अधिकार को उससे छीन लेते हैं। 'गीता' में उस वक्त भी सभी विचारधाराओं का वैसा ही प्रतिपादन है जैसा कि जीवन में कृष्ण हर घटनास्थल पर उपस्थित रहने के प्रयास में रहे। इस तमाम विचार-जंगल में कृष्ण सिर्फ कर्म को मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र में रखते हैं

और इस जीवन के घटना-महाजंगल में वे हमेशा सोत्साह कर्मशील नजर आते हैं। 'गीता' में वे कहते हैं कि कर्म हमारे अधिकार-क्षेत्र में है, उसका परिणाम हमारे अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। तो क्या इसलिए उन्होंने पूरे कर्मपरायण और तेजस्वी जीवन को प्रयोजन विशेष से या फल विशेष से नहीं बाँधा?

दो बातें और कहनी हैं। कृष्ण के दर्शन को अकसर गलत शब्दावली में रख दिया जाता है। कह दिया जाता है कि कर्म करो, फल की इच्छा न करो। कोई अव्यावहारिक ही ऐसा कहेगा, कृष्ण जैसा खाँटी व्यावहारिक व्यक्ति नहीं। बल्कि कृष्ण ने कुछ और ही कहा है—मनुष्य का अधिकार कर्म में है—कर्मण्येवाधिकारस्ते। फल मिलेगा या नहीं, जाने कैसा मिलेगा, इस पर हमारा बस कहाँ है! इसलिए कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है—मा फलेषु कदाचन (ते अधिकार:)। कृष्ण के दर्शन की गलत समझ ने देश को गुलाम बनाया, जबकि ठीक समझ उसे विश्व की महाशक्ति और जगद्गुरु बनाने की परमाणु शक्ति सँजोए है।

दूसरी बात। समस्या यह है कि फल हमारे अधिकार में नहीं, चूँकि यह कटु यथार्थ है, इसलिए कैसे व्यक्ति कर्म के लिए कर्म करने को उद्यत हो। इसके लिए कृष्ण ने रास्ता बताया है भक्ति का। भक्ति का अर्थ मंदिर में घंटियाँ बजाना नहीं है, समर्पण है। अगर आप समर्पित हैं तो फल पर अधिकार न जताते हुए भी साधिकार कर्म करते चले जाएँगे। पर समर्पण किसको? समर्पण खुद को और किसको? पर यह कैसे संभव है? इसी के जवाब में कृष्ण कहते हैं कि मुझे यानी कृष्ण को यानी ईश्वर को समर्पित होकर कर्म करो—'मन्मना भव मद्भक्त:' पर 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्।' कर्म तो करना ही होगा। इसके पहले ग्यारहवें अध्याय में खुद को वे विश्व के साथ एकाकार कर चुके हैं।

यानी खुद को या कृष्ण को समर्पित होने का अर्थ है विश्व को (समाज को?) समर्पित होना। यानी खुद को समर्पित होना है तो पहले खुद को विश्वाकार बनाना, मानना पड़ेगा। एक बार बन, मान गए तो कृष्ण के तेजस्वी, आपातत: निर्लक्ष्य पर सतत कर्मपरायण जीवन का और फल पर अधिकार जताए बिना कर्मशील गीता-दर्शन का मर्म भी समझ में आ जाता है। पर खुद को विश्वाकार समझना ही तो कठिन है। इसीलिए तो कहते हैं कि कृष्ण बनना ही आसान कहाँ है? पूर्णावतार होना कोई खाला का घर तो नहीं। 'गीता' अगर कृष्ण के संपूर्ण कर्म-परायण जीवन की वैचारिक अभिव्यक्ति है तो 'महाभारत' की फलश्रुति कृष्ण को समझने के लिए कृष्ण की वैचारिक अभिव्यक्ति से भी परिचित तो होना ही पड़ेगा। तभी तो पूरी तरह समझ में आ पाएगा कि कैसे धर्म-विमुख और

मर्यादा-विहीन समाज में कृष्ण ने जीवनयापन के लिए निष्काम कर्मयोग की फलश्रुति यानी 'गीता' प्रतिपादित की?

'गीता' अर्थात् जिसे गाया गया था। जाहिर है कि कृष्ण ने अर्जुन को यह पुस्तक गाकर नहीं सुनाई होगी। वैसा मौका ही कहाँ था? दोनों ओर सेनाएँ खड़ी हों, नगाड़े बज रहे हों, शंखनाद हो रहा हो, धनुषों की टंकार हो रही हो, क्या ऐसे लोमहर्षक और उत्तेजक माहौल में कोई गा सकता है? नहीं गा सकता, तो फिर उसे 'गीता' क्यों कह दिया गया? जवाब के लिए बहुत दूर नहीं जाना पड़ता। दुनिया में जितने भी युद्ध हुए, किसी में भी दार्शनिक परिसंवाद का ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। हाथ में धनुष उठाए एक मायूस योद्धा जीवन, जगत् और मोक्ष संबंधी सवाल पूछ रहा हो और रथ में जुते उतावले घोड़ों की लगाम थामे एक कुशल, स्थितप्रज्ञ सारथि उन प्रश्नों का उत्तर दे रहा हो—ऐसा विलक्षण दृश्य सिर्फ कल्पना में ही आ सकता है।

कलिंग युद्ध के बाद सम्राट् अशोक का हृदय-परिवर्तन हो गया था। इस पर नोट कीजिए, यह परिवर्तन युद्ध के बाद हुआ था। इसलिए इसे श्मशान-वैराग्य का ही बृहत् संस्करण माना जा सकता है। श्मशान में जाकर हम लोग जीवन की क्षणभंगुरता को लेकर अचानक दार्शनिक हो जाते हैं और खुद को मोह-माया में फँसा कहकर कोसने लगते हैं। पर श्मशान की सीमा से बाहर आते ही क्या हमारा वैराग्य उड़न-छू नहीं हो जाता और हम फिर से जीवन की मारा-मारी में नहीं फँस जाते? इसीलिए उसे श्मशान-वैराग्य कहा गया है, क्योंकि वह श्मशान की परिधि के बाहर टिक नहीं पाता। अशोक को एक विराट् श्मशान दिखा, इसलिए उसका वैराग्य भी विराट् हो गया। पर उस वैराग्य में से युद्ध के प्रति वितृष्णा तो पैदा हो गई, जीवन को लेकर किसी नए दर्शन का प्रतिपादन नहीं हुआ। इसलिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी क्यों न उस वैराग्य को श्मशान-वैराग्य का बृहत् संस्करण माना जाए? पर अर्जुन को वैराग्य नहीं, विषाद हुआ था। जो विषाद आपको जीवन में नए ढंग से जोड़ दे, उसे कृपया विषाद नहीं, विषादयोग कहिए। यहाँ योग का अर्थ हुआ—जीवन में जोड़ देनेवाला। जो कर्म आपको बाँधे रखे, वह महज कर्म हुआ; पर जो कर्म आपको जीवन का रहस्य समझा दे, वह कर्मयोग है। जो ज्ञान आपको पता है, वह सिर्फ ज्ञान है; पर जो ज्ञान आपके जीवन को बदल दे (और कौन नहीं जानता कि बहुत कम ज्ञानी ऐसे होते हैं, जिनका जीवन अपने ज्ञान की वजह से बदला हुआ होता है) वह ज्ञानयोग है। इसलिए 'गीता' कर्मयोग का, ज्ञानयोग का मतलब हमें समझाती है और इसलिए अर्जुन के विषाद को 'गीता' में विषादयोग कहा गया

है। जब अर्जुन जैसे विद्वान् योद्धा का विषाद 'योग' के स्तर को जा छूता है तब हम 'गीता' से कम किसी ग्रंथ की कल्पना भला कर सकते हैं क्या? अकारण नहीं कि कोई 'रामायण' नहीं, बल्कि कोई 'महाभारत' ही 'गीता' को जन्म दे सकी। 'रामायण' में खासकर तुलसी की रामकथा में राम स्वयं 'ब्रह्म अनामय अज भगवंता' हैं। हनुमान को भक्ति ने ऐसा मस्त कर दिया है कि उनके पास जीवन के बारे में सोचने की फुरसत ही नहीं। लक्ष्मण ज्ञानी हैं, पर उन्हें कभी वैसा विषाद ही नहीं हुआ और विभीषण विषण्ण हैं, पर उनके पास जिज्ञासा कहाँ है? अगर कहीं महाविद्वान् रावण और राम के बीच संवाद हो गया होता तो यकीन मानिए, एक ऐसी ही अनुपम 'गीता' वाल्मीकि रामायण में भी मिल जाती। पर वहाँ ऐसा अवसर ही नहीं आया और 'गीता' को महाभारत की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

और वहाँ भी हमें 'गीता' कहाँ मिलती है? 'गीता' के अठारह अध्याय हैं और वह अठारह पर्वोंवाले महाभारत प्रबंध काव्य के बीचोबीच लिखी पड़ी है। युद्ध के नगाड़े बज चुके हैं और मार-काट मचना ही चाहती है; बल्कि कुछ छोटे-मोटे सिपाहियों ने तो तलवारें चटका ही दी हैं। ठीक इसी वक्त एक विचित्र घटना घटती है, जो प्राय: किसी युद्ध में नहीं घटती। युद्ध भाई-भाइयों में, पिता-पुत्रों में, मामा-भानजों में, चाचा-भतीजों में, दादा-पोतों में, गुरु-शिष्यों में हो रहा है, इसलिए ऐसी घटना संभव हो सकी। घटना का संबंध अर्जुन के विषाद से है। सामने सगे-संबंधियों को देख उसके पसीने छूट जाते हैं, मुँह सूखने लगता है और वह गांडीव छोड़कर बैठ जाता है कि मुझे नहीं लड़ना वह युद्ध, जहाँ द्रोण जैसे गुरु और भीष्म जैसे पितामह की लाशों पर चलकर हस्तिनापुर का सिंहासन मिल रहा हो।

अर्जुन जब धनुष छोड़कर और हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ ही गया तो कृष्ण ने पहले सामान्य तरीके से अर्जुन को समझाने की कोशिश की, "अरे, तुम्हारे अंदर यह विषाद कैसा आ गया? यह तो आर्य चरित्र के विपरीत है। इससे तुम सीधा नरक में जाओगे। अकीर्ति होगी। इस कदर नपुंसक जैसा व्यवहार नहीं करो। हृदय की दुर्बलता छोड़ो और उठ खड़े हो।"

पर अर्जुन पर इन चिकनी-चुपड़ी धमकियों और डाँट का कोई असर ही नहीं पड़ा। वह तो बस यही रट लगाए रहा कि 'मैं भला भीष्म को कैसे मारूँगा, कैसे द्रोण से युद्ध कर पाऊँगा।' अर्जुन बोलता रहा और कृष्ण सुनते रहे। और अंतत: जब अर्जुन ने समर्पण कर दिया कि 'मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है। मैं आपके पास एक शिष्य की भाँति शरणागत हूँ। मुझे बताओ कि मुझे क्या करना है—शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। तो कृष्ण का गुरुत्व जागा और खुद 'गीता' के अनुसार,

उन्होंने मुसकराते हुए अर्जुन को उपदेश दिया। इसी को हम 'गीता' कहते हैं।

तो क्या कहा था कृष्ण ने? इस पर सोचने से पहले यह सोचें कि क्या इतना बड़ा उपदेश युद्ध के लिए उन्मत्त हो रही दो सेनाओं के मध्य दिया जा सकता है? इतने सवाल-जवाब हो सकते है? अगर कृष्णार्जुन संवाद आस-पास खड़े महारथी भी सुन रहे होंगे तो क्या वे क्रुद्ध नहीं हो रहे होंगे कि आखिर क्या सूझी है अर्जुन को कि ठीक बिगुल बजाने के मौके पर, बल्कि कई बिगुल बज चुकने के बाद, वह ब्रह्मसभा खोलकर बैठ गया है? नहीं सुन पा रहे होंगे तो क्या उकता नहीं गए होंगे कि आखिर माजरा है क्या, रथी-सारथि आपस में कभी भावुक और कभी विचारपूर्ण तरीके से क्या बतियाए जा रहे हैं?

किसी घटना या वस्तु के खंडन से ही हमें संतोष मिलता हो तो कोई संवाद फिर हो ही नहीं सकता। पर अगर समझने का इरादा हो तो निवेदन यह है कि निश्चित ही अर्जुन और कृष्ण के बीच इतना बड़ा संवाद रणभूमि में संभव नहीं हुआ होगा। कुछ संक्षिप्त, पर जीवन-दर्शन की दृष्टि से काफी गहरी बातचीत हुई होगी। अर्जुन को तसल्ली हो गई होगी और वह फिर से लड़ने को तत्पर हो गया होगा। यह भी तय है कि अर्जुन और कृष्ण के बीच यह संवाद श्लोकबद्ध नहीं हुआ होगा। यह संभव ही नहीं था। सभी जानते हैं कि 'महाभारत' नामक प्रबंध काव्य एक टीम ने लिखा है और इसलिए हम तो यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि व्यास ने प्रारंभ में महाभारत में 'गीता' को कोई स्थान ही शायद न दिया हो और उनकी टीम के सदस्यों ने आगे चलकर इस संवाद के दार्शनिक व काव्यात्मक महत्त्व को समझकर उसे भीष्मपर्व में प्रतिष्ठित कर दिया हो। 'महाभारत' एक प्रबंध काव्य है और 'गीता' उसका एक अविभाज्य हिस्सा है। काव्य में हर कथोपकथन और हर घटना को ठीक उसी शब्दावली में या उसी सिलसिले में रखना संभव ही नहीं होता (बल्कि काव्य और सौंदर्य बनाए रखने के लिए वैसे रखना ही नहीं चाहिए), जिस तरह वास्तविक जीवन में उसे कहा गया होता है या वह घटा होता है। द्वापर और कलियुग के संधिकाल के दो महान् व्यक्तियों के आपसी संवाद को अगर जस-का-तस रख दिया गया होता तो हमारे लिए उसकी सिर्फ तकनीकी कीमत ही तो होती। इसलिए हमें यह कुतर्क कभी प्रभावित नहीं करता कि चूँकि 'गीता' का शब्द-संसार अर्जुन और कृष्ण के बीच हुई बातचीत को काव्यमय तरीके से पेश करता है, इसलिए उसकी बेकद्री कर दी जानी चाहिए।

बल्कि हमें शुक्रगुजार होना चाहिए उस महापंडित का। पता नहीं वह कौन निर्मोही रहा होगा, जिसे नाम कमाने की फिक्र ही नहीं थी, कि उसने एक महान्

संवाद को, हम दोहरा रहे हैं कि युद्धक्षेत्र में घटे एक महान्, बेशक संक्षिप्त संवाद को 'गीता' का रूप देकर 'महाभारत' रूपी हार में हीरे की तरह पिरो दिया। इस विश्वस्ति भाव से पिरोया कि 5,000 साल होने को आए, पर 'गीता' का महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है। वह हमारा राष्ट्रीय ग्रंथ बन चुका है और महाभारत का हिस्सा होने पर भी यकीनन उसका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है। हमें तो उस महापंडित को प्रणाम करना चाहिए, जिसने 'गीता' में न केवल कृष्णार्जुन संवाद को समाहित किया, बल्कि उस संवाद के सार्वजनिक और सार्वकालिक महत्त्व को समझ-बूझकर उसमें कई अन्य विचारपूर्ण बातें भी लिख दीं। कृष्ण और अर्जुन के बीच एक संक्षिप्त संवाद ही हुआ होगा और हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि 'गीता' को आकार देते समय इस महापंडित ने कृष्ण द्वारा अन्याय अवसरों पर कहे गए विचारों को उसमें शालीनतापूर्वक रख दिया। यहाँ तक भी हो सकता है कि 'गीता' को सर्वस्वीकार्य बनाने के लिए उसने वहाँ उन सिद्धांतों और विचारधाराओं को भी स्थान दे दिया हो, जो तब प्रचलित हों और कृष्ण के सर्वस्वीकार्य व्यक्तित्व को देखते हुए उन्हें कृष्ण के मुख से कहलवाना बेहद स्वाभाविक लगता हो। कौन रहा होगा यह महापंडित? वेदव्यास? यकीनन। व्यास के अलावा और हो भी कौन सकता है?

यह 'गीता' को देखने का एक नजरिया है। इसी नजरिए को हम एक अलग तरीके से भी समझ सकते हैं। कैसे? वह ऐसे कि—

'गीता' दुनिया भर में लिखे सामान्य ग्रंथों जैसा नहीं है। श्लोक इसमें बेशक थोड़े से ही हैं, करीब 700। पर अपने इन थोड़े से श्लोकों के बावजूद यह एक महाग्रंथ है, जिसने हमारी सभ्यता को एक जीवन-दर्शन दिया है, जिंदगी बिताने का एक सलीका समझाया है और विश्व में हमें गौरव प्रदान कराया है। 'गीता' के टीकाकार और ज्ञाता कहते हैं कि इसमें तीन मार्गों का विवेचन है—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। इस दृष्टि से देखें तो 'गीता' का स्वाभाविक अंत उसके बारहवें अध्याय में नजर आने लगता है। दसवें अध्याय में कृष्ण अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन कर चुके हैं और बारहवें में वे भक्तियोग का वर्णन करते हुए भक्त को ही अपना सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति बताते हैं। इस अध्याय के अंतिम श्लोक में तो वे इस हद तक कह देते हैं कि जो 'भक्त श्रद्धापरायण होकर मेरे इस धर्म्यामृत (यानी कृष्ण-अर्जुन संवाद) का निष्काम होकर प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे मुझे अतिशय प्रिय हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेतीव मे प्रियाः॥'

इन बारह अध्यायों की ज्ञान, कर्म और भक्तियोग के एकदम बाद शेष छह अध्यायों में ऐसे-ऐसे विषयों का वर्णन है जिनका भक्ति, ज्ञान का कर्म किसी भी मार्ग से कोई सीधा रिश्ता नजर नहीं आता। अध्याय 13 में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का, 14 में सत्त्व, रजस और तमस इन तीन गुणों का, 15 में पुरुषोत्तम योग का, 16 में दैवी और आसुरी संपदा का, 17 में तीन तरह की श्रद्धा का और 18 में मोक्ष, संन्यास योग का विश्लेषण है। इस बारे में हमें कुछेक बातें कहनी हैं। एक यह कि अर्जुन-विषादयोग के साथ जैसा संबंध पहले बारह अध्यायों में भक्ति, ज्ञान और कर्म के विवेचन के रूप में बन पड़ा है, वैसा रिश्ता अंतिम छह अध्यायों के विषय का नहीं बन पाया। कहने को कह सकते हैं कि ये 'ज्ञान' के विषय हैं, फिर कहने को तो दुनिया के सभी विषय ज्ञान के हैं—कैमिस्ट्री और ज्योतिष भी। सवाल तो यह है कि किस ज्ञान के पूछे और बताए जाने का संदर्भ क्या है। दूसरी बात इसके बाद यह कहनी है कि पहले और दूसरे अध्याय में अर्जुन ने जो सवाल पूछे उनके जवाब पहले बारह अध्यायों में अर्जुन को पूरी तरह से मिल जाते हैं। इसलिए तीसरी बात यह लगती है कि कृष्ण-अर्जुन संवाद के साथ जुड़ जाने से मिल जानेवाली प्रामाणिकता और स्वीकार्यता के मोह में हमारे काल्पनिक महापंडित (या खुद व्यासदेव) ने, जैसा कि हम पहले भी इशारा कर आए हैं, अपने समय में प्रचलित विभिन्न वादों व विचारों को 'गीता' में समाविष्ट कर दिया हो। अगर इन सभी बातों में तर्क का थोड़ा सा भी बल नजर आता हो तो चौथी बात निष्कर्ष के रूप में यह सामने आती है कि चूँकि आखिरी छह अध्यायों के विषय 'गीता' के मुख्य कथ्य का स्वाभाविक हिस्सा नजर नहीं आते, इसलिए हैरानी नहीं कि वे लोक-चर्चा का स्वाभाविक हिस्सा आज तक नहीं बन पाए हैं। विद्वानों की संगोष्ठियों की बात हम नहीं कर रहे। पर लोगों की जुबान पर जैसे 'गीता' के निष्काम कर्मयोग की, शरणागति वाले भक्तियोग की और शरीर रूपी चोला बदलनेवाले आत्मा संबंधी ज्ञानयोग की आम चर्चा रहती है वैसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ जैसे उन विषयों को कहाँ रही है, जो अंतिम छह अध्यायों में लिखे गए हैं? इसलिए कभी 'गीता' का ध्यान से पारायण करें तो आप पाएँगे कि जो तार बारहवें अध्याय के आखिरी श्लोक (ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं इत्यादि) से टूटता है तो भाँति-भाँति के विषयों का विवेचन करने के बाद वह अचानक फिर जाकर अंतिम अध्याय के श्लोक (संख्या 65) 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥' से जुड़ जाता है। जिसका अर्थ है कि मेरे में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर और तू निश्चित ही मुझे पा लेगा, यह मेरी प्रतिज्ञा

है।' अगर बीच के छह अध्यायों को एक ओर रखकर आप अठारहवें अध्याय में आखिरी बारह श्लोकों (65-78) को बारहवें अध्याय में ही रख दें तो साफ जाहिर होगा कि 'गीता' को जो कहना था, जिसके लिए 'गीता' विख्यात है और उसका जो संदेश भारत ही नहीं, दुनिया भर के लोगों के जहन का हिस्सा बन गया है, वह सब बारहवें अध्याय तक आ गया है। बाद के छह अध्याय कुछ और ही कहते नजर आते हैं। वे कृष्णार्जुन संवाद का सहज और प्रसंग-स्फूर्त हिस्सा नजर नहीं आते। कहीं आगे चलकर लोग सचमुच ही ऐसा मानकर 'गीता' को वहीं बारहवें अध्याय तक पढ़ने का अभ्यास न डाल लें, इसलिए महाभारत में भीष्मपर्व के अध्याय 43 में, जो 'गीता' के 18 अध्यायों के एकदम बाद आता है, छह पंक्तियों में 'गीता' के परिमाण का रिकॉर्ड लिख दिया गया है। यानी इस 'गीता' में केशव ने 620 श्लोक बोले, अर्जुन ने 57, संजय ने 67 और धृतराष्ट्र ने एक श्लोक बोला (भीष्मपर्व, 43.4-5)। इन छह पंक्तियों को मिला कर जो पाँच श्लोक इस अध्याय 43 के प्रारंभ में 'गीता' के महत्त्व और परिमाण के बारे में लिखे हैं, वे महाभारत के कई संस्करणों में नहीं भी मिलते।

बस, एक रोचक बात और कहनी है। 'गीता' के अठारह अध्याय महाभारत के भीष्मपर्व के अध्याय 25 से 42 में सिमटे हैं। पर अगर भीष्मपर्व के अध्याय 24 के अंतिम श्लोक को अध्याय 43 के उस पहले श्लोक से (जो ऊपर बताए पाँच कहीं मिलने कहीं न मिलनेवाले श्लोकों के बाद आता है) जोड़कर पढ़ें तो कहीं तार टूटता नहीं और युद्ध का एक सिलसिलेवार वर्णन मिलता रहता है। हम इन श्लोकों को ही उनके हिंदी अर्थ के साथ उद्धृत किए देते हैं, जो (गीताप्रेस, गोरखपुर के संस्करणवाली) 'महाभारत' के भीष्मपर्व के अध्याय 24 का (अंतिम) श्लोक संख्या 7 और अध्याय 43 का श्लोक संख्या 6 हैं। भीष्मपर्व, अध्याय 24, श्लोक 7—

अन्योन्यं वीक्ष्यमाणानां योधानां भरतवर्ष।
कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम्॥

'भरतभूषण! एक-दूसरे की ओर देखनेवाले योद्धाओं, गरजते हुए हाथियों और हर्ष से भरी सेनाओं का तुमुल नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था।' और अब पढ़ें भीष्मपर्व, 43, श्लोक 6—

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥

'राजन्, तदनंतर अर्जुन को गांडीव धनुष और बाण धारण किए देख पांडव

महारथियों, सोमकों और उनके अनुगामी सैनिकों ने पुनः बड़े जोर से सिंहनाद किया।' ये दोनों श्लोक एक प्रसंग से जुड़े हुए और उसे आगे बढ़ाते हुए नजर आते हैं।

इस तरह दो निष्कर्ष स्पष्ट हैं। एक, महाभारत में 'गीता' होनी चाहिए, इसका ध्यान व्यासदेव या उनके किसी टीम-सदस्य या निकट के उत्तराधिकारी को बाद में आया। दो, गीता की स्वाभाविक समाप्ति उसके बारहवें अध्याय में हो जाती है, पर कुछ प्रचलित वादों-विचारों को महत्त्वपूर्ण होने या बनाने की दृष्टि से उसके अंतिम छह अध्यायों में रखा गया। वैसे भी 'महाभारत' प्रबंध काव्य अकेले व्यास नहीं, उनकी टीम द्वारा लिखा माना जाता है, जो क्रमशः व्यास, उनके पुत्र शुक और उनके शिष्य वैशंपायन के हाथों वर्तमान काल में उपलब्ध होनेवाले आकार तक पहुँचाया गया।

पर इससे क्या कुछ अंतर पड़ने वाला है? व्यास ने लिखी या उनकी सुत-शिष्य परंपरा ने सबने मिलकर लिखी या किसी अन्य महापंडित ने, इससे 'गीता' उस शिखर से नीचे नहीं गिरती जहाँ उसे उसके 5,000 वर्षों के जीवनकाल में हुए अरबों-खरबों भारतीयों ने बिठा दिया है। 5,000 वर्षों की काल परिधि में बाँधकर भी शायद हम 'गीता' की काल-बाह्य महत्ता में रुकावट पैदा कर रहे हैं। जब महाभारतकार उसे स्वयं पद्मनाभ के मुखपद्म से निःसृत अर्थात् भगवान् की वाणी, यानी भगवद्गीता कह रहा था तो वह उसके काल-निरपेक्ष सार्वकालिक महत्त्व का ही प्रतिपादन कर रहा था। 'गीता' एक किताब नहीं, हमारी विचार परंपरा की शब्द काया है, शायद यही दर्ज करने के लिए बार-बार कहा जाता है कि इसमें सभी उपनिषदों का सार समाहित है। इसलिए 'गीता' किसी एक विचारधारा का प्रतिपादन नहीं करती, जीवन की व्याख्या किसी एक तरह से नहीं करती और मोक्ष पाने के लिए किसी एक ही मार्ग पर बल नहीं देती। भारतीय जीवन विश्व के अन्यान्य संप्रदायों की भाँति एक ही तरह के आचार, ईश्वर के एक ही साकार स्वरूप या किसी धर्म संहिता की एकनिष्ठता पर बल नहीं देता। हम भारतवासी प्रथम तीर्थंकर अयोध्या-नरेश महाराज ऋषभदेव की संतानें हैं और इसलिए अनेकांतवादी हैं। जीवन को कई तरह से देखने, परखने का हमारा स्वभाव सहज है। 'गीता' में विचारों की अनेकता, समाधानों की विविधता है, मार्गों की विभिन्नता है तो यकीनन यह भारतीय जीवन का सही प्रतिनिधित्व करती है। हम जैसे जीवन के अभ्यस्त हैं, 'गीता' उसी का प्रतिपादन करती है। वह हमारे जीवन का, हमारी थाती या हमारे सोच का अविभाज्य अंग बन गई है तो इसलिए कि वह महज कृष्णार्जुन संवाद नहीं, हमारे अपने ही जीवन का राग है। इसलिए यह कहते रहना

'गीता' के मर्म का अनादर होगा, कि यह उसका मूल रूप है और यह परिवर्धित।

कृष्ण की यह विचारकाया हर हिसाब से उनके अपने युग को और आनेवाले हर युग को कृष्ण का संदेश है कि जीवन कर्म का दूसरा नाम है, स्वच्छंदता का नहीं। जीवन कर्मशीलता का ही पर्यायवाची शब्द है, मर्यादाहीनता का नहीं। जहाँ कवि वेदव्यास उस समय की स्वच्छंदता और मर्यादाहीनता पर विलाप कर रहे हैं, वहाँ कृष्ण ने अपने जीवन और अपने गीता-गान के माध्यम से अपने समय के लोगों को शाश्वत संदेश दे दिया कि जीवन स्वच्छंदता या मर्यादाहीनता नहीं, कर्मशीलता के लिए मिला है। अपने समय की परिस्थितियों को कृष्ण का यही रिस्पांस था, जो उन्हें 'महाभारत' की फलश्रुति बना देता है।

□

उत्तर-महाभारत : विवाह मर्यादा व आध्यात्मिक आंदोलन का सूत्रपात

'महाभारत' शब्द का उच्चारण करते ही हर भारतीय के जहन में दो अर्थ एकदम उभर आते हैं—'महाभारत' का एक अर्थ महाभारत युद्ध, और 'महाभारत' का दूसरा अर्थ महाभारत कथा। बेशक युद्ध भी उसी कथा का एक अविभाज्य हिस्सा है, पर फिर भी 'महाभारत' शब्द के ये दोनों अर्थ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और दोनों अर्थ बराबर महत्त्व के साथ हर भारतीय के जहन में उभरते हैं। हमने महाभारत को संदर्भ बनाकर अब तक जो कुछ भी इस पुस्तक में लिखा है, विश्लेषण-आकलन किया है, वह तमाम विश्लेषण-आकलन महाभारत कथा का ही प्रमुख रूप से है और युद्ध के बारे में थोड़ी-बहुत गैर-सिलसिलेवार जानकारियाँ हमने कथा के अंग के रूप में गौण रूप से ही दी हैं, जरूरत भर के हिसाब से। चूँकि हमारी जरूरत 'महाभारत' कथा से, उस कथा के पात्रों और उनके अपने-अपने व्यक्तित्वों और उनके पारस्परिक संबंधों यानी आपसी रिश्तों से ही ज्यादा रही है, इसलिए युद्ध के साथ हमारा संबंध अभी तक महज हाशिए का ही रहा है।

पर अपने इस आलेख के इस अध्याय के रूप में अब हम जो लिखने जा रहे हैं उसका नाता उन निष्कर्षों से है, जो महाभारत कथा और महाभारत युद्ध दोनों से जुड़े हैं। महाभारत का एक महासंहारकारी महासमर लड़ा गया। उसका समाज पर क्या असर पड़ा? महाभारत कालीन धर्म-विमुख और मर्यादा-रहित उच्छृंखल समाज को भारत के हमारे पूर्वजों ने कब तक झेला और फिर कब और कैसी

प्रतिक्रिया की? ये दोनों सवाल हमारे लिए बराबर के महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए इस अध्याय में हम महाभारत युद्ध से भी उसी तरह जूझेंगे, जिस तरह हम अब तक सिर्फ महाभारत कथा से जूझते आए हैं। यानी अब हम युद्ध और कथा दोनों से जूझेंगे, नहीं जूझे तो फिर सटीक और ईमानदार निष्कर्ष कैसे निकाल पाएँगे? कथा और युद्ध के परिणामस्वरूप निखरकर आए तब के भारत का बखान कैसे कर पाएँगे? अपनी और इस आलेख के पाठकों की जिज्ञासा-क्षुधा कैसे शांत कर पाएँगे?

पर हम दो कारणों से महाभारत युद्ध के फॉलोअप पर बाद में आएँगे और उससे पहले महाभारत कथा के फॉलोअप को ही लेंगे। एक इसलिए कि युद्ध तो कथा का ही अविभाज्य हिस्सा है। कथा पूर्ण है, युद्ध उसका एक अंश है। पूर्ण पर पहले और उसके अंश पर बाद में निष्कर्ष-विश्लेषण करेंगे तो उचित ही है। दूसरा कारण यह है कि हम पिछले अध्यायों में कथा का विश्लेषण-विवरण कई तरह से करते आ रहे हैं। इसलिए निष्कर्ष रूप में कथा पर पहले विमर्श करने से निरंतरता बनी रहेगी, ऐसा हमें लगता है। पर युद्ध का भी, बेशक वह कथा का ही एक अंश है, फॉलोअप करेंगे जरूर; क्योंकि वह इतना महत्त्वपूर्ण अंश है कि अकेले युद्ध ही कई मायनों में महाभारत का इस हद तक पर्यायवाची बन गया है कि 'महाभारत' प्रबंधकाव्य का एक बड़ा हिस्सा युद्ध पर ही आधारित है। इतना ही नहीं, भारत की आध्यात्मिक परंपरा पर इस युद्ध का ऐसा निर्णायक असर पड़ा है कि उसका अलग से विश्लेषण व अध्ययन करना हमारी विवशता है।

पर पहले महाभारत कथा का फॉलोअप। हम सोचने को विवश अनुभव कर रहे हैं कि महाभारत का ऐसा धर्म-विमुख, मर्यादा-रहित और उच्छृंखल समाज कब तक चलता रहा होगा? थोड़ा समझने की कोशिश करते हैं। महाभारत का विकट संग्राम हुए एक सदी बीतने को थी। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार (और पुराणों में लिखे इतिहास को चुनौती देने की तथाकथित बौद्धिक गतिविधि का हिस्सा बनने की हमारी कोई इच्छा नहीं है) युधिष्ठिर के बाद हस्तिनापुर के सम्राट् बने परीक्षित ने साठ वर्षों तक शासन किया था और इससे पहले युधिष्ठिर अपने पूर्ववर्ती धृतराष्ट्र द्वारा महाभारत युद्ध के बाद खाली कर दिए गए सिंहासन पर छत्तीस वर्षों तक शासन कर चुके थे। यानी युद्ध के बाद सदी बीतने को थी और नागयज्ञ के वक्त खुद जनमेजय की आयु भी साठ-पैंसठ वर्षों के आसपास की मानी जाती है।

यानी महाभारत संग्राम के एक सौ साल बाद भी राज समाज द्वारा की जानेवाली

उच्छृंखलता और मनमानी पर कोई रोक लगानेवाला नहीं था। नाग का अर्थ जमीन पर रेंगनेवाले साँप हैं या कोई नाग जाति, इससे हम यहाँ दो-चार नहीं हो रहे हैं। रेंगनेवाले साँप रहे हों या कोई नाग जाति रही हो, उद्देश्य तो उसका सर्वनाश करना था; क्योंकि एक नाग ने, तक्षक ने, जनमेजय के पिता परीक्षित के प्राण हर लिये थे। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र के मन में शोक के बजाय क्रोध पैदा हुआ और अहंकार के मारे उसने पूरी नाग जाति के समूल उन्मूलन की ठान ली (जो बेशक वह अंतत: कर नहीं पाया), तो इसे राज समाज की मर्यादाहीन उच्छृंखलता न माना जाए तो और क्या माना जाए?

राज समाज ही क्यों, समाज में आमतौर पर भी स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच मर्यादाहीनता कुछ समय तक यथावत् चली। उदाहरण के तौर पर, हम सत्यकाम जाबाल की कहानी यहाँ बता सकते हैं। आजकल चूँकि देश को आत्मविस्मृति का 108 डिग्री बुखार चढ़ा हुआ है, इसलिए हमने स्कूल-कॉलेजों में अपने देश की पुरानी कहानियाँ पढ़ाना बंद कर दिया है कि कहीं हम पापी न हो जाएँ। पुण्यात्मा होने के लिए हम बच्चों को अब 'हैरी पॉटर' पढ़ने को देते हैं। पर जब यह बुखार इस डिग्री तक नहीं था, तब हमने बिना पापी हुए सत्यकाम जाबाल की कहानी अपने स्कूल में पढ़ ली थी। आइए, आपको भी वह कहानी बता दें।

सत्यकाम जाबाल के बारे में जानना हो तो आपको 'छांदोग्योपनिषद्' के चौथे अध्याय के चौथे खंड का गोता लगाना पड़ेगा। हालाँकि उसके दार्शनिक विचारों का विवेचन इसी अध्याय के अगले खंड में भी है। सत्यकाम जाबाल गुरुकुल जाने लायक हुआ तो उसकी गुरु हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर पढ़ने की इच्छा हुई। वहाँ जाने पर गुरु पूछेंगे कि किस गोत्र के हो, पिता का नाम क्या है तो वह क्या जवाब देगा? इसलिए वह अपनी माँ के पास गया और और पूछा, 'सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामंत्रयांचके ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि, किं गोत्रोहमस्मीति।' माँ, मैं गुरु के पास जाकर ब्रह्मचारी के रूप में रहना चाहता हूँ, बताओ तो मेरा गोत्र क्या है? (छांदोग्योपनिषद् 4.4.1)

गोत्र पूछने पर पिता का नाम उसे खुद-ब-खुद मालूम पड़ जाना था। माँ ने शायद उसे आज तक न तो उसके पिता का नाम बताया और न ही उसके गोत्र का कोई पता दिया था। हो सकता है, उसने खुद भी कभी न पूछा हो। पर माँ ने उसे उसके सवाल का कुछ अजीब सा जवाब दिया—'नाहमेतद् वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि।' पुत्र, मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। 'बह्वहं चरंती परिचारिणी यौवने त्वामालभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि (छां. 4.4.2)।' अपनी जवानी में मैं

सेविका थी और मैंने कइयों की सेवा की, उसी दौरान तुम मेरे पुत्र के रूप में पैदा हो गए। मैं जानती ही नहीं कि तुम किस पिता की संतान हो। 'जबाला नु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा।' मेरा नाम है जबाला और तुम्हारा नाम है सत्यकाम, बस तुम खुद को सत्यकाम जाबाल कह देना।' (छां. 4.4.2)

क्या आप इस छोटे संवाद को छोटा मान सकते हैं? क्या इन चंद सरल शब्दों के पीछे आपको एक ईमानदार माँ और एक उतने ही ईमानदार पुत्र का चेहरा और चरित्र नजर नहीं आ रहा? जबाला कुछ भी कह सकती थी। ऐसे ही कोई झूठ सा नाम ले सकती थी। कह सकती थी कि तुम्हारा इस नाम का पिता तुम्हारे जन्म लेने से पहले ही मर गया था। पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। झूठ का एक अंश भी उसने इस पूरे संवाद में नहीं आने दिया और सच्चाई व सरलता से सराबोर इस जवाब को सत्यकाम ने अपने दिल में उतार लिया। हारिद्रुमत गौतम के पास विद्याध्ययन के लिए उसके गुरुकुल में प्रवेश पाने के मौके पर यह सवाल उठना ही था, सो उठा और गोत्र पूछे जाने पर सत्यकाम जाबाल ने माँ का कथन हारिद्रुमत को अक्षरशः दोहरा दिया।

इससे पहले कि हम चकित हों और अपने आज के विवेचन में गहरे उतर आएँ, हमें गुरु हारिद्रुमत गौतम की प्रतिक्रिया भी जान लेनी चाहिए; क्योंकि उससे हमें काफी सहायता अपने विवेचन में मिलने वाली है। 'तं होवाच नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सौम्य आहर उप त्वां नेष्ये।' 'कोई अब्राह्मण ऐसा नहीं बोल सकता, इसलिए सौम्य, जाओ लकड़ियाँ ले आओ। मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा, अर्थात् मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाऊँगा।' (छां. 4.4.5) इसके बाद हारिद्रुमत ने सत्यकाम जाबाल को अपना शिष्य बनाया और कहा कि ये लो 400 गउएँ, इन्हें लेकर वन जाओ। उस पर सत्यकाम ने कहा 'कि मैं अब तब लौटूँगा, यानी वन में तब तक तप करता रहूँगा, जब इन गऊओं की संख्या 400 से बढ़कर 1000 हो जाएगी।' (छां. 4.4.5.) गुरु ने यह 400 और हजार गउओंवाला चक्कर क्यों चलाया, यह हमारा अभी का विषय नहीं है। हम बात सामाजिक रिश्तों पर कर रहे हैं। इसी कहानी के पहले हिस्से में, यानी जबाला की स्वीकारोक्ति में, कन्फेशन में महाभारत कालीन उसी उच्छृंखलता के दर्शन होते हैं, जिस उच्छृंखलता के नमूने हमें 'महाभारत' प्रबंध काव्य की मुख्य कथा में जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं और जिन नमूनों में से एक नमूना खुद धृतराष्ट्र ने पेश किया था कि उसने अपनी ही दासी से युयुत्सु नामक पुत्र प्राप्त कर लिया था।

तो क्या मतलब है इसका? यह कि सेक्स की दृष्टि से कुंठा-विहीन होना एक बात है और मर्यादाहीन होना एकदम दूसरा मामला है। लगता है कि महाभारत काल में खुलेपन और मर्यादाहीनता में बहुत कम अंतर रह गया था और इसी का परिणाम था कि तनाव से भरा हमारा यह देश महाभारत नामक गृहयुद्ध का शिकार हो गया। अगर ऐसा है तो फिर हारिद्रुमत गौतम ने क्यों जबाला के सत्य कथन को महत्त्व दिया और अनेक पुरुषों की सेवा करनेवाले उसके शिथिल चरित्र को कोसा नहीं? कारण कुछ भी हो सकता है। पर एक बात साफ है। जबाला को सत्यकाम जिस तरह एक पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ, उसमें सत्यकाम का भला क्या दोष था? दोष अगर था भी तो उसकी माँ का था, जिसके बारे में हारिद्रुमत ने कोई टिप्पणी नहीं की। उस गुरु ने तो उस सत्यकाम को शिष्य के रूप में अपनाया, जिसने सारी बात उन्हें सच-सच बता दी और गुरु की निगाह में ब्राह्मण का दर्जा पाया। महाभारत काल में सेक्स मर्यादाहीनता की हद तक खुला हो गया था, इसका एक और नमूना सत्यकाम जाबाल की माँ का बयान भी है, जिसका खामियाजा सत्यकाम को इसलिए नहीं भुगतना पड़ा, क्योंकि एक तो उस वक्त के समाज में ऐसे सत्यकामों की कोई कमी नहीं थी और दूसरे सत्यकाम जाबाल को एक बहुत ही समझदार और संवेदनशील गुरु मिला था। इस सबके बीच एक बात तय है। यह कि महाभारत काल के इन खुले सेक्स संबंधों में सिर्फ शारीरिक और सामाजिक जरूरतों को ही पूरा किया जा रहा था और स्त्री-पुरुष के संबंध में शारीरिक आकर्षण ही एकमात्र कारण नजर आता है। जिसे राग, अनुराग या प्रेम कहते हैं; जो स्त्री और पुरुष के सत्य संबंधों की बुनियादी शर्त है, उसके दर्शन इन संबंधों में हमें कहीं नहीं होते या अपवाद-स्वरूप ही होते हैं। जबाला द्वारा स्थापित किए गए संबंधों में भी नहीं। तब के समाज की यह मर्यादाहीनता अगर अपनी हदें न छू चुकी होती तो उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु को सामाजिक अनुशासन के नए मानदंड कायम न करने पड़ते। पर कौन थे श्वेतकेतु?

श्वेतकेतु अपने युग के एक बड़े दार्शनिक होने के साथ एक संवेदनशील व्यक्ति भी रहे थे, जिसने उन्हें इस देश का (शायद) पहला समाज-सुधारक भी बना दिया। हमारे देश की स्मृति परंपरा कहती है कि श्वेतकेतु की संवेदना को दो घटनाओं ने बहुत ही ज्यादा आहत किया था। एक घटना के अनुसार, उनके पिता के एक शिष्य ने उनकी माँ के साथ बलात्कार की कोशिश की थी तो दूसरी घटना के अनुसार उन्हीं के एक मित्र ने उनसे उनकी पत्नी को एक पुत्र की प्राप्ति के निमित्त माँग लिया था। श्वेतकेतु ने उसे मना कर दिया। पर श्वेतकेतु की संवेदना

को झकझोरने के लिए दो घटनाएँ काफी थीं—एक, जो उन्होंने सुनी और एक, जो उन्होंने खुद भुगती। भविष्य में कोई किसी की पत्नी की ओर कुदृष्टि न डाल सके और समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में मर्यादा का समावेश हो, उसके लिए श्वेतकेतु ने नियम बना दिया कि कोई ब्राह्मण परस्त्री के साथ काम संबंध नहीं रखेगा। ब्राह्मण ही क्यों, बाकी सभी लोग भी क्यों नहीं? कारण साफ है। समाज में बौद्धिक और चारित्रिक नेतृत्व देने का काम जिस बुद्धिजीवी और शिक्षा देनेवाले वर्ग का होता है, वही मर्यादाहीन हो जाएगा तो फिर कहाँ बचेंगे नियम और कहाँ बचेगी व्यवस्था? ब्राह्मण यदि मर्यादा में आ गया तो समाज के बाकी वर्गों को मर्यादा का पालन करने को कह सकेगा। इसके अलावा ब्राह्मणों के लिए स्त्री-पुरुष संबंधों की मर्यादा तय करने के पीछे और क्या कारण हो सकता है?

श्वेतकेतु अपने युग के उद्भट विद्वान् और उतने ही बड़े विचारक हुए। वेदव्यास का प्रताप यह समाज देख चुका था और वे अब परिदृश्य से हट चुके थे। तब याज्ञवल्क्य की दुंदुभि सारे देश में बज रही थी। अपने पिता उद्दालक के साथ, जो अध्यात्म संवाद में याज्ञवल्क्य से अपनी बात नहीं मनवा पाए थे, श्वेतकेतु भी एक बार महावशी जनक की ब्रह्मसभा में गए थे। पर इसके बाद का समय श्वेतकेतु का था और दार्शनिक ऊँचाइयों एवं सामाजिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा करने का दायित्व प्रारब्ध ने मानो उनके हिस्से में लिख रखा था।

श्वेतकेतु के सौभाग्य से उन्हें सुवर्चला के रूप में एक ऐसी जीवन-संगिनी मिली थी, जिसने अपना स्वयंवर भी अपने समय की काम-उच्छृंखलताओं को सार्थक चुनौती देने के लिए रचाया। थोड़ा सुवर्चला के बारे में जान लेने में कोई हर्ज नहीं।

ऐसा लगता है कि सुवर्चला अपने समय की एक अति सुंदर महिला रही होगी। अन्यथा महाभारतकार को उसका विचारक चरित्र बताते हुए यह कहने की जरूरत न होती कि वह न तो कद की छोटी थी (नातिह्स्वा), न वह ज्यादा लंबी थी (नातिदीर्घा) और न ही शरीर से दुर्बल थी (नातिकृशा) (शांतिपर्व, अध्याय 220)। पर सुवर्चला की प्रसिद्धि अपने सुंदर शरीर नहीं, प्रखर मस्तिष्क के कारण थी और उसका प्रथम सार्वजनिक परिचय उन्होंने अपने स्वयंवर की शर्त के रूप में दिया। महाभारत के आसपास के समय के समाज के बारे में हम काफी कुछ बता चुके हैं। हालाँकि, जैसा कि अभी आगे चलकर इसी अध्याय में देखने वाले हैं, महाभारत से केवल डेढ़-दो सौ साल पूर्व ही सूर्या सावित्री ने विवाह संस्कार का कायाकल्प कर दिया था, पर शर्तों के आधार पर विवाह होने की हजारों सालों की परंपरा तब

तक भी बदस्तूर जारी थी ही। सो अपने विवाह के प्रति चिंतित पिता देवल को सुवर्चला ने अपनी शादी की अजीब सी शर्त बता दी कि वह उससे विवाह करेगी, जो अंधा हो और आँखवाला भी हो—'अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय वै पितः।' (शांतिपर्व, अध्याय 220)

शर्त अजीब थी। हो सकता है कि पिता को इसका मर्म समझ में आ गया हो और हो सकता है कि समझ में न भी आया हो। पर उन्होंने पूछा जरूर कि एक ही व्यक्ति अंधा और आँखोंवाला भी एक साथ कैसे हो सकता है? क्या तुम पागल हो गई हो? सुवर्चला अपनी शर्त पर डटी थी। उसने अपने पिता से कहा कि मैं पागल नहीं हूँ और आप जिन ब्राह्मणों को मेरे साथ विवाह के योग्य मानते हों, उन्हें बुलवा लीजिए। मैं उनमें से अपने लायक पति चुन लूँगी। जिसकी पुत्री इतनी सूक्ष्म विचारशील हो, उस पिता की प्रतिक्रिया की कल्पना आप कर सकते हैं। पिता देवल ने ऐसे अनेक ब्राह्मणकुमारों को बुलवा लिया, जिन्हें वे सुवर्चला के लायक मानते थे। पर सुवर्चला का पति बनने के प्रत्याशियों की योग्यताओं के बारे में बताते वक्त उन्होंने जो कहा वह इतना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि महाभारत कालीन समाज की स्त्री-पुरुष संबंधों पर उसमें से एक गंभीर टिप्पणी सामने आती है। अन्य अनेक गुणों के अलावा देवल ने तीन जरूरतों पर बल दिया—एक, कि जो भी बुलाए जाएँ, वे व्यक्ति अकुटुंब अर्थात् अविवाहित हों। दो, कि वे सभी ब्राह्मण श्रेष्ठ यौन आचार वाले हों (योनिगोत्र-विशोधितान्) और तीन, कि उन सभी ब्राह्मणों के माता-पिता का सही तौर पर पता हो (मातृतः पितृतः शुद्धान्) (शांतिपर्व, अध्याय 220)। कुंती-पुत्र कर्ण और जबाला-पुत्र सत्यकाम के उदाहरणों के संदर्भ में इसका अर्थ क्या है, बताने की जरूरत नहीं और इसी से यह भी जाहिर है कि क्यों इन्हीं सुवर्चला के पति आचार्य श्वेतकेतु ने, जो इसी स्वयंवर में चुने गए थे, ब्राह्मणों के लिए कठोर सामाजिक नियमों की व्यवस्था की थी।

उस समय के उच्छृंखल समाज को सुधारने का काम सिर्फ महाभारत युद्ध के बाद ही शुरू हुआ हो, ऐसा हम नहीं मान सकते; क्योंकि इस विराट् गृहयुद्ध से करीब 150 वर्ष पहले इस देश की एक कन्या ने समाज में मर्यादा स्थापित करने की इच्छा से एक ऐसा अद्भुत कार्य कर डाला था कि 5,000 साल बाद भी उसका असर इस हद तक बदस्तूर कायम है कि लगता है, यह असर तब तक चलता रहेगा जब तक भारत का अपना सांस्कृतिक प्रवाह कायम रहेगा। उस कन्या का नाम था सूर्या सावित्री। उसका अपना नाम था सूर्या और सूर्य अर्थ देनेवाले 'सवितृ' शब्द से बने सविता नामक पिता की पुत्री होने के कारण वह

कहलाई सूर्या सावित्री। जब सूर्या की शादी का वक्त आया तो उसके कोमल पर दृढ़ संकल्पवाले मन में भाव आया कि मेरा विवाह मेरे मनपसंद लड़के से होगा, जिससे मुझे अनुराग होगा, कि वह अपने बंधु-बांधवों के साथ मुझे अपने साथ विवाह करवाकर अपने घर सम्मानपूर्वक ले जाएगा, कि मेरा विवाह अग्नि की साक्षी में होगा और कि मेरे विवाह में मेरे ही रचे मंत्र पढ़े जाएँगे। महाभारत काल के मर्यादाहीन, अनुराग-शून्य सेक्स संबंधों वाले माहौल में किसी विवाह योग्य कन्या का यह संकल्प क्रांतिकारी समाज-सुधार से कम माना जा सकता है क्या?

नहीं माना जा सकता, इसलिए सूर्या सावित्री ने विवाह संबंधों को लेकर भारतीय समाज में मानो एक ऐसी क्रांति के बीज बो दिए, जिसके मीठे फल हमारा यह समाज आज तक चख रहा है। घोषा, विश्ववारा, अपाला जैसी मंत्रकारा ऋषियों की परंपरा में सूर्या सावित्री ने 47 मंत्रोंवाला विवाह सूक्त लिखा, जो ऋग्वेद (10.85) में हमेशा के लिए सुरक्षित हो चुका है। सूर्या की शादी उसकी इच्छा और कल्पना के अनुसार हुई। उसे पूषा से प्रेम था। वह सपरिवार बारात लेकर सूर्या के घर आया। अग्नि की साक्षी में विवाह हुआ। सूर्या के बनाए मंत्र विवाह में गाए गए। फिर अश्विनीकुमारों ने वधू को अपने तीन पहियोंवाले रथ (डोली?) में बिठाकर उसे ससुराल पहुँचाया।

इस सूक्त के मंत्र आजकल भी हमारे देश में होनेवाले विवाह के समय पढ़े जाते हैं। जब पाणिग्रहण होता है, तब ऋग्वेद के इसी सूक्त का मंत्र पढ़ा जाता है—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्' (10.85.36)। वधू को आशीर्वाद देने के लिए इसी का मंत्र पढ़ा जाता है—'सुमंगलीयरियं वधूरिमां समेत पश्यत' (10.85.33)। नव दंपती पुत्र-पौत्रों के साथ खेलें, यह मंगलकामना भी इसी सूक्त के आधार पर की जाती है—'क्रीडंतौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदमानौ स्वे गृहे।' (10.85.42)। वधू जिस घर में जा रही है, वहाँ पशुओं आदि की समृद्धि की कामना और पुत्र-कामना भी इसी सूक्त (10.85.42-49) के आधार पर होती है। मंत्र संख्या 10.85.46 में ही वधू को पतिगृह की रानी तथा सास, ससुर और ननद की स्वामिनी बनने का आशीर्वाद है—सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वाँ भव। ननांदरि सम्राज्ञी भव अधिदेवृषु (10.85.46)। और हमारे यानी दंपती के हृदय मिले रहें (समापो हृदयनि नौ 10.85.47), यह कामना भी इसी सूक्त में है।

इस तरह यह सूक्त ही अगर आज के विवाह-संस्कार के बेसिक मंत्रों की आपूर्ति करता है तो पूछ सकते हैं कि क्या इससे पहले विवाह का यह रूप नहीं था? अगर इतिहास कुरेदें तो उत्तर है—नहीं था। चाहें तो कितनी घटनाएँ देख

लीजिए, हमारे देश में विवाह प्राय: शर्तों के आधार पर होते थे। संस्कृत में शर्त के लिए शब्द है समय और शर्तों में बँधे विवाह समयबद्ध विवाह कहे जाते थे। शकुंतला ने समय रखा कि उसका बेटा राजा बनेगा, शर्त मानी गई तो उसका दुष्यंत से विवाह हो गया। जनक ने समय रखा कि जो शिव का धनुष उठा लेगा, उससे सीता का विवाह होगा। राम ने शर्त पूरी की और विवाह हो गया। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। सूर्या को लगा कि यह क्या? यह भी कोई बात हुई। शादी में शर्तों का बंधन नहीं, हृदय का बंधन होना चाहिए। वधू शर्तों को पूरा करवाकर दांपत्य जीवन पूरा करे, उससे कहीं बेहतर है कि वह पतिगृह की रानी बनकर रहे, बाकायदा रथ की पालकी यानी डोली में बैठकर पति के घर जाए। शादी उसके मनपसंद लड़के से हो, शर्तें पूरी करनेवाले से नहीं। तब की स्थिति और सूर्या सावित्री के विवाह सूक्त को देखकर इसके अलावा कोई दूसरा अर्थ हमें समझ में नहीं आ रहा। सूर्या के हमारी स्मृतियों में अमिट रूप से दर्ज होने का कोई दूसरा आधार हमारी समझ में नहीं आ रहा। विवाह सूक्त के मंत्र आज तक विवाह संस्कार में पढ़े जाते हैं, जो पहली बार सूर्या के विवाह में पढ़े गए थे, तो उसका संदेश यह है कि सूर्या सावित्री इतनी तेजस्वी और युगांतरकारी कवयित्री थी कि उसने समाज में, खासकर महाभारत कालीन उच्छृंखल और मर्यादाहीन समाज में, एक नई मर्यादा का सूत्रपात कर दिया। सूर्या के कुछ ही समय बाद, करीब सवा-डेढ़ सौ साल बाद, हुए द्रौपदी-पांडव विवाह में भी शर्त ही रखी गई थी—ऊपर घूमती यंत्राकार मछली की आँख को सिर नीचा रखकर बाण से छेदने की शर्त। अर्जुन ने वह शर्त पूरी की और द्रौपदी पांडवों की हो गई। यानी सूर्या ने जिस नई विवाह मर्यादा का सूत्रपात किया, उसका प्रसार धीरे-धीरे ही संपूर्ण भारत में हुआ होगा। पर हो जाने के बाद वह ऐसा टिका कि आज तक कायम है और बदस्तूर कायम है। अगर 7,000 साल पहले रचा गया गायत्री मंत्र और 5,000 साल पहले शुरू हुई विवाह-मर्यादा आज तक हमारे जीवन का अमिट हिस्सा बने हुए हैं तो क्या इकबाल के साथ हम भी नहीं कह सकते कि 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।' वह बात क्या है? सवाल का जवाब सांस्कृतिक प्रवाह की निरंतरता में खोजिए, महाब्राह्मणों द्वारा परोसी जा रही पश्चिमपरस्ती में नहीं। संयम में ढूँढ़िए, हैरी पॉटर की दीवानगी और होमोसेक्सुएलिटी की कानूनी आजादी में नहीं। पति और पत्नी के बीच अनुराग पर आधारित दांपत्य-वैवाहिक-पारिवारिक जीवन के स्वाभाविक सत्य में ढूँढ़िए, समलैंगिकता की पशु-सभ्यता में नहीं। सामाजिक मर्यादा में ढूँढ़िए, व्यक्ति की उच्छृंखल आजादी में नहीं।

तो क्या है उत्तर-महाभारत के रूप में हमारा आकलन-निष्कर्ष? यह कि महाभारत कालीन मर्यादाहीन व धर्म-विमुख हमारा समाज काम-उच्छृंखलता की ही एक तसवीर था। पर यह तसवीर इस समाज की धीरे-धीरे ही बनी थी, कोई अचानक से इतिहास के फलक पर नहीं उभर आई थी, बेशक वेदव्यास के जीवन काल में यह तसवीर (हमारे देश के इक्कीसवीं सदी के समाज की तरह) लगातार बढ़ रही अपनी उच्छृंखलता व अपने शोखपन के शिखर पर थी, जिस पर क्रांतदर्शी प्रबंध कवि का विलाप हम बखूबी पढ़ चुके हैं। पर चूँकि तसवीर धीरे-धीरे परिपूर्ण हुई, इसलिए तसवीर के बनने के साथ ही उसे ठीक करने की हलचल भी समाज में पैदा हो गई। महाभारत युद्ध से 150 साल पहले सूर्या सावित्री द्वारा विवाह सूक्त की रचना करना और उस समय के मंत्रकारों तथा स्वयं वेदव्यास द्वारा उसे ऋग्वेद का अविभाज्य हिस्सा स्वीकार कर लेना उसी तड़प की अभिव्यक्ति है, जो वेदव्यास के एकाकी विलाप में हम पढ़ चुके हैं। फिर महाभारत युद्ध के करीब सवा-डेढ़ सौ साल बाद ही श्वेतकेतु-सुवर्चला जैसे संकल्पशील दंपती द्वारा जो निर्मम प्रहार इस उच्छृंखलता पर किया गया, उससे जाहिर है कि समाज को ठीक करने की इच्छा लगभग विद्रोह की शक्ल ले रही थी। एक नए सामाजिक आंदोलन का समानांतर सूत्रपात हो चुका था, जिस आंदोलन का नाम था विवाह की मर्यादा। जाहिर है कि आज फिर से हमारा समाज विवाह-मर्यादा को पुनः स्थापित करनेवाले सात्त्विक आंदोलन की आतुर प्रतीक्षा कर कहा है।

यह तो हुआ उत्तर-महाभारत का कथा पक्ष। उत्तर-महाभारत के युद्ध पक्ष के संदर्भ में तो देश का वैचारिक कायाकल्प जैसा ही हो गया। और वैसा कायाकल्प ला देने में देश के उस वक्त के महाभारत-परवर्ती जिन महापुरुषों और महानारियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, ये वे नाम हैं, जो भारत के ज्ञान परंपरा ही नहीं, आम आदमी की स्मृतियों का भी अमिट हिस्सा बन चुके हैं। महाभारत युद्ध के फॉलोअप के रूप में देश में उस वक्त उभर रही वैचारिक तसवीर को भी धीरज से और यकीनन सिलसिलेवार तरीके से समझना होगा।

महाभारत के बाद जो नाम हमारे सामने उभरते हैं, वे प्रायः सभी वे नाम हैं, जो ब्रह्म-चर्चाओं के कारण, अपनी अध्यात्म-चिंताओं के कारण और अपने ब्रह्मज्ञान के कारण महाभारत-परवर्ती भारतवर्ष पर छाए हुए थे। नाम हम सभी को पता हैं, पर कहीं बिसर न जाएँ, इसीलिए पहले कुछ नाम बताए देते हैं और फिर उनकी अपनी समय में क्या वैचारिक भूमिका रही, इस पर थोड़ा रोशनी डाले देते हैं। भारत की साहित्य परंपरा में एक ओर सबसे पुराना नाम वेदों का है तो

दूसरी ओर आदिकाव्य (वैदिक भाषा के बाद लौकिक संस्कृत का यानी तत्कालीन 'भाषा' का) पहला काव्य 'रामायण' है। उपनिषदों का स्थान कालक्रमानुसार और हमारी स्मृतियों में भी जैसा बसा हुआ है, वेदों के बाद ही आता है। वेदव्यास द्वारा चारों वैदिक संहिताओं को आखिरी और मुकम्मल तौर पर लिपिबद्ध कर देने के बाद फिर मंत्र-रचना कभी हुई, इसके प्रमाण नहीं मिलते। जाहिर है कि वेदव्यास रचित महाभारत के बाद उपनिषदों का ही वर्चस्व हमारे देश में रहा। इसलिए उत्तर-महाभारत के रूप में जो वैचारिक आंदोलन देश में पूरे वेग से चला, उसका पूरा-का-पूरा प्रामाणिक रिकॉर्ड हमारी उपनिषदों में मानो एक खास अंदाजे-बयाँ में लिपिबद्ध हुआ पड़ा है। इसलिए उत्तर-महाभारत काल में जो नाम हमारे सामने आते हैं वे हैं—गार्गी, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, उद्दालक, अष्टावक्र, सत्यकाम जाबाल, श्वेतकेतु, नचिकेता वगैरह। इनके बारे में थोड़ा जानकारी हासिल करने के जरिए ही उत्तर-महाभारत के वैचारिक आंदोलन को समझ पाएँगे।

बात गार्गी से शुरू करते हैं, फिर मैत्रेयी पर आएँगे। अगर वैदिक साहित्य पर उस समय की महानारी सूर्या सावित्री छाई है तो उपनिषद् साहित्य पर एक दूसरी महानारी गार्गी वाचक्नवी छाई है। सूर्या तब हुई जब देश में मंत्रों की रचना समाप्ति की ओर थी और महाभारत से थोड़ा ही समय पूर्व विवाह-सूक्त की रचना कर उसने वैदिक साहित्य और महाभारतकालीन समाज में इस अर्थ में क्रांति ला दी थी कि उसने विवाह संस्था का रूप ही बदल दिया, और आज से करीब 5,000 साल पहले एक ऐसी विवाह प्रथा का चलन किया, जो हम आज तक अपनाए हुए हैं। वाचक्नवी गार्गी महाभारत से करीब 50 साल बाद (यानी सूर्या सावित्री से करीब 200 वर्ष बाद) इस देश में तब थी जब वैदिक मंत्र-रचना के अवसान के बाद चारों ओर ब्रह्मज्ञान पर वाद-विवाद और बहसें हो रही थीं और याज्ञवल्क्य जिस परिदृश्य को अपना एक अद्भुत नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। गार्गी उसी युग में हुई थीं और महावशी जनक की ब्रह्मसभा में उन्हीं याज्ञवल्क्य के साथ जबरदस्त बहस करके गार्गी ने एक ऐसा नाम हमारे इतिहास में कमाया कि इस प्रकाश-स्तंभ को देश आज भी गौरवपूर्वक याद करता है।

कौन थी वचक्नु की बेटी गार्गी वाचक्नवी? पूरा भारत जिसे पिछले 5,000 साल से आदरपूर्वक याद करता आ रहा है, उसके बारे में कोई खास सूचना पूरे संस्कृत साहित्य में हमें नहीं मिलती। क्या इसे अजीब माना जाए या एक विदुषी नारी का अपमान? कुछ भी नहीं, क्योंकि इस युग के जितने भी बड़े-बड़े दार्शनिक थे, उनमें से किसी के बारे में कोई खास जानकारियाँ हमें नहीं मिलतीं। बस, उतनी

ही मिलती हैं जितनी ब्रह्मचर्चाओं के दौरान हमें संयोगवश मालूम पड़ जाती हैं। उत्तर-महाभारत काल के दूसरे दार्शनिकों के समान गार्गी और याज्ञवल्क्य के बारे में भी यही सच है कि इन ऋषियों को अपने बारे में नहीं, अपने विचारों के बारे में ज्यादा चिंता रही। गार्गी का पूरा नाम गार्गी वाचक्नवी 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (3.6 और 3.8) में वहीं मिलता है, जहाँ वह महावशी जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य के साथ अध्यात्म संवाद करती है। संभवत: गार्गी के पिता के रूप में वचक्नु नाम का उल्लेख शंकराचार्य ने अपनी टीका में किया है, जो बाद में लोक-प्रचलित भी हो गया।

युधिष्ठिर के छत्तीस वर्ष के राज्यकाल के बाद परीक्षित हस्तिनापुर के सम्राट् बने। गार्गी इसी राजा के या इसके पुत्र जनमेजय के, शायद जनमेजय के ही, शासनक़ाल में हुई थी। पर कब? युधिष्ठिर के समकालीन बहुलाश्व जनक मिथिला में राज कर रहे थे। बाहुलाश्व के पुत्र कृती जनक और कृती के बाद महावशी जनक मिथिला के राजा हुए। वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य के साथ जिन ब्रह्मवेत्ता जनक के राजप्रासाद में अध्यात्म संवाद किया था, वे महावशी जनक ही थे। जाहिर है कि इस आधार पर गार्गी को महाभारत युद्ध के करीब 50-60 वर्ष बाद का माना जा सकता है। यानी आज से करीब 5,000 साल पहले देश में एक ऐसी दार्शनिका की दुंदुभि बज रही थी, जिसे उसके स्वभाव के कारण 'परमहंस' भी कह दिया जाता है।

कहाँ की थी गार्गी, कुछ पता नहीं चलता। याज्ञवल्क्य का नाम पुराणों व 'महाभारत' में काफी आता है, पर इन गार्गी का कोई खास उल्लेख नहीं है। उपनिषदों व ब्राह्मण ग्रंथों में गार्गी का उल्लेख सिर्फ मिथिला की अध्यात्म-सभा के संवाद के संदर्भ में ही आता है। इससे एक निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि गार्गी कुरु-पंचाल देश की नहीं थी। गार्गी संभवत: आज के उत्तरी बिहार के किसी क्षेत्र की थी, जहाँ से उसके लिए मिथिला की राजसभा में जाना सहज और सरल रहा होगा। या फिर वह मिथिला की ही थी।

अपनी परंपरा की इस अतिसमृद्ध विरासत गार्गी वाचक्नवी के बारे में हमारे पास सूचनाओं की कितनी विवश कर देनेवाली दरिद्रता है। इसलिए क्यों न उसके दार्शनिक चरित्र का आकलन उन दो सवालों के आधार पर किया जाए, जो उसने महावशी जनक की ब्रह्मसभा में याज्ञवल्क्य से किए थे? गार्गी का पहला सवाल बहुत सरल था। पर उसने अंतत: याज्ञवल्क्य को ऐसा उलझा दिया कि वे क्रुद्ध हो गए। गार्गी ने पूछा था—याज्ञवल्क्य, बताओ तो, जल के बारे में कहा जाता

है कि हर पदार्थ इसमें घुल-मिल जाता है तो यह जल किसमें जाकर मिल जाता है? अपने समय के उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ने आराम से और ठीक ही कह दिया कि जल अंततः वायु में ओत-प्रोत हो जाता है। फिर गार्गी ने पूछ लिया कि वायु किसमें जाकर मिल जाता है। और याज्ञवल्क्य का उत्तर था कि अंतरिक्ष लोक में। पर गार्गी तो अदम्य थी। वह भला कहाँ रुक सकती थी! वह याज्ञवल्क्य के हर उत्तर को प्रश्न में तब्दील करती गई और इस तरह गंधर्वलोक, आदित्यलोक, चंद्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इंद्रलोक, प्रजापतिलोक व ब्रह्मलोक तक जा पहुँची और अंत में गार्गी ने फिर वही सवाल पूछ लिया कि यह ब्रह्मलोक किसमें जाकर मिल जाता है (बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय 3)।

अगर याज्ञवल्क्य ने गार्गी का सवाल शुरू में ही समझ लिया होता तो शायद उन्हें वह नहीं करना पड़ता, जो गार्गी को लगभग डाँटते हुए उन्होंने कहा—'गार्गी, माति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपतत्।' यानी गार्गी, इतने सवाल मत करो। कहीं ऐसा न हो कि इससे तुम्हारा भेजा ही फट जाए। अगर याज्ञवल्क्य उसे ठीक तरह से समझा देते तो उन्हें इस विदुषी-दार्शनिका को फिर डाँटना न पड़ता। पर गार्गी चूँकि अच्छी वक्ता थी और अच्छा वक्ता वही होता है, जिसे पता होता है कि कब बोलना और कब चुप हो जाना है, तो याज्ञवल्क्य की यह बात सुनकर वह परमहंस चुप हो गई। यह सारा संवाद 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (3.6) में सुरक्षित है।

पर अपने दूसरे सवाल (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8) में गार्गी ने दूसरा कमाल दिखा दिया। उसने अपने प्रतिद्वंद्वी यानी याज्ञवल्क्य से दो सवाल पूछने थे तो उसने बड़ी शानदार भूमिका बाँधी। गार्गी बोली—याज्ञवल्क्य, सुनो। मान लो, काशी या विदेह का राजपुत्र अपने धनुष पर पहले डोरी चढ़ाकर, फिर निशाना मार सकने लायक दो पंखों वाले बाणों को धनुष पर चढ़ाकर उसका संधान कर दे, वैसे ही मैं तुम्हारे पास दो सवाल लेकर आ रही हूँ। यानी गार्गी बड़े ही आक्रामक मूड में थी और उसके सवाल बहुत तीखे थे। क्या थे ये सवाल? याज्ञवल्क्य ने कहा—'पृच्छ गार्गी।' हे गार्गी, पूछो। सवाल थे—

1. द्युलोक से ऊपर जो कुछ भी है, और पृथ्वी से नीचे जो कुछ भी है, जिसे हम द्यावापृथ्वी कहते हैं उसके बीच जो कुछ भी है, 2. जो हो चुका है और जो अभी होना है—ये दोनों किसमें ओतप्रोत हैं?

सवाल समझ गए न आप? पहला सवाल स्पेस के बारे में है तो दूसरा टाइम के बारे में। स्पेस और टाइम के बाहर भी कुछ है क्या? नहीं है, इसलिए मानो गार्गी ने बाण की तरह पैने इन दो सवालों के जरिए यह पूछ लिया कि सारा ब्रह्मांड

किसके अधीन है? याज्ञवल्क्य निपुण थे। वे बोले, 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी।' यानी कोई अक्षर, अविनाशी तत्त्व है जिसके प्रशासन में, अनुशासन में सभी कुछ ओतप्रोत है। गार्गी ने पूछा कि यह सारा ब्रह्मांड किसे अधीन है, तो याज्ञवल्क्य का उत्तर था—अक्षर तत्त्व के। इस बार याज्ञवल्क्य अपने जवाब से मानो अति प्रसन्न थे। इसलिए न केवल गार्गी को कोई डाँट-वाँट इस बार नहीं मिली, अपितु वे गार्गी को समझाने के मूड में आ गए। बोले—गार्गी, इस अक्षर तत्त्व को जाने बिना यज्ञ और तप सब बेकार हैं। अगर कोई इस रहस्य को जाने बिना मर जाए तो समझो कि वह कृपण है। और ब्राह्मण वही है, जो इस रहस्य को जानकर ही इस लोक से विदा होता है।

इस बार गार्गी भी मुग्ध थी। अपने सवालों के जवाब से वह इतनी प्रभावित हुई कि महावशी जनक की राजसभा में उसने याज्ञवल्क्य को परम ब्रह्मिष्ठ मान लिया और वहाँ मौजूद बाकी प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मणों से कहा, 'सुनो, अगर भला चाहते हो तो याज्ञवल्क्य को नमस्कार करके अपने छुटकारे का रास्ता ढूँढो। इससे पार नहीं है। और आपमें से कोई भी इसे जीतकर ब्रह्मिष्ठ नहीं बन सकता।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.12)।

कहकर गार्गी चुप हो गई, मानो उसने भी याज्ञवल्क्य को अपना गुरु मान लिया। इतने तीखे सवाल पूछने के बाद गार्गी ने जिस तरह याज्ञवल्क्य की प्रशंसा कर अपनी बात खत्म की तो उसने वाचक्नवी होने का एक और गुण भी दिखा दिया कि उसमें अहंकार का नामोनिशान नहीं था। ज्ञानी को अहंकार नहीं आता, बल्कि ज्ञानवृद्ध को गुरु मान लेने में ही वह अपने बड़प्पन को व्यक्त करता है। गार्गी ने वही किया और इस तरह अपने अगाध ज्ञान की, अदम्य जिज्ञासा की, बहस करने में अपने सामर्थ्य की छाप भी छोड़ी और एक ऐसा बड़प्पन भी दिखा दिया, जिसने गार्गी को याज्ञवल्क्य और जनक से अविभाज्य कर दिया है। ऐसी थी गार्गी वाचक्नवी, देश की विशिष्टतम दार्शनिका, युग-प्रवर्तक। आइए, अब मैत्रेयी से मिल लेते हैं।

पता नहीं गार्गी और मैत्रेयी अपने जीवन में आपस में एक-दूसरे से कभी मिली होंगी या नहीं, पर दोनों समकालीन हैं। दोनों अपने समय की बहुत बड़ी दार्शनिकाएँ थीं और इसलिए लगता है कि जैसे किसी एक ही व्यक्ति के दो नाम हों गार्गी और मैत्रेयी। पर ऐसी बात है नहीं। गार्गी आजीवन अविवाहिता रही होगी, ऐसा उसके बारे में अनुमान ही कर सकते हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की पत्नी थीं। उस समय के दर्शन और चिंतन के जगत् में दोनों की दुंदुभि बज रही थी,

इसलिए अनुमान यह भी लगा सकते हैं कि इन दोनों की मुलाकात कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी अवश्य हुई होगी; पर उसकी कोई सूचना हमें प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं मिलती। अपनी आदत के शिकार पश्चिमी शोधकर्ताओं ने तुक्का फिट कर दिया है कि याज्ञवल्क्य विदेह के रहनेवाले थे, जबकि इस विशिष्ट दार्शनिक से जुड़े तमाम संदर्भ उन्हें कुरु पंचाल का साबित करते हैं। इसलिए जाहिर है कि मैत्रेयी भी अपने पति याज्ञवल्क्य के साथ कुरु-पंचाल में यानी भारत के पश्चिमोत्तर में रहा करती थीं, जबकि गार्गी उत्तरी बिहार या मिथिला की निवासी लगती हैं। इसलिए यह संभावना कम नजर आती है कि दोनों विदुषियों का आपस में अकसर मिलन-संभाषण हुआ करता होगा।

तो कौन थीं मैत्रेयी? जैसे गार्गी के जीवन के बारे में कोई सूचना हमें कहीं नहीं मिलती, वही स्थिति मैत्रेयी की भी है। पर वह याज्ञवल्क्य की पत्नी थीं, इसका पता हमें बहुत ही रोचक और मनोरम संदर्भ में मिलता है। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी। अपने समय के सबसे बड़े ब्रह्मवेत्ता की दो पत्नियाँ थीं, इससे चौंकिए मत। कारण? यह कि याज्ञवल्क्य उस दर्शन के प्रखर प्रवक्ता थे, जिस दर्शन ने इस संसार को मिथ्या बेशक माना, पर उसे नकारा नहीं और व्यावहारिक धरातल पर उसकी सत्ता को स्वीकार किया। अचानक एक दिन याज्ञवल्क्य को लगा कि बस, अब बहुत हो चुका और अब यह गृहस्थी छोड़कर वन को चले जाना चाहिए। सो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों को बुलाया और कहा कि मैं तो वन जा रहा हूँ, मेरी इस विपुल संपत्ति को तुम दोनों आपस में आधा-आधा बाँट लो। कृपया याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवेत्ता की विपुल संपत्ति पर भी मत चौंकिए। कारण ऊपर बता ही दिया है। चूँकि उनकी दो पत्नियाँ थीं, इसलिए दोनों को बराबर-बराबर संपत्ति बाँटना व्यावहारिक ही था। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः। उदयास्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि, हन्त ते अनया कात्यायन्या अंतं करवाणि।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.1)। मजेदार यह है कि याज्ञवल्क्य ने अपना फैसला मैत्रेयी को बताया, कात्यायनी को नहीं। यानी वे कात्यायनी की तुलना में मैत्रेयी को अपने अधिक करीब मानते होंगे। संदर्भ से लगता है कि कात्यायनी ने पति का प्रस्ताव बिना किसी नानुच के स्वीकार कर लिया, पर मैत्रेयी अड़ गई। समझ गई कि उसका पति अगर विपुल संपत्ति छोड़कर जा रहा है तो उसे किसी ऐसी वस्तु की तलाश है, जो मौजूदा संपत्ति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सो वह अड़ गई कि बताओ, वह क्या है, जिसकी खोज में तुम जा रहे हो? याज्ञवल्क्य अमृतत्व की खोज में थे और इसी

आधार पर मैत्रेयी ने सवाल पूछ लिया।

'सा होवाच मैत्रेयी। यन्नु मे इयं भगो: सर्वा पृथ्वी वित्तेन पूर्णा स्यात् किं तेनाहममृता स्यामिति?' यानी हे भगवन्, अगर यह सारी पृथ्वी धन-धान्य से लाद दी जाए और मैं उसकी मालकिन बन जाऊँ तो क्या मैं अमृतत्व अर्थात् अमरता पा लूँगी? (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.2)

क्या आप इस सवाल का जवाब नहीं जानते? जब आप जानते हैं तो याज्ञवल्क्य भी जानते थे और उन्होंने वह जवाब दिया, जो आपके मन में है। याज्ञवल्क्य बोले, नेति। नहीं तो। और अपनी बात को याज्ञवल्क्य ने बड़े ही मजेदार तरीके से कहा कि पैसा-धन आदि पाकर तुम्हारा जीवन भी बस वैसे ही बीतेगा जैसे दूसरे धनाढ्यों का बीत जाता है, 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.2) वित्त से अमरता की तो कोई उम्मीद नहीं है। इस पर जिज्ञासा से भरी मैत्रेयी ने साफ कहा, 'सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।' जिस पैसे से मुझे अमरता नहीं मिलेगी, क्या करूँगी मैं उस धन का? भगवन् मुझे वही ज्ञान दीजिए, जो आपके पास है। इस पर याज्ञवल्क्य मानो उछल पड़े। बोले—मैत्रेयी, कितना मीठा बोलती हो, कितना प्रिय बोलती हो। आओ मेरे पास, तुम्हें सब बताऊँगा। जरा ध्यान लगाकर सुनो तो मैं क्या बोलता हूँ—'स होवाच याज्ञवल्क्य: प्रिया बतारे न: सती प्रियं भाषसे। एहि, आस्व, व्याख्यास्यामि ते। व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति।' यह सारा संवाद बृहदारण्यकोपनिषद् (2.4.4) में है।

क्या इससे एक और सार्थक अनुमान लगाने का प्रयास करें? कात्यायनी ने याज्ञवल्क्य से कोई बहस नहीं की, पर मैत्रेयी ने की। यानी कात्यायनी श्रद्धा से, आदर से भरी हुई रही होगी; जबकि मैत्रेयी तर्क करती होगी, बहस करती होगी। मामला कुछ-कुछ मनु जैसा है कि जिनकी दो पत्नियाँ थीं—श्रद्धा और इड़ा। और दोनों क्रमश: कात्यायनी और मैत्रेयी जैसे स्वभाव की थीं। याज्ञवल्क्य का विवाह शायद कात्यायनी से ही पहले हुआ होगा। पर सेमिनारों की दुनिया के नायक याज्ञवल्क्य का मिलना जब कहीं, ऐसे ही किसी सेमिनार में मैत्रेयी से हुआ होगा तो याज्ञवल्क्य उसके बिना अपनी विचार यात्रा को अधूरा मानने लगे होंगे और उन्होंने मैत्रेयी को भी जीवनसंगिनी बना लिया होगा। इस अनुमान के लिए कोई आधार हमारे पास नहीं है, पर कितना सार्थक और ठीक लग रहा है यह अनुमान। जाहिर है कि कात्यायनी को याज्ञवल्क्य की धन-संपत्ति मिल गई होगी और मैत्रेयी अपने पति की विचार-संपदा की स्वामिनी बन बैठीं।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में जैसे याज्ञवल्क्य और गार्गी के दो संवाद दर्ज हैं, वैसे मैत्रेयी के साथ भी उसके पति का संवाद दो जगह रिकॉर्ड किया गया है। संवाद तो वही है जिसकी शुरुआत (2.4) हमने कर ही रखी है। इसी संवाद में याज्ञवल्क्य ने जिस भाषा और अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है, वह अद्‌भुत है और लगता है कि अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी के प्रति अद्‌भुत अनुराग से भरकर वे अपनी बात कह रहे थे। इसी संवाद में याज्ञवल्क्य ने वह प्रसिद्ध सिद्धांत बताया कि आखिर पुत्र, पत्नी, पति, धन, ईश्वर आदि से हमें क्यों प्यार होता है? इसलिए नहीं, क्योंकि वह पुत्र है, बल्कि इसलिए क्योंकि वह हमें फायदा पहुँचाने वाला होता है—न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। ऐसे ही पति, पत्नी आदि से भी हमें इसलिए प्रेम होता है, क्योंकि हमें उनसे अपनी कामनाएँ पूरी होती नजर आती हैं। (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.5)

इतनी साफगोई करने के बाद याज्ञवल्क्य बताना शुरू करते हैं कि आत्मज्ञान के लिए ध्यानस्थ होना, ज्ञान के प्रति सपर्पित होना, एकाग्र होना कितना जरूरी है। जरा याज्ञवल्क्य द्वारा दिए गए उदाहरण तो देखिए। नगाड़े की आवाज सुनाई देने पर हम कोई दूसरी आवाज नहीं सुन पाते, शंखध्वनि होती है तो दूसरी ध्वनियाँ हमारे कानों में नहीं आ पातीं, वीणा की तान कान में पड़ेगी तो फिर किसी दूसरी तान को सुनने का मन नहीं करता; वैसे ही आत्मज्ञान के लिए शेष सभी जिज्ञासाओं का बलिदान कर देना होता है (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.7-10)। इसी से जुड़ी एक और बात समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो कहा, उसे पूरा बताना जरूरी है।

जैसे सारे जल का आश्रय एकमात्र समुद्र है, जैसे सभी स्पर्श त्वचा के सहारे ही संभव हैं, जैसे हर तरह की गंध के लिए नाक का ही आश्रय लेना होता है, जैसे अकेली जिह्वा ही हर स्वाद बता पाती है, जैसे सिर्फ आँख ही हर आकार देख पाती है, जैसे कान ही हर शब्द सुन पाता है, जैसे सभी संकल्पों का जन्म मन में होता है, जैसे समस्त ज्ञान का वास हृदय में ही होता है, जैसे उपस्थ (जननेंद्रिय) में ही आनंद की चरम परिणति होती है, वैसे ही अरे मैत्रेयी, सारा जगत् अनंत अपार विज्ञान घन में लीन हो जाता है। मरने के बाद कोई चैतन्य नहीं रहता—'न प्रेत्य संज्ञास्तीति अरे ब्रवीमि।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.11-12)

बस, यहीं आकर मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य के कथन की दुर्बलता को पकड़ लिया। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मरने के बाद चैतन्य नहीं होता। सवाल है कि क्या मृत्यु ही अंत है? उसके बाद कुछ नहीं? मैत्रेयी बोली, 'सा होवाच मैत्रेयी अत्रैव मा

भगवान् मूमूमत् न प्रेत्य संज्ञास्तीति।' यानी हे भगवन् याज्ञवल्क्य! यहीं आप थोड़ा लड़खड़ा गए हैं। याज्ञवल्क्य तुरंत सँभल गए और बोले—'न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि।' यानी मैं लड़खड़ाया नहीं और फिर उस ब्रह्मवेत्ता ने एक और उदाहरण देना शुरू कर दिया कि जो भी द्वैतभाव है, सब आत्मज्ञान से पहले ही होता है। आत्मा को पहचान लिया तो फिर किससे क्या बोलना, किसकी क्या सुननी, किसे क्या जानना और क्या देखना और क्या मानना या न मानना?

सिर्फ कल्पना ही तो कर सकते हैं आज। एक आश्रम है। वहाँ एक कक्ष में या खुले में दो प्राणी बैठे हैं—एक पति है, एक उसकी पत्नी है। दोनों आत्मा और परमात्मा के बारे में बातें कर रहे हैं। और ये बातें समझने-समझाने के लिए उदाहरण क्या हैं? कभी नगाड़ा, कभी वीणा तो कभी शंख, कभी आँख-कान-जिह्वा-उपस्थ तो कभी ऐसे ही कुछ और। खालिस जीवन के, रोजमर्रा के, यहाँ तक कि सेक्स तक के भी उदाहरण देकर जीवन से परे के तत्त्व का मर्म समझा व समझाया जा रहा है। चूँकि वैराग्य अनुराग में से जन्म लेता है (अनुरागात् विरागः), चूँकि मोक्ष बंधन में से जन्म लेता है (बन्धनात् मोक्षः) इसलिए मरणधर्मा जीवन के अनुभव के बिना अमृतत्व कैसे पाया जा सकता है? मैत्रेयी के साथ याज्ञवल्क्य का जो संवाद हुआ, उसका मर्म यही है। उस संवाद के बाद मैत्रेयी भी पति याज्ञवल्क्य के साथ वन चली गई थीं।

गार्गी वाचक्नवी और मैत्रेयी के बारे में जान लेने के बाद ऐसा लग सकता है कि जैसे याज्ञवल्क्य के बारे में काफी कुछ जान लिया गया है। पर ऐसा नहीं है। अभी तक हमने याज्ञवल्क्य के बारे में तीन छोटी जानकारियाँ भर प्राप्त की हैं। एक कि उन्होंने जनक की ब्रह्मसभा में गार्गी से अध्यात्म-संवाद किया था। दो, वन जाने से पहले उनका अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी के साथ गंभीर अध्यात्म-संवाद हुआ था। और तीन, उनके दर्शन में संसार को मिथ्या मानने के बावजूद उसे नकारने का भाव नहीं था।

पर याज्ञवल्क्य के बारे में कई और जरूरी व दिलचस्प सूचनाएँ भी हैं, जिन्हें जानना महत्त्वपूर्ण है। प्रायः देखा गया है कि लोक-जीवन में जो जितना अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, उसके उतने ही ज्यादा नाम हमें मिलने लगते हैं। वेदव्यास और कृष्ण के अनेक नामों से हम परिचित हो चुके हैं। याज्ञवल्क्य भी अपवाद नहीं। उनके पिता का नाम यज्ञवल्क्य था, जिससे उनका नाम हो गया—याज्ञवल्क्य। यज्ञवल्क्य—यह नाम हमें पूरे भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता, इसलिए जाहिर है कि पिता के नाम की स्वीकृत परंपरा के आधार पर यह अनुमान ही किया गया

है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में उनके पिता का नाम वाजसनि कहा गया है, जिससे इनका नाम हमारे साहित्य में वाजसनेय प्रसिद्ध हो गया। पर भारत की पूरी परंपरा में याज्ञवल्क्य शायद अकेले ऐसे शलाका पुरुष हैं, जिन्हें अपने शिष्य के कारण भी एक नाम मिला है। इनके द्वारा संपादित शुल्क यजुर्वेद को इनके एक शिष्य मध्यंदिन ने खूब फैलाया तो परंपरा ने याज्ञवल्क्य को 'माध्यंदिन' कहना भी शुरू कर दिया है। है न अजीब?

जिनकी अजीब यह बात है उतना ही विलक्षण जीवन रहा था याज्ञवल्क्य का। मर्यादाहीन और उच्छृंखल महाभारत कालीन समाज में महाभारत युद्ध के बाद की सदी में पूरे भारत में याज्ञवल्क्य का डंका वैसे ही बज रहा था जैसे महाभारत के समय में वेदव्यास का। जहाँ वेदव्यास का केंद्रीय महत्त्व का योगदान भारतीय सभ्यता को यह है कि उन्होंने अपने समय तक के समस्त ज्ञान-विज्ञान को तरीके से संकलित कर और अपने शिष्य-प्रशिष्यों की जबरदस्त परंपरा का सूत्रपात कर उसे आनेवाली पीढ़ियों के लिए सँजो दिया, वहाँ याज्ञवल्क्य का योगदान इस देश को यह रहा है कि उन्होंने एक ऐसी अध्यात्म धारा का प्रवर्तन किया, जो इस संसार को मिथ्या तो मानती थी, पर जीवन और सांसारिक उन्नति को नकारती नहीं थी। इसलिए इतिहास में जहाँ याज्ञवल्क्य के अध्यात्म-संवादों को बड़ी ही श्रद्धा और आदर के साथ दर्ज किया गया है, वहीं उनके दूसरे योगदान का महत्व भी कम नहीं आँका गया।

मसलन 'यजुर्वेद' की बात करें। वेदव्यास ने अपने सामने उन चारों वेदों को अंतिम रूप में संकलित करवा दिया था, जिनके मंत्र पिछले 3,000 साल से लगातार लिखे जा रहे थे। बाकी तीनों वेद तो सरल तरीके से संकलित कर दिए गए थे, पर 'यजुर्वेद' को इस अर्थ में उलझा दिया गया कि उसमें मंत्रों को यज्ञ के लिए आवश्यक निर्देशों के साथ गड्डमड्ड कर दिया गया था। इससे यज्ञ करने, करवाने वालों को बेशक सुविधा हो गई हो, पर वेदों के आम पाठक को बहुत कठिनाई हो रही थी। याज्ञवल्क्य ने यज्ञ संबंधी निर्देशों से विहीन सिर्फ मंत्रों से युक्त यजुर्वेद का एक नया संकलन प्रचलित करवा दिया। यज्ञ संबंधी निर्देशों से रहित इस यजुर्वेद को मानो थोड़ा साफ-सुथरा कर दिया गया था, इसलिए याज्ञवल्क्य ने उसे वेदव्यास के संकलन से अलग 'शुक्ल यजुर्वेद' कहना शुरू कर दिया। इसकी तुलना में वेदव्यास के यजुर्वेद को उनके नाम पर 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा जाने लगा। 'शुक्ल यजुर्वेद' के आखिरी यानी चालीसवें अध्याय के रूप में याज्ञवल्क्य ने कुछ मंत्र ऐसे जोड़ दिए, जिन्हें बाद में एक अलग नाम ही मिल गया—'ईशोपनिषद्'।

वेदव्यास जैसे विशिष्ट महापुरुष के ग्रंथ को छेड़ना किसी आम आदमी के बस की बात नहीं थी। इससे याज्ञवल्क्य के व्यक्तित्व की प्रखरता और विराट्ता का आभास मिल जाता है। उधर याज्ञवल्क्य के एक शिष्य मध्यंदिन ने अपने गुरु के 'शुक्ल यजुर्वेद' का इस कदर धुँआधार प्रचार करना शुरू कर दिया कि उसे वेदव्यास के 'कृष्ण यजुर्वेद' की तुलना में ज्यादा मान्यता मिलने लगी (जो कि आज की तारीख तक मिली हुई है)। इसका वेदव्यास के शिष्य वैशंपायन आदि ने इतना उग्र विरोध किया कि कहते हैं कि मामले को निपटाने के लिए परीक्षित के पुत्र जनमेजय को ही दखल देना पड़ा, जिसने भारी विरोध को झेलकर भी याज्ञवल्क्य के प्रयास को सही ठहराया। परिणाम? चारों ओर याज्ञवल्क्य की तूती बोलने लगी और वैशंपायन आदि को कुरुक्षेत्र-हस्तिनापुर छोड़कर हिमालय चले जाना पड़ा।

क्या इसी से अंदाजा नहीं लग जाता कि याज्ञवल्क्य कितने प्रखर और तेजस्वी महापुरुष रहे होंगे? पर यह तो तसवीर का सिर्फ एक ही पहलू है, जो साबित कर रहा है कि याज्ञवल्क्य को अपने समय की कर्मकांड-संस्था पर कितनी मजबूत पकड़ रही होगी। और कर्मकांड वह संस्था है, जिसका हर यज्ञ, हर अनुष्ठान सांसारिक उन्नति के लिए ही होता है। अर्थात् याज्ञवल्क्य सांसारिक जीवन को परम सुखी बनाने के पक्षधर थे। पर वही याज्ञवल्क्य इस जीवन और इस संसार को अंतिम न मानकर आत्मज्ञान के किस कदर प्रामाणिक प्रवक्ता बन गए थे, इसके लिए आपको हमारे साथ महावशी जनक की राजसभा चलना होगा।

नाम तो राजसभा है, पर वहाँ सजी है ब्रह्मसभा। महावशी जनक ने वहाँ भारत भर से ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनि बुला रखे हैं, जिनके बीच जबरदस्त ब्रह्म-चर्चा प्रस्तावित है। गार्गी भी उनमें से एक हैं। हो सकता है कि मैत्रेयी भी वहाँ अपने पति के साथ आई हों। यह घटना याज्ञवल्क्य के वनवास पर चले जाने से पहले की है, जब वे अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयी के साथ कुरु-पंचाल देश में अपने आश्रम में कुलपति के रूप में रहते थे और पूरे विद्वज्जगत् पर छाए हुए थे। जनक ने चुनौती यह रखी कि उस ब्रह्मसभा में यानी उस सेमिनार में आए विद्वानों में जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी माना जाएगा उसे अधिकार होगा कि वह उपहार स्वरूप वे हजार गउएँ हाँक ले जाए जो खूब दूध तो देती ही हैं, जिनके सींग भी सोने से मढ़े हैं। 'तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वां ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति।' किसी ब्राह्मण की हिम्मत नहीं हुई। पर अधृष्य याज्ञवल्क्य को कौन रोक सकता था? अपने शिष्य सोमश्रवा को गउएँ आश्रम में ले जाने का आदेश देते हुए याज्ञवल्क्य बोले, 'एताः सौम्य उदज सोमश्रवा।' जाहिर है कि वहाँ बैठे बाकी ब्राह्मण क्रुद्ध हुए होंगे।

पर याज्ञवल्क्य ने खासी बहस सभी से की और इस बहस में राजा जनक के अलावा जिन अन्य ब्रह्मवेत्ताओं से प्रश्नोत्तर हुए, उनके नाम जान लेने में कोई हर्ज नहीं—अश्वल जारत्कारव, आर्तभाग, भुज्यु लाड्ययानि, उषस्त चाक्रायण, कहोल, काषीतकेय, गार्गी वाचक्नवी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य। इनमें से उद्दालक आरुणि का महत्त्व गार्गी वाचक्नवी जैसा ही है। इस बहस में जब सभी एक एक-कर परास्त हो गए और याज्ञवल्क्य की सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवादी के रूप में प्रतिष्ठा हो गई तो सभा के अंत में जनक ने उन्हें अभय प्रदान करते हुए कहा—'स होवाच जनको वैदेहो नमस्ते याज्ञवल्क्य, अभयं स्वा गच्छतात्।' अर्थात् हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, आपको अभय है, आप अब जा सकते हैं। यह सारा प्रसंग 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में है।

तो क्या निष्कर्ष निकला? यह कि याज्ञवल्क्य अपने समय के एक ऐसे विलक्षण विचारक थे, जिन्हें इस जीवन से परे क्या है, इस पर तो अपने गहन विचार पेश किए ही, इस जीवन को भी बराबर का महत्त्व दिया। राजा दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं। कैकयी पर वे किस हद तक मुग्ध थे, यह भी किसी से छिपा नहीं। इसलिए अचरज नहीं कि अयोध्याकांड में वाल्मीकि दशरथ को बार-बार कामांध कहकर प्रताड़ित करते हैं। याज्ञवल्क्य की भी दो पत्नियाँ थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी। पर इसके बावजूद इस महापुरुष को कभी किसी ने कामांध नहीं कहा। बल्कि संसार-विरक्त आत्मवेत्ता के शिखर उदाहरण के रूप में ही याज्ञवल्क्य की प्रतिष्ठा हमारी परंपरा में है। इतना ही नहीं, याज्ञवल्क्य की परम संपन्नता के दो प्रमाण भी हमें मिल जाते हैं। जनक की ब्रह्मसभा का नायकत्व जीतकर याज्ञवल्क्य के एक हजार गउएँ प्राप्त कीं, इससे बढ़कर उनकी धनाढ्यता का और क्या प्रमाण हो सकता है? खासकर उस जमाने में, जब गाय को धनाढ्यता का प्रतीक माना जाता था। उन्हीं याज्ञवल्क्य ने जब वन की ओर प्रव्रजन करने की सोची तो अपनी संपत्ति का बँटवारा करने का विचार उन्हें आया। यह प्रमाण भी उस आश्रमवासी के प्रभूत संपदावान होने की सूचना हमें देता है। जनक की ब्रह्मसभा में आए दूसरे ब्रह्मवेत्ताओं में से अगर कोई विजयी होता तो उसे वे हजार गउएँ मिल जातीं। पर जिस आत्मविश्वास से कि मैं ही ब्रह्मतत्त्व जानता हूँ और सभी को समझा सकता हूँ, इस आत्मविश्वास से याज्ञवल्क्य संवाद से पूर्व ही गउएँ हाँक ले जाने को सोच सके, इससे उनके संपदावान् होने पर भी उससे मोह के अभाव का और आत्मज्ञान की परिपक्वता का पता चलता है।

इसी से जुड़ा एक और पहलू भी उतना ही दिलचस्प है। इस देश में मंत्र-

रचना का प्रारंभ पूर्वांचल में हुआ (न कि पश्चिमी भारत में, जैसा कि पश्चिमी शोधकर्ता हमें आज तक बरगलाते रहे हैं)। यज्ञ का प्रवर्तन मनु ने किया, जो अध्योध्या के राजा थे। फिर उन्हीं की प्रेरणा से यजुषों की रचना पूर्वांचल में हुई। प्रथम ऋचाकार विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र की रचना की। वे कान्यकुब्ज के थे। प्रारंभिक मंत्रकार शुन:शेप अयोध्या में रहे तो 'एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति' के गायक मंत्रकार दीर्घतमा वैशाली के थे। यानी शुरू के एक हजार साल तक मंत्र पूर्वांचल में ही लिखे जाते रहे। फिर विद्या का प्रसार पश्चिम और दक्षिण में हुआ। इस बार जब अध्यात्म-संवादों की लहर चली तो इसका एक बड़ा केंद्र बना था मिथिला (वही पूर्वांचल), जिसके नरेश महावशी जनक खुद बड़े ब्रह्मवेत्ता थे और अपनी जिस राजसभा में वे अध्यात्म-संवाद चलाया करते थे, उसी में याज्ञवल्क्य, उद्दालक, कहोल सदृश तमाम विचारकों ने हिस्सा लिया था। चूँकि महाभारत संग्राम कुरुक्षेत्र में, भारत के पश्चिमी हिस्से से लड़ा गया था, इसलिए अगर नए विचारों के प्रवर्तकों की एक लंबी शृंखला हमें कुरु-पंचाल (कुरुक्षेत्र के आसपास के) इलाके में विकसित होती मिलती है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी इलाके में हुए याज्ञवल्क्य, जिन्होंने त्यागपूर्वक भोग का विचार फैलाया तो उन्हीं के समकालीन थे उद्दालक आरुणि, जिन्होंने देश को वह महावाक्य दिया, जो आज तक हमारी दार्शनिक निधि का बेसिक विचार बना हुआ है। वाक्य है—'तत्त्वमसि', यानी तुम (त्वम्) वही (तत्) हो (असि)। तुम स्वयं ही ब्रह्म हो, परमात्मा हो, ईश्वर हो।

उद्दालक ने यह विचार अपने पुत्र श्वेतकेतु के दिमाग में आरोपित किया था। कहते हैं, श्वेतकेतु को विद्या-प्राप्ति के बाद काफी घमंड हो गया था (बृहदारण्यकोपनिषद् 6.2)। उद्दालक को यह देखकर चिंता हुई कि एक तो यह बालक बहुत देर से पढ़ना शुरू हुआ था और पढ़-लिख गया तो बजाय विनम्र होने के उसे अहंकार हो गया। 'छांदोग्योपनिषद्' (6.1.2) में इसके लिए अनूचानमानी, महामना और स्तब्ध—इन तीन विशेषणों का प्रयोग अहंकारी श्वेतकेतु के लिए किया गया है। सो अपने पुत्र के घमंड को तोड़ने के लिए उद्दालक ने उससे आध्यात्मिक विषयों पर बातचीत करने का फैसला किया। उसने श्वेतकेतु से कई गहरे सवाल किए, जिनका जवाब वह नहीं दे सका। जब श्वेतकेतु को अपने ज्ञान की सीमाओं का अहसास हो गया तो उद्दालक को लगा कि अब उसे ब्रह्मज्ञान देना चाहिए और ब्रह्म, आत्मा और उनकी अकात्मता का पूरा चित्र समझाकर उद्दालक ने उसे सत्य का स्वरूप कई तरह से समझाकर हर बार अंत में एक ही वाक्य में समझा दिया—

'तत्त्वमसि, श्वेतकेतो!' हे श्वेतकेतु! तुम वही हो, तुम स्वयं ही ब्रह्म हो, जिस पर तुम इस समय मुझसे बात कर रहे हो (छांदोग्योपनिषद् 6.9.4)।

उद्दालक आरुणि का पूरा कुनबा ही दार्शनिकों का था। वह स्वयं दार्शनिक, जिसने तत्त्वमसि नामक महावाक्य इस देश को दिया। इसका पिता अरुण औपवेशि गौतम भी तब के विचारकों में से एक। उद्दालक के दो पुत्र—श्वेतकेतु और नचिकेता तो विद्वत्ता और ख्याति में अपने पिता से कई कदम आगे चले गए थे। उनकी बेटी सुजाता का विवाह कहोल से हुआ, वही कहोल जिसने जनक की ब्रह्मसभा में याज्ञवल्क्य से भारी बहस की थी। उद्दालक का दौहित्र था अष्टावक्र यानी सुजाता और कहोल का पुत्र, जिसने भी अपनी प्रतिभा का सिक्का उसी जनक की ब्रह्मसभा में जमाया था।

उद्दालक ने 'तत्त्वमसि' क्या कहा, यह महावाक्य आने वाली सदियों और सहस्राब्दियों में भारत की हर विचारधारा का महावाक्य बन गया। बौद्ध लोग उसी तत्त्व में, अपने किसी विराट् रूप में निर्वाण की चाह रखने लगे तो जैनों का णमोकार मंत्र उसी तत्त्व की चाह पैदा करने लगा। वेदांत ने उसे अद्वैत नाम दे दिया तो भक्ति आंदोलन ने उसी से प्रेरणा पाकर ईश्वर के साथ सायुज्य, सारुप्य जैसे कई तरह के मिलन की कल्पना की। सांसारिक धरातल पर दो प्रेमियों ने जब एक-दूसरे से मिलने और एक-दूसरे में समा जाने की बेताबी दिखाई तो सूफियों ने उसे इश्क कह दिया और सांसारिक प्रेम को दिव्य आकार दे दिया। सबके मूल में तत्त्व वही है—तत्त्वमसि, मुझमें और उसमें कोई फर्क नहीं, (दर्शन की भाषा में) आत्मा और परमात्मा में कोई फर्क नहीं, (प्रेम की भाषा में) तुझमें और मुझमें कोई फर्क नहीं, हम दोनों एक हैं। मीरा का कृष्ण में समा जाना इसी तत्त्वमसि का भक्ति रूपांतर था। उद्दालक भी शायद नहीं जानते होंगे कि उनका यह महावाक्य इतना असर इस देश की विचारधाराओं पर डालेगा।

गार्गी ने और उद्दालक-श्वेतकेतु (पिता-पुत्र) की तथा याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी (पति-पत्नी) की दार्शनिक जोड़ियों ने जहाँ महाभारत परवर्ती वैचारिक आंदोलन को निर्णायक दिशा प्रदान की, वहाँ श्वेतकेतु-सुवर्चला (पति-पत्नी) की जोड़ी ने वैचारिक आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक मर्यादाओं को फिर से स्थापित करवाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहाँ पर एक सवाल पाठकों के मन में अब तक उठ चुका होगा।

सवाल यह है कि ऐसा क्या हुआ कि 'महाभारत' के बाद से मंत्रों की रचना बंद हो गई और अचानक अध्यात्मवाद ने सारे समाज को अपने आगोश में ले

लिया? जरा नोट करें। महाभारत से पहले के नाम हैं विशिष्ट मंत्रकारों के—दीर्घतमा, कवष ऐलूष, सूर्या सावित्री और ऐसे ही अनेक ऋषि। यहाँ तक कि जो नई परंपरा वाल्मीकि ने अपने 'रामायण' प्रबंध काव्य के रूप में डाली, उसका अनुकरण भी कहीं हजार साल बाद जाकर वेदव्यास ने 'महाभारत' के रूप में किया और इन हजार वर्षों के दौर में, बीते 2,000 वर्षों की तरह मंत्र-रचना अनवरत होती रही। पर महाभारत के बाद के नाम हैं गार्गी, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, श्वेतकेतु, नचिकेता, अष्टावक्र या उद्दालक आरुणि। अचानक यह परिवर्तन कैसे हो गया? 3,000 सालों की अनवरत मंत्र-रचना का स्थान अध्यात्म संवादों, वैचारिक सेमिनारों और ब्रह्म-चिंतन ने कैसे ले लिया, जिसका सूत्रपात हमें कृष्ण की 'गीता' में मिल जाता है?

एक बहस अकसर भारत के विद्वानों में चलती है। बहस यह है कि वेदों में दो तरह के विचार मिलते हैं—यज्ञ संबंधी और दर्शन संबंधी। आगे चलकर यज्ञ संबंधी विचारों का विन्यास शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण जैसे ग्रंथों में हुआ तो वेदों के अध्यात्म संबंधी सूत्रों को उपनिषदों ने थाम लिया। यह आकलन अच्छा लगता है। पर इसमें से फिर वही हमारा प्रश्न झाँक रहा है कि क्यों महाभारत परवर्ती बुद्धिजीवियों ने मंत्र-रचना का दामन छोड़ दर्शन परंपरा पर ज्यादा जोर दे दिया? इस हद तक कि जिन ब्राह्मण ग्रंथों को यज्ञों का प्रतिपादक माना जाता है, उनमें भी उपनिषदों और दार्शनिक विचारों को जोड़कर महाभारत परवर्ती अध्यात्म-धारा में डुबो दिया गया है?

अगर हम वास्तव में देवों का गुणगान करनेवाली मंत्र-रचना के भारत का ब्रह्म और आत्मा पर विचार करनेवाले भारत में हो गए रूपांतरण का कारण जानना चाहते हैं तो हमें 'महाभारत' पर इस नए सिरे से नजर डालनी ही होगी। जहाँ महाभारत कालीन समाज धर्म-विमुख और मर्यादाहीन हो चुका था, वहीं महाभारत युद्ध नामक उस समय के भयानकतम युद्ध में विपुल विनाश हो गया था। महाभारत युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना मारी गई थी और देश की समस्त शौर्य संपदा का उसमें निर्मम विनाश हो गया था। आपको लगे हाथ विनाश की इस मात्रा से एक बार फिर परिचित करवा दिया जाए। एक अक्षौहिणी सेना में 21,870 रथ, 21,870 हाथी, 65,610 घोड़े, 1,09,350 पैदल होते हैं। इस देश के महाभारत नामक भयानकतम गृहयुद्ध में इस तरह की अठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट हुई। यानी करीब 20 लाख सैनिक इस युद्ध में मारे गए थे और 10 लाख के लगभग घोड़े, 3 लाख से ऊपर हाथी और इतने ही रथों का इस युद्ध में विनाश हुआ था। जिस युद्ध को

पश्चिमी शोधकर्ता एक गली की लड़ाई कहकर मजाक में या दो कबीलों का युद्ध कहकर अपने अज्ञान की आँधी में उड़ा देना चाहते रहे हैं, इस युद्ध की वास्तविकता यह थी। विनाश की मात्रा यह थी।

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक यह कि इतना विराट् युद्ध सिर्फ वही समाज लड़ सकता है, जो आर्थिक और वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ हो और इस वजह से जो अहंकार, सत्ता-लिप्सा, मर्यादाहीनता और मूल्य-विमुखता का भयानक शिकार हो चुका हो। हम इस पर पूरे आलेख में विस्तार से बार-बार बता आए हैं। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि इस कदर भयानक रक्तपात के बाद, मानव जीवन के इतने निर्मम संहार के बाद जीवन के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आना लाजमी है और वह बदलाव हमें महाभारत परवर्ती अध्यात्म-संवादों की बहुलता से नजर आता है। अब भला देवताओं की काल्पनिक स्मृतियों में मंत्र रचकर क्या मिलने वाला था? बहुत हो चुका था यह सब। देश के विचारकों को अब नए सिरे से सोचने की विवशता अनुभव हुई। जीवन और जीवन के परे के जगत् के बारे में खूब बहस करने को मन किया और इस सबका परिणाम था वे गोष्ठियाँ और संवाद, जिनमें अध्यात्म पर बहस हुआ करती थी।

महाभारत को लेकर, यानी महाभारत कालीन समाज और महाभारत युद्ध को लेकर, अब तक जितना भी विचार व चिंतन हुआ हो, परवर्ती समाज के यानी उत्तर-महाभारत के भारतीय समाज और भारतीय चिंतन पर पड़े उसके असर का विवेचन हम नए जमाने के होने का दावा करनेवाले भारतीयों ने आज तक नहीं किया है। बेशक यह हमारी तथाकथित आधुनिकता पर एक विपरीत टिप्पणी है। पर अब हम जान लें कि जहाँ महाभारत कालीन धर्म-विमुखता और मर्यादाहीनता की प्रतिक्रिया में सूर्या-सावित्री द्वारा शुरू की गई नई विवाह-प्रथा की स्वीकार्यता बढ़ती चली गई, वहीं महाभारत युद्ध के महाविनाश की प्रतिक्रिया में उस अध्यात्म-परंपरा को एक आंदोलन का रूप मिलता चला गया, जिस परंपरा का सूत्रपात कृष्ण ने अर्जुन के साथ अपने संवाद में किया था, जो 'श्रीमद्भगवद्गीता' में सुरक्षित कर दिया गया है और उस अध्यात्म आंदोलन को शब्दकाया मिली महाभारत के बाद लिखे ब्राह्मण ग्रंथों में और विशेष रूप से उपनिषदों में। यानी अब वेदों और प्रबंधकाव्यों की रचना के दो कालखंडों के बाद तीसरे कालखंड का प्रारंभ हुआ, जिससे ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों की रचना हुई। आगे फिर लिखे गए 18 महापुराण।

□□□

संवाद

मेरी यह पुस्तक शोध-प्रबंध नहीं है। यह एक बड़ा निबंध है या फिर एक बड़ा आलेख है। इस पुस्तक में जिन स्थापनाओं को आधार बनाकर लिखा गया है, उसमें मुख्य स्थापना यह है कि महाभारत काल में आर्थिक वैभव व टैक्नोलॉजिकल प्रगति अपने शिखर पर थी। अन्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं : महाभारत की रचना और महाभारत प्रबंधकाव्य दोनों समकालीन हैं और आज से पाँच हजार साल प्राचीन हैं। रामायण की रचना आज से छह हजार साल पुरानी है। वैदिक मंत्रों की रचना आज से आठ हजार साल पहले होना शुरू हुई और महाभारत काल तक चलती रही। एक लाख श्लोकोंवाला महाभारत प्रबंधकाव्य ऋषि वेदव्यास की रचना है जिसमें उन्हें वैशंपायन, संजय और शुकदेव से भी सहायता मिलती रही। ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों की रचना महाभारत के बाद हुई थी, न कि पहले, जैसा कि यूरोपियनों ने हमें भ्रांतिवश बता दिया और हम माने चले आ रहे हैं। वाल्मीकि की तरह वेदव्यास भी शूद्रवर्ण के थे, यानी दलित थे और ऋषि अथर्वा की भी वही स्थिति है। चूँकि मेरी यह पुस्तक शोध-प्रबंध नहीं है, इसलिए इसमें इन स्थापनाओं की प्रस्तुति उबाऊ शोधशैली में नहीं की गई है, पुस्तक में स्थान-स्थान पर प्रसंग के अनुसार तर्कपूर्वक की गई है। इसके लिए पूरी पुस्तक तो पढ़नी ही होगी, मेरी पिछली पुस्तक 'भारत गाथा' भी इन स्थापनाओं को हृदयंगम करने में सहायता कर सकती है।

इस पुस्तक के लिए गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा सात जिल्दों में प्रकाशित 'महाभारत' को आधार बनाया गया है।

—सूर्यकान्त बाली

भारतीय संस्कृति के अध्येता और संस्कृत भाषा के विद्वान् श्री सूर्यकान्त बाली ने भारत के प्रसिद्ध हिंदी दैनिक अखबार *'नवभारत टाइम्स'* का सहायक संपादक (1987) बनने से पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। नवभारत का स्थानीय संपादक (1994-97) रहने के बाद वे जी न्यूज के कार्यकारी संपादक रहे। विपुल राजनीतिक लेखन के अलावा भारतीय संस्कृति पर इनका लेखन खासतौर से सराहा गया। काफी समय तक भारत के मील पत्थर *(रविवार्ता, नवभारत टाइम्स)* पाठकों का सर्वाधिक पसंदीदा कॉलम रहा, जो पर्याप्त परिवर्धनों और परिवर्तनों के साथ 'भारतगाथा' नामक पुस्तक के रूप में पाठकों तक पहुँचा।9 नवंबर 1943 को मुलतान *(अब पाकिस्तान)* में जन्मे श्री बाली को हमेशा इस बात पर गर्व की अनुभूति होती है कि उनके संस्कारों का निर्माण करने में उनके अपने संस्कारशील परिवार के साथ-साथ दिल्ली विश्वविद्यालय के हंसराज कॉलेज और उसके प्राचार्य प्रोफेसर शांतिनारायण का निर्णायक योगदान रहा। इसी हंसराज कॉलेज से उन्होंने बी.ए.आनर्स *(अंग्रेजी)* और एम.ए. *(संस्कृत)* और फिर दिल्ली विश्वविद्यालय से ही संस्कृत भाषाविज्ञान में पी-एच.डी. के बाद अध्ययन-अध्यापन और लेखन से खुद को जोड़ लिया। राजनीतिक लेखन पर केंद्रित दो पुस्तकों—'भारत की राजनीति के महाप्रश्न' तथा 'भारत के व्यक्तित्व की पहचान' के अलावा श्री बाली की भारतीय पुराविद्या पर तीन पुस्तकें—'भट्टोजि दीक्षित: हिज कंट्रीब्यूशन टु संस्कृत ग्रामर', 'क्रिटिकल ऐंड हिस्टॉरिकल स्टडीज इन द अथर्ववेद' और महाभारत केंद्रित पुस्तक 'महाभारत: पुन:पाठ' प्रकाशित हैं। श्री बाली ने वैदिक कथारूपों को हिंदी में पहली बार दो उपन्यासों के रूप में प्रस्तुत किया—'तुम कब आओगे श्यावा' तथा 'दीर्घतमा'। अपनी इस नवीनतम पुस्तक 'महाभारत का धर्मसंकट' के माध्यम से श्री बाली का यह मंतव्य बना है कि यदि भारत को अपने व्यक्तित्व की ऊँचाई को समझना है तो उसे 'धर्म' के स्वरूप और तत्त्व पर स्वयं को केंद्रित करना ही होगा और धर्म का मतलब रिलीजन या मजहब नहीं, धर्म का मतलब है धर्म।

ISBN 978-93-5048-581-1

₹ 300/-

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com